

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative



CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

चतुर्थोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली
माधवीकुञ्ज
५०, शिवकुटी, पो० केवलीलाइन्स
इलाहाबाद—४

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

प्रकाशक :

प्रोफेसर विश्वनाथ बोस, बी० इ०
बिहार कॉलेज ऑफ इंजिनियरिंग
(ब्लौक १, फ्लैट २
लॉ कॉलेज कम्पाउन्ड)
पटना—६
बिहार

मुद्रक :

नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य
आचार्य मुद्रणालय
कर्णघण्टा, वाराणसी—१

गीतामण्डली कर्तृक सर्वस्वत्व सुरक्षित

प्राप्तिस्थान

१—अध्यक्ष, गीतामण्डली, ५० शिवकुटी, इलाहाबाद—४
२—श्री शिवशंकर स्वामी २३, पुराना किला, लखनऊ
३—श्रीमती छबि बोस ३ ए/११ आजाद नगर, कानपुर
४—श्रीमती रमा मित्र ११२/२४८ स्वरूपनगर, कानपुर
५—श्रीमती उमादानी द्वारा श्री डी. आर दानी, लक्ष्मी निवास, सिविल लाइन्स, मुरादाबाद
६—प्रो० निशीथ कुमार तरफदार बी. ई. बिहार इंजिनियरिंग कालेज, पटना—५ (बिहार)
७—डा० मदन मोहन, रमा आई हौस्पिटल, १० कान्वैंट रोड, देहरादून
८—श्री प्राणलाल भाइशंकर आचार्य, कर्णघंटा, गुर्जर छात्र सहायक समिति, वाराणसी
९—श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, एडवोकेट, प्रभु टाउन, रायबरेली
१०—श्रीमती माधवी कर द्वारा सिविल सर्जन, मिर्जापुर
११—श्री एस. सी. मित्र, १४ वि, तिलक वृज् , आफिसर्स रेलवे कालोनी, न्यू दिल्ही—१
१२—श्री रामकुमार रस्तौगी धामपुर (बिजनौर)

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

विज्ञप्ति

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्दसरस्वतीप्रणीत 'गीतामृतमञ्जूषा' का यह चतुर्थ अध्याय प्रकाशित हो रहा है। यह बहुत ही आनन्द का संवाद है कि यद्यपि इस ग्रन्थ का प्रकाशन कार्य मात्र चार महीने पूर्व से आरम्भ हुआ है, तथापि भारत के विभिन्न स्थानों से इसके सम्बध में सैकड़ों विद्वान् व्यक्तियों ने प्रशंसा-पत्र गीतामण्डली को भेजा है। इस सिद्धान्त पर सभी सहमत हैं कि गीता के सम्बन्ध में इस प्रकार विस्तृत, सरल अथच पाण्डित्यपूर्ण एवं सम्पूर्ण ग्रन्थ आज तक प्रकाशित नहीं हुआ है। दुर्भाग्यवश हिन्दू जाति में आध्यात्मिक भावना इतनी निम्नस्तर में पहुँच गयी है कि जो अमूल्य गीताग्रन्थ का आदर पाश्चात्य जगत् तथा अन्यान्य धर्मावलम्बी दिन व दिन अधिक से अधिक देने के लिए प्रस्तुत हो रहे हैं, उस गीता ग्रन्थ की शिक्षा हिन्दू जाति केवल भूल ही नहीं जा रही है परन्तु उस सम्बन्ध में उदासीन होना ही बुद्धि की चतुरता समझती है। स्वामीजी महाराज ने देश की इस अवस्था को पूर्णतया जानते हुए भी दीर्घ काल तक अक्लान्त परिश्रम कर इस ग्रन्थ को तैयार किया है इस आशा से कि एक न एक दिन शिक्षित भारतवासी पुनः गीता के आधार पर ही जीवन का परिचालन करने के लिए वाध्य होंगे एवं यह ग्रन्थ (गीतामृतमञ्जूषा) उस समय धर्म का पुनरुत्थान करने के लिए बहुत ही सहायक होगा। हमलोग भी उस शुभ अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

चतुर्थ अध्याय का भाषान्तर गीता मण्डली के एक सदस्य ने किया है, जो अपना नाम प्रकाश करना नहीं चाहते हैं। कुमारी चयनिका दास (पटना) ने बहुत परिश्रम कर प्रेस के लिए पाण्डुलिपि तैयार की है इसलिए गीतामण्डली उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

श्रीप्राणलाल भाईशंकर आचार्य 'गीतामृतमञ्जूषा' का प्रति अध्याय जिस प्रकार परिश्रम के साथ शीघ्र से शीघ्र मुद्रण कार्य कर रहे हैं यह कार्य बहुत ही प्रशंसनीय है। उसके लिए गीतामण्डली उनके कृतज्ञतापाश में आवद्ध है। श्री प्राणलाल आचार्य एवं श्री मधुकर नेने ने अति सावधानी के साथ प्रूफ संशोधन कार्य किया है एवं श्री केदारनाथ खनाल का भी हस्तलिखित प्रतिलिपि पढ़ने में सहयोग प्राप्त हुआ है, अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं। अति सावधानता से प्रूफ संशोधन कार्य सम्पादित हुआ है तथापि भूल, त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक है अतः पाठकगण को यदि

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

कोई भूल त्रुटियाँ दिखाई दें तब उन्हें कृपया गीतामण्डली को सूचित करने से द्वितीय संस्करण में सुधार कर दिया जायगा।

जिन महानुभाव दानवीर की निःस्वार्थ सहायता से इस अध्याय का मुद्रणादि कार्य सम्पन्न हुआ है एवं जिनके सम्बन्ध में द्वितीय तथा तृतीय अध्याय की विज्ञप्ति में कहा गया है उन जनक-सदृश गृहस्थ महात्मा के प्रति भी गीतामण्डली पुनः आंतरिक कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

इति

अनन्त चतुर्दशी—२०२६
ता० २४-९-६९

श्रीविश्वनाथ बोस, बी० ई०
सहायक-सचिव, गीतामण्डली
इलाहाबाद

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भगवद्गीता

चतुर्थोऽध्यायः

"ज्ञानकर्मसंन्यासयोगः"

द्वितीय और तृतीय अध्यायों में संन्यास सहित ज्ञान-निष्ठा रूप जो योग कहा गया है उसका उपाय है कर्मयोग अर्थात् कर्मयोग के द्वारा ही ज्ञान-निष्ठारूप योग को प्राप्त कियो जा सकता है। प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप वेदोक्त धर्मों की परिसमाप्ति ज्ञान-निष्ठा में होती है और इसी ज्ञानयोग को ही श्री भगवान् ने गीता में आदि से अन्त तक विस्तारपूर्वक प्रकाश करने की चेष्टा की है। इस योग के उपदेशों के द्वारा समस्त वेदार्थों की परिसमाप्ति हो गई है अर्थात् गीता में भगवान् ने जो उपदेश दिया है उसमें चारों वेदों के तात्पर्य का सार संग्रहीत (निर्णीत) किया गया है। इस कारण उस विषय पर और कुछ कहने को नहीं है ऐसा सोचकर भगवान् ने गीता में जो कुछ व्यक्त किया हैं उन उपदेशों में कुछ भी कृत्रिमता (छल-कपटता) नहीं है यह प्रमाणित करने के लिए (आनन्दगिरि) उसी योग के आचार्यों की परम्परा का उल्लेख कर उसकी प्रशंसा कर रहें हैं। [भगवान् साध्य ज्ञानयोग और साधन रूप कर्मयोग का फल एक ही होता है यह कहेंगे। ज्ञानयोग साध्य (उपेय) और कर्मयोग साधन (उपाय)—इन दोनों योगों को द्वितीय और तृतीय अध्यायों में पृथक् पृथक् निर्दिष्ट करने पर भी "एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति" अर्थात् सांख्य (ज्ञानयोग) और योग (कर्मयोग) को जो व्यक्ति एक ही रूप से देखता है वही यथार्थ रूप से जानता है अर्थात् उन दोनों तत्त्वों का

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

यथार्थ ज्ञाता है। यह बाद में (गीता ५।५) वर्णन किया जायगा अर्थात् साध्य ज्ञानयोग और साधन रूप कर्मयोग का फल एक ही होता है ऐसा कहा जायगा। इस कारण इस अध्याय में साधनभूत कर्मयोग और साध्यभूत ज्ञानयोग की अभिन्नता उपचरित कर अनेकानेक गुणों का विधान करने के लिए भगवान् ने वंशपरम्परा को निर्देश कर उसी साधनभूत कर्मयोग और साध्यभूत ज्ञानयोग की प्रशंसा की है। (मधुसूदन)]

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

अन्वयः—अहम् इमम् अव्ययं योगं विवस्वते प्रोक्तवान् विवस्वान् मनवे प्राह, मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत्।

अनुवाद—श्रीभगवान् ने कहा, मैंने इस अविनाशी योग के सम्बन्ध में पहले सूर्य को उपदेश दिया था, सूर्य ने मनु को और मनु ने (स्वीय पुत्र) इक्ष्वाकु को उपदेश दिया था।

भाष्यदीपिका—अहं—मैं अर्थात् सर्व जगत्परिपालक वासुदेव [(यद्यपि मैं ही सारे जगत् का परिपालक हूँ तथापि सृष्टि के आरम्भ में क्षत्रिय राजाओं को जगत् का प्रतिपालन करने के लिए अपने प्रतिनिधिरूप में निर्दिष्टकर उनमें बलाधान कर (पालन करने की शक्ति देकर) (मधुसूदन)]

इमम्—पहले के दोनों अध्यायों में उक्त।

अव्ययं—अविनाशी मोक्षरूप फल प्रदान करता है इस कारण यह अव्यय है क्योंकि इस योग से जो सम्यग्दर्शननिष्ठा (ज्ञाननिष्ठा) रूप मोक्ष नामक फललाभ होता है उसका कभी व्यय (नाश) नहीं होता है। [इस योग का मूल है अव्यय (नित्य) सनातन वेद और इसका अव्यभिचारी (अवश्यम्भावी) फल है अविनाशी मोक्ष। इस कारण यह अव्यय है (मधुसूदन)]। इस कारण श्रुति में कहा गया है "न स पुनरावर्तते" अर्थात् मोक्ष प्राप्त होकर वह फिर संसार में लौटकर नहीं आता है।

योगम्—कर्मनिष्ठारूप उपाय के द्वारा प्राप्त होता है जो ज्ञाननिष्ठारूप योग वह (मधुसूदन)।

विवस्वते प्रोक्तवान्—सूर्य को कहा था अर्थात् सृष्टि के पूर्व [सभी

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

क्षत्रीय वंशों के बीजभूत अर्थात् मूलकारण (मधुसूदन)] सूर्य को कहा था। जगत् प्रतिपालक क्षत्रिय राजाओं में बलाधान करने के लिए (शक्ति प्रदान करने के लिए) इस योग को मैंने सूर्य से कहा था जिससे इस योग की शक्ति से युक्त होकर वे ब्राह्मण जाति की रक्षा करने में समर्थ हो सकें कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय परम्परा से परिरक्षित होने पर उन लोगों के द्वारा सारा संसार अनायास ही रक्षित हो सकता है। ["प्रोक्तवान्" शब्द का अर्थ है "प्रकर्षेण उक्तवान्" अर्थात् जिससे इस विषय पर सकल प्रकार के संशय का उच्छेद हो जाय इसी प्रकार से मैंने कहा था। (मधुसूदन)] विवस्वान् मनवे प्राह— मेरे शिष्य वही सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु को (श्राद्ध देव को) इस योग के संबंध में उपदेश दिया था कारण सत् पुरुष का स्वभाव ही ऐसा होता है कि आप संसारसागर से उत्तीर्ण होकर (मुक्त होकर) औरों का भी तारण करते हैं अर्थात् उद्धार करते हैं। मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत्—उसी मनु ने अपने पुत्र और पृथ्वी के आदि राजा इक्ष्वाकु को (जो सूर्यवंश के प्रवर्तक थे उनको) इस योग का उपदेश दिया था [यद्यपि प्रत्येक मन्वन्तर के मनु ही अर्थात् स्वायंभुव प्रभृति मनु भी इस योग के संबंध में एक ही उपदेश श्रीभगवान् से लाभ करते आ रहे हैं फिर भी वैवस्वत मन्वन्तर चलने के कारण (उस मन्वन्तर के प्रति ध्यान रखकर) सूर्य से आरम्भकर वंश (सम्प्रदाय) गणना की गयी है (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—

आविर्भावतिरोभावाविष्कर्तुं स्वयं हरिः।
तत्त्वं पदविवेकार्थं कर्मयोगं प्रशंसति॥

अर्थात् अपना आविर्भाव व तिरोभाव का आविष्कार करने के लिए स्वयं हरि "तत्त्वमसि" महावाक्य का "तत्" और "त्वम्" इन दो पदों को सम्यक् (पूर्ण) बोध करने के लिए कर्मयोग की प्रशंसा कर रहे हैं। [कहने का अभिप्राय यह है कि "तत्" पदार्थ हरि का (परब्रह्म का) अपना स्वरूप है। अतः "तत्" स्वरूप में वह आविर्भूत (प्रकट) रहते हैं। और त्वम् पदार्थ है उपाधियुक्त हरि (ब्रह्म) अर्थात् जीव; उसी रूप में वे तिरोभूत (अप्रकट) रहते हैं। "त्वम्" पदार्थ कर्मयोग के द्वारा शुद्ध होकर ज्ञानद्वारा उपाधिमुक्त होने पर "तत्" स्वरूप होता है अर्थात् जीव व परमात्मा (हरि) एक हो जाते हैं। इसी को ही मोक्ष कहा जाता है। कर्मयोग ज्ञानयोग की प्राप्ति का उपाय है। इस कारण कर्मयोग मोक्ष का भी साधक होता है। इसलिए श्रीभगवान् ने

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

पूर्ववर्त्ती दो अध्यायों में मोक्ष के साधनरूप से कर्मयोगरूप उपाय तथा ज्ञानयोग रूप उपाय का वर्णन किया है। उसी को ब्रह्मार्पणादि (गीता ४।२४) गुणों के विधान द्वारा और "तत्" व "त्वम्" पदार्थों के विवेक (विवेचन) द्वारा विस्तार रूप से बताने की इच्छा से यह योग जो परम्परा क्रम से उनको प्राप्त हुआ है यह कहकर इस योग की प्रशंसा कर श्रीभगवान् ने कहा] **इमम् अव्यय-योगम् अहं विवस्वते प्रोक्तवान्**—यह कर्मयोग अव्यय (अविनाशी) मोक्ष रूप फल प्रदान करता है इस कारण वह अव्यय (अविनाशी) है। इस अव्यय योग को सर्वप्रथम मैंने आदित्य को (सूर्य को) कहा था। **विवस्वान् मनवे प्राह**—विवस्वान् ने (सूर्य ने) स्वपुत्र श्राद्धदेव नामक मनु को कहा था। **मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत्**—वही मनु ने स्वपुत्र इक्ष्वाकु को कहा था।

(२) **शंकरानन्द**—द्वितीय अध्याय और तृतीय अध्याय में कर्मयोग जिसका एकमात्र उपाय है वह ज्ञानयोग ही एकमात्र मोक्ष का साधन है, यह "एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ" (गीता २।७२) "संस्तभ्यात्मानमात्मना" (गीता ३।४३) इत्यादि वचनों के द्वारा प्रतिपादन कर "एषः पन्था एतत् कर्म" "एतद् ब्रह्म" इत्यादि श्रुति वचनों के अनुसार यद्यपि वही कर्मयोग का ज्ञानयोग के साधन रूप से प्रमाणकत्व सिद्ध हुआ है, तथापि सिद्ध पुरुषगण भी परम्परा क्रम से यही स्वीकार करते आ रहे हैं अतः इससे भी कर्मयोग का प्रामाण्य है, यह सूचित करने के लिए श्रीभगवान् कह रहे हैं—**अहम्**—मैं (परमात्मा) सृष्टि के आदि में **अव्ययम् इमं योगम्**—इस अव्यय योग को यह योग अव्यय (व्यय या नाशरहित) है कारण अव्यय (अविनाशी) वेद इसका प्रमाण है। अथवा अव्यय फल का (मोक्ष का) हेतु होने के कारण इस योग को अव्यय कहा जाता है कारण "न स पुनरावर्तते" (वह पुनः लौट नहीं आता) श्रुति का ऐसा ही कहने का अभिप्राय है कि सर्वत्र ब्रह्मदर्शन रूप योग द्वारा जिस मोक्ष की प्राप्ति होती है उसका व्यय (नाश) नहीं होता है इस कारण ज्ञान अव्यय फल का (अर्थात् अक्षय्य व अविनाशी मोक्ष रूप फल लाभ करने का) हेतु (कारण) होता है। यह प्रश्न हो सकता है कि जो साध्य है (साधन के द्वारा प्राप्त होने वाला है) वह अनित्य होता है। अत एव मोक्ष (मुक्ति) ज्ञानसाध्य होने के कारण नित्य नहीं हो सकता है। इसके उत्तर में यह कहा जायगा कि इस प्रकार के अनुमान का यहाँ अवकाश नहीं है कारण यह अनुमान "न स पुनरावर्तते" इस श्रुति वाक्य से बाधित हुआ है। अत एव "इमं" अर्थात् इन दो अध्यायों में (३-४ अध्यायों में) प्रतिपादित अव्यय (अविनाशी) नित्य फल रूप मोक्ष

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

ही जिसका एकमात्र प्रयोजन (लक्ष्यवस्तु) है इस योग का अर्थात् ज्ञान योग का विवस्वते प्रोक्तवान्—सूर्य को मैंने उपदेश दिया था। विवस्वान् मनवे प्राह—"स्वयं तीर्णोऽपरान् तारयति" अर्थात् स्वयं संसार से उत्तीर्ण होकर दूसरों का त्राण करते हैं, इस न्याय के अनुसार उसी सूर्य ने इस योग को अपने पुत्र मनु को कहा था। मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत्—मनु ने स्वीय पुत्र इक्ष्वाकु को कहा था (उपदेश दिया था)।

(३) नारायणो टीका—श्लोक ३ की टीका देखिए।

[पूर्वश्लाक में उल्लिखित योग का किस प्रकार विस्तार हुआ था और किस प्रकार यह नष्ट हो गया था वही कह रहे हैं—]

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

अन्वयः—एवं परम्पराप्राप्तम् इमं (योगं) राजर्षयः विदुः। हे परन्तप ! सः योगः महता कालेन इह नष्टः।

अनुवाद—इस प्रकार परम्परा क्रम से प्राप्त इस योग से (नेमि, जनक प्रभृति) राजर्षिगण अवगत हुए थे। इस लोक में सुदीर्घ काल के प्रभाव से यह योग नष्ट हो गया।

भाष्यदीपिका—एवं परम्पराप्राप्तम्—इस तरह सूर्य से आरम्भ (शुरू) होकर क्षत्रिय परम्परा प्राप्त (पिता-पुत्र या गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त) इमं योगं—यह ज्ञानयोग राजर्षयः—अर्वाचीन नेमि आदि राजर्षिगण अर्थात् राजा होकर भी जो ऋषि थें [जो सूक्ष्म विषय दर्शन करने में समर्थ थें (आनन्दगिरि)] वे राजर्षिगण विदुः—जान गए थे। [इस योग का मूल है अनादि वेद, यह अनन्त फलदायक अर्थात् अव्यय मोक्षरूप फल देने वाला है एवं अनादि काल से गुरु-शिष्य परम्परा क्रम से प्राप्त होने के कारण इस योग का प्रभाव अति महान् है। अत एव इसके विषय में कृत्रिमता की आशंका करना उचित नहीं है यही यहाँ कहने का अभिप्राय है। जिससे कि इस योग के प्रति लोगों की अत्यधिक श्रद्धा वृद्धि हो इसलिए इस योग की इस प्रकार प्रशंसा की गई है। (मधुसूदन)] अब यह प्रश्न होगा कि यदि यह योग इतना प्रसिद्ध है तब पुनः इस योग का विषय कहने की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं हे परन्तपः !—हे शत्रुतापन अर्जुन ! विपक्षियों को "पर" कहा जाता है "परं शत्रुं कामक्रोधादिलक्षणं

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

शत्रुं वा तापयति इति परन्तप" अर्थात् जो व्यक्ति बाहर के शत्रुओं को एवं अन्दर के काम क्रोधादि रूप शत्रुओं का शौर्य के द्वारा, प्रबल विवेक के द्वारा एवं तपस्या के द्वारा सूर्य की भाँति तापित करते हैं उनको 'परन्तप' कहा जा सकता है। [परन्तप का दूसरा अर्थ है 'जितेन्द्रिय'। तुमने काम को जीत कर उर्वशी की भी उपेक्षा करके अद्भुत बल दिखाया, अतः तुम जितेन्द्रिय हो एवं इस कारण तुम इस योग के सम्पूर्ण अधिकारी हो, श्री भगवान् "परन्तप" शब्द के द्वारा यही सूचित कर रहे हैं। (मधुसूदन)] सः योगः—यही ज्ञानयोग जो मेरे द्वारा प्रवर्तित हुआ था एवं इस प्रकार प्रसिद्ध होकर परम्परा क्रम से चला आ रहा था वही महता कालेन—दीर्घकाल के प्रभाव से [धर्म के ह्रास के साथ-साथ (मधुसूदन)]

इह—[इस समय अर्थात् हमारे दो जनों के व्यवहार के समय (आनन्दगिरि) अथवा इस लोक में द्वापर युग के अन्त में दुर्बल अजितेन्द्रिय व्यक्तियों के अधिकार में आकर (यह योग) काम क्रोधादि द्वारा अभिभूत होकर (मधुसूदन)]

नष्टः—विच्छिन्न सम्प्रदाय होने से अर्थात् इस योग के सम्प्रदाय से (गुरु-शिष्य की परम्परा क्रम से) विच्छिन्न होकर नष्ट (लुप्त) हो गया है। [इस योग के बिना कोई पुरुषार्थ लाभ नहीं कर सकता है। हाय ! लोगों का क्या दुर्भाग्य है कि यह योग नष्ट हो गया है—इसे कहकर भगवान् खेद प्रकाश करते हैं। (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयः विदुः—इस प्रकार इक्ष्वाकु प्रभृति ने जिस योग को अपने अपने पितृ पुरुषों से प्राप्त किया था और अपने-अपने पुत्रों को बताया था वही पिता-पुत्र अथवा गुरु-शिष्य परम्परा प्राप्त योग निमि प्रभृति दूसरे राजर्षिगण भी (अर्थात् जो राजा भी थे और साथ साथ ऋषि भी थे वे भी) जानते थे। [आजकल के लोगों के न जानने का कारण क्या है वह बताते हैं—] सः महता कालेन इह नष्टः—यही योग इह लोक में दीर्घकाल के प्रभाव से (कालवश) नष्ट अर्थात् विच्छिन्न (विच्छिन्न सम्प्रदाय) हो गया है हे परन्तप—हे शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन !

(२) शंकरानन्द—पूर्व श्लोक में श्रीभगवान् ने कहा है कि ज्ञानयोग विशिष्टजनों द्वारा परिगृहीत है, अब उसे विशेष रूप से स्पष्ट करके कह रहें हैं—

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

हे परन्तप—ब्रह्मनिष्ठा द्वारा काम क्रोधादिरूप पर को अर्थात् शत्रु को जो तपाता है (नष्ट करता है) उसे 'परन्तप' कहा जाता है। [अर्जुन का यह सामर्थ्य है, यह सूचित करने के लिए श्रीभगवान् ने अर्जुन को "परन्तप" नाम से संबोधित किया है]।

एवं—जिस प्रकार कहा गया है उसी रीति के अनुसार **इमं परम्परा-प्राप्तं**—विवस्वान् आदि विशिष्ट जनों के द्वारा परम्परा प्राप्त इस ज्ञानयोग को **राजर्षयः विदुः**—अर्वाचीन (परवर्ती काल के) जनकादि राजर्षिगण जानते थे अथवा "एवं विदुः" इस प्रकार अन्वय कर विवस्वान् आदि को जिस प्रकार कहा गया था उसी रूप से इस ज्ञानयोग को जनकादि राजर्षिगण जानते थे, इस प्रकार का अर्थ लगाया जा सकता है। राजा होकर भी ऋषि हों उन लोगों को राजर्षि कहा जाता है। इस अर्थ से राजर्षि शब्द ब्राह्मणादि का भी उपलक्षण है। अथवा "राजानश्च ऋषयश्च" इस प्रकार राजर्षि शब्द का द्वन्द्व समास कर राजा लोक भी जानते थे और ऋषिलोक भी जानते थे ऐसा अर्थ कर सकते हैं। अब यह शंका उपस्थित हो सकती है कि यह योग जब महापुरुष राजर्षिगण द्वारा परिगृहीत (परिज्ञात) हुआ है तब तो यह सर्वत्र ही प्रसिद्ध है, अतः तुम विशेष रूप से इस योग के विषय में उपदेश क्यों दे रहे हो। इस शंका का परिहार करने के लिए कहा जा रहा है—**सः योगः**—पहले विवस्वान् आदि में मैंने जिस योग को प्रवर्तित (चालू) किया था वह **महता कालेन**—दीर्घ काल व्यतीत होने पर अर्थात् समय के परिवर्तन हेतु एवं प्रवर्तक के अभाव से **इह**—इस लोक में **नष्टः**—नष्ट हो गया है अर्थात् सम्प्रदाय से विच्छिन्न हो गया है।

(३) नारायणी टीका —२ श्लोक की टीका द्रष्टव्य।

[जिस योग का सम्प्रदाय विनष्ट हो चुका है उस योग को पुनः किस कारण तुम प्रवर्तित कर रहे हो इसके उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं कि अजितेन्द्रिय और दुर्बल पुरुषों द्वारा प्राप्त होने पर यह योग नष्ट हो गया है। और इस काल में प्रायः सभी व्यक्ति अ-पुरुषार्थ साधन में रत हैं (अतः अज्ञानता के कारण विवेकहीन होकर कूटस्थ, असंग, चैतन्यस्वरूप, अविक्रिय आत्मा को भूलकर अनात्म देहेन्द्रियादि के धर्म अपने पर आरोपित कर 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ; मैं सूखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि भाव से लोगों को मोहमुग्ध देखकर कृपावश उन लोगों का संसार सागर से उद्धार करने के लिए तुम्हें (अर्जुन को) निमित्तकर मैं (भगवान् श्रीकृष्ण) पुनः इस योग को प्रवर्तित कर रहा हूँ—]

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—त्वं मे भक्तः सखा च असि इति मया अद्य सः एव अयं पुरातनः योगः ते प्रोक्तः, हि एतत् उत्तमं रहस्यम् ।

अनुवाद—तुम मेरे भक्त तथा सखा भी हो । इस कारण मैंने अद्य तुम्हें उसी पुरातन योग के विषय में उपदेश दिया क्योंकि यह योग एक उत्कृष्ट रहस्य है ।

भाष्यदीपिका—त्वं मे भक्तः सखा च असि—तुम मेरे भक्त और सखा भी हो ।

इति मया अद्य—इस कारण तुम्हारे प्रति स्नेहवश ["इति" शब्द का हेतु के अर्थ से व्यवहार किया गया है अर्थात् "इस कारण" ऐसे अर्थ से प्रयोग किया गया है (मधुसूदन)] मेरे द्वारा इदानीं (अभी) सः एव अयं पुरातनः योगः प्रोक्तः—अनादि काल से गुरु परम्परा से आगत वही अर्थात् यह सनातन योग (जिसका मूल अनादि वेद है अतएव जो सबसे पुराना है वही योग) तुम्हें प्रकृष्ट रूप से कहा गया है इस कारण कि तुम मेरे भक्त (अर्थात् मेरे शरणागत होकर मेरे प्रति अत्यन्त प्रीतिमान् (प्रेमयुक्त) हुए हो) और "सखा च" अर्थात् समवयस्क होने के कारण (समान आयु के) कारण मेरे प्रति स्निग्ध (स्नेहशील) हो उसी कारण से दूसरे को न कहकर विशेषरूप से तुम्हीं को इस पुरातन योग को कहा गया है । यही तात्पर्यार्थ है । और भी जिन-जिन कारणों से दूसरे को न कहकर तुम्हीं को कह रहे हैं वह सुनो—

हि—जिस कारण एतद् उत्तमं रहस्यम्—यह ज्ञान—निष्ठारूप योग उत्कृष्ट रहस्य है अर्थात् अत्यन्त गोपनीय वस्तु है । इस उच्च ज्ञान-योग का सभी के सामने प्रकाश नहीं किया जा सकता है किन्तु (क) तुम परन्तप (जितेन्द्रिय) हो अतः तुम उत्तम अधिकारी हो । (ख) तुम मेरे ही भक्त हो । अत एव मेरे प्रति अतिशय श्रद्धावान् भी हो । इस कारण मैं जो भी कहूँगा तुम संशयहीन होकर ग्रहण करोगे, (ग) तुम मेरे सखा भी हो इस कारण तुम्हारा चित्त मेरे प्रति स्निग्ध (स्नेह से भरपूर) होने के कारण मेरी वाणी तुम्हारे हृदय में अनायास ही प्रभाव डाल सकेगी । इन सब कारणों से तुम्हारे तरह के उत्तम अधिकारी को प्राप्त कर उस अत्यन्त गोपनीय ज्ञान का आज प्रकाश कर रहा हूँ, यही भगवान् के कहने का तात्पर्य है ।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

टिप्पणी (१) श्रीधर—सः एव अयं पुरातनः योगः—जो योग विच्छिन्नसम्प्रदाय होकर नष्ट हो गया था वही यह पुरातन योग अद्य ते मया प्रोक्तः—अद्य पुनः मेरे द्वारा तुम्हें बताया गया कारण त्वं मे भक्तः असि सखा च इति—तुम मेरे भक्त और सखा भी हो। दूसरे किसी को भी (इस समय) इस योग को मैंने नहीं कहा है। हि–निश्चयार्थ में। एतद् उत्तमं रहस्यम्—यह अर्थात् यह योग उत्तम रहस्य है (अत्यन्त गोपनीय है) [अथवा उत्तम (अति गूढ़) और रहस्य (गोपनीय) है कारण वह मोक्ष का साधक है]।

(२) शंकरानन्द—जिस योग का सम्प्रदाय नष्ट हो गया है, उसी योग को तुम अब किस कारण फिर से प्रवृत्त (चालू) कर रहे हो ? ऐसी आशंका के उत्तर (जवाब) में श्रीभगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि कूटस्थ, चित्स्वरूप, अविकारी एवं (इन्द्रिय, वाणी प्रभृति का अविषय) आत्मा में अनात्मा के धर्म और कर्म का अभ्यास करके (आरोपित करके) 'मैं कर्ता हूँ मैं भोक्ता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ'—इस प्रकार के मोहग्रस्त व सन्तप्त संसारी जनों का अवलोकन कर (देखकर) कृपावश उनको संसारसागर से उद्धार करने की इच्छा से तुम्हें (अर्जुन को) निमित्त करके इस योग को पुनः प्रवर्तित (चालू) कर रहा हूँ। इस आशय से भगवान् अब कहते हैं—पुरातनः सः एव अयं योगः—इस पुरातन योग को पूर्व में (पहले) सम्प्रदाय की प्रवृत्ति के लिए विवस्वान् को, पुरातन अर्थात् अनादि श्रुतिमूलक होने से सनातन तथा संसारांधकार का (संसार रूप अंधेरे का) नाशक जिस योग को कहा था वही मया अद्य ते प्रोक्तः—मैंने आज कर्तृत्व, भोक्तृत्व भ्रम से मोहित हुए तुम्हें (तुम्हारी बुद्धि के मोह का नाश करने के लिए) कह रहा हूँ अर्थात् उपदेश दे रहा हूँ। [अर्जुन में इस ज्ञान के उपदेश-लाभ करने की योग्यता है, उसे श्री भगवान् अब दिखलाते हैं]—मे भक्तः असि—तुम मेरे भक्त हो अर्थात् भजनशील हो। यथा "शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयः शिवः" अर्थात् जैसे शिवमय विष्णु है वैसे ही विष्णुमय शिव है, इस प्रकार के शास्त्र वाक्यानुसार शिव और विष्णु (केशव) का अभेद सिद्ध होने के कारण शिवस्वरूप मेरा बाहर और भीतर से निष्कपट श्रद्धा से तुम भजन करते हो। इस कारण तुम मेरे भक्त हो अर्थात् सर्वदा मेरा भजन करना ही तुम्हारा स्वभाव है, सखा च असि—और तुम सखा (स्निग्ध) भी हो अर्थात् श्रीकृष्णरूपी सखा के स्मरण और श्रवणादि से तुम्हारा चित्त द्रवीभूत हो जाता है। तुम मेरे भक्त हो, स्निग्ध हो (सखा

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

हो) इस कारण वही नष्ट-योग तुम्हें उपदेश कर रहा हूँ। योग के उपदेश के लिए तुम पात्र का परिशीलन (विचार) क्यों कर रहे हो ? इसके उत्तर में (जवाब में) कह रहे हैं कि हि—जिस कारण एतत्—यह ज्ञान—शास्त्र रहस्य (गोपनीय) है अर्थात् जिज्ञासा करने पर भी सभी को कहने के योग्य नहीं है (सभी को नहीं कहा जा सकता है)। क्यों नहीं कहा जा सकता है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—उत्तमम्—यह योग शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान करनेवाले (अर्थात् कर्मानुष्ठानकारी गृहस्थ का) का उत्तम साधन है अर्थात् सर्वोत्तम परब्रह्म की प्राप्ति का कारण है, अतः मुक्ति का भी उत्तम साधन है। इस कारण यह रहस्य है (गोप्य है अर्थात् गुप्त भाव से रखने योग्य है) एवं इस कारण से ही सभी को (अर्थात् जो अधिकारी नहीं हैं उनको) नहीं कहा जा सकता है।

(३) **नारायणी टीका**--महाभारत के शान्तिपर्व में (मोक्षधर्म पव नामक ३८ वें अध्याय में) गीतोक्त धर्म की उत्पत्ति विस्तृत भाव से वर्णित हुई है। गीतोक्त धर्म का नाम **एकान्तधर्म**—("न्यूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः") है। गीता में जितने प्रकार के योग की बात (कर्मयोग, भक्ति-योग, संन्यासयोग इत्यादि) कही गयी है वे सभी एक में अर्थात् ज्ञाननिष्ठा में अन्त (समाप्त) होते हैं। इस कारण गीतोक्त धर्म को **एकान्तधर्म**—कहा जाता है। सभी साधनाओं का एकमात्र उद्देश्य है शोक तथा दुःख का आत्यन्तिक (सर्वकाल के लिए अबाधित या पूर्ण) निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति। ब्राह्मीस्थिति या ज्ञाननिष्ठा लाभ न करने पर इस परम उद्देश्य की कभी भी सिद्धि नहीं हो सकती है, यह गीता के दूसरे अध्याय के अन्त में स्पष्ट रूप से कहा गया है। जब तक अज्ञान है तब तक ही इस जगत् का अस्तित्व है—ज्ञान दृष्टि में सभी नारायण (ब्रह्म) हो जाता है। भ्रान्त व्यक्तिगण जगत् को सत्य जानते हैं किन्तु ज्ञानी की दृष्टि में जगत् मायिक (काल्पनिक), व मिथ्या है,—एक अखण्डाद्वय चित् शक्ति के तरंग के रूप में जगद्रूप असंख्य जीव उठ रहें हैं, तैर रहे हैं और लय हो जा रहे हैं। आत्म-माया के (आत्मा में स्थित माया के) प्रभाव से ही खण्ड चैतन्य और खण्ड शक्ति के रूप में असंख्य जीवों की सृष्टि हुई है। यह खण्ड चैतन्य और खण्डशक्ति जब तक अखण्ड चैतन्य में मिलकर पूर्णत्व प्राप्त नहीं करेंगे तब तक जीव को शान्ति नहीं मिल सकती, उसे स्थिति नहीं मिलेगी अतः उसकी संसारगति भी चलती रहेगी। अखण्ड चैतन्य में स्थिति लाभ करने को ही ब्राह्मीस्थिति या ज्ञाननिष्ठा कहा जाता है और जिस साधन के बल से सभी

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

कर्म करते रहने पर भी इस खण्डचैतन्य को अखण्ड चैतन्य में विलीन किया जा सकता है उसे कर्मयोग कहा जाता है। गीतोक्त कर्मयोग का वैशिष्ट्य है ईश्वरप्रणिधान—पहले ही कहा गया है कि वही सर्वव्यापी अखण्डचैतन्य ही एकमात्र सत्य वस्तु है, माया जादूगर की तरह इस अखण्ड सत्ता को ही असंख्य दृश्य पदार्थ के रूप में दिखा रही है। वह अखंडाद्वय सत्ता ही ईश्वर है कारण वही एकमात्र चेतन है, बाकी सब जड़ है—ऐसा जानकर और वही अन्तर्यामी के रूप में सब कर्मों की प्रेरयिता और सभी कर्म तथा कर्मफल के अधिष्ठान (आश्रय) है, यह निश्चय कर फलाकांक्षा रहित होकर 'उन्हीं के आज्ञानुसार कर्म कर रहा हूँ' इस प्रकार बुद्धियुक्त होकर कर्म करके सर्वकर्म उन्हीं को अर्पण करने पर कर्ता, कर्म, करण व कर्मफल के रूप में सर्वत्र एकमात्र ईश्वर सत्ता का ही (अखण्डचैतन्य सत्ता का ही) स्मरण होने लगता है। काम को (विषय कामना को) जय करने का यही प्रधान उपाय है, यह तृतीय अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में कहा गया है। इस प्रकार दीर्घकाल के अभ्यास से तत्त्व का साक्षात्कार लाभ कर जीव ब्रह्म के साथ अपना एकत्व अनुभव करके ब्रह्म हो जाते हैं और उसी रूप में ही उनकी स्थिति होती है। यही ब्राह्मीस्थिति या ज्ञाननिष्ठा है; यही सर्वसंसार से उपरामरूप मोक्ष है। बुद्धियुक्त होकर (आत्मा के स्वरूप का परोक्षज्ञान लाभ करके बुद्धि द्वारा आत्मा के साथ निरन्तर युक्त रहकर) निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान ही अज्ञानी संसारियों को उसी प्रकार की स्थिति में पहुँचा सकते हैं। इस कारण यह योग अव्यय है अर्थात् इससे अविनाशी मोक्षरूप फल प्राप्त किया जा सकता है। इस कारण से ही लोक कल्याण के हेतु भगवान् ने सृष्टि के आदि में सूर्य को इस योग को कहा था। सूर्य ने अपने पुत्र मनु को (श्राद्ध देव को) और मनु ने स्वपुत्र इक्ष्वाकु को कहा था। इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा क्रम से राजगण व ऋषिगण इस योग को प्राप्त हुये थे किन्तु दीर्घकाल के प्रभाव से यह योग नष्ट हो गया था। भगवान् ने अर्जुन को भक्त, सखा तथा उत्तम अधिकारी देखकर इस योग का रहस्य अर्थात् अति गोपनीय तत्त्व उनको कह दिया जिससे फिर जगत् में यह योग प्रवर्तित होकर लोक कल्याण सम्पादन कर सके। अभक्त तथा अनधिकारी को विद्या दान करने पर वह निर्वीर्य (शक्तिहीन) होती है। इस कारण वेद में कहा गया है—'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽनृताय मा मा ब्रूया वीर्यवती च तथा स्याम्'। अर्थात् विद्या ब्राह्मण के निकट आकर बोली—उत्तमाधिकारी को मेरे संबंध में उपदेश देकर मुझे गोपनीय रखना।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

जो व्यक्ति दूसरे के गुणों में दोष-दर्शन करते हैं, जो असत्य भाषण करते हैं और जिनका चित्त असंयत है उन्हें कभी न कहना। ऐसा करने पर मैं वीर्यवती रह सकूँगी।

[भगवान् ने असंगत उक्ति की है—ऐसी धारणा जिससे किसी को न हो जाय उसी कारण अज्ञ व्यक्ति की संशयबुद्धि दूर करने के लिए अर्जुन ने खुद ही शंका उठाकर प्रश्न किया। अभिप्राय यह है कि श्रीकृष्ण वसुदेव का पुत्र है और एक साधारण राजा है, अतः न तो वह सर्वज्ञ है और न नित्य है। इस कारण उसके द्वारा गीताशास्त्र में जो कहा जायगा उसका प्रामाणिक रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता है—इस प्रकार की बुद्धि मूर्खों की हो सकती है। मूर्खों को इस प्रकार की वृथा बुद्धि का निवारण करने के उद्देश्य से और श्रीकृष्ण के अपने मुख से यह सुनने के लिए कि वे स्वयं साक्षात् परमेश्वर हैं, अर्जुन ने छल करके यह प्रश्न किया—]

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अन्वयः—भवतः जन्म अपरं, विवस्वतः जन्म परं, त्वम् आदौ प्रोक्तवान् इति एतत् कथं विजानीयाम् ॥

अनुवाद—अर्जुन ने कहा—तुम्हारा जन्म बाद में हुआ है और विवस्वान् अर्थात् सूर्य का जन्म तुमसे बहुत पहले हुआ है। इस कारण तुमने सूर्य को इस योग के संबंध में पूर्व (पहले) उपदेश दिया था—यह मैं किस प्रकार से मान लूँ ?

भाष्यदीपिका—भवतः जन्म अपरं—तुम्हारा जन्म अर्थात् वसुदेव के गृह में मनुष्य शरीर ग्रहण कर और श्रीकृष्ण नाम धारण कर जो जन्म हुआ, वह "अपर" है अर्थात् परवर्ती काल में (बाद में) हुआ है। अथवा तुम्हारा मनुष्य शरीर होने पर वह अल्पकालीन (इदानींतन) अर्थात् केवल कुछ समय तक दिखाई पड़ेगा किन्तु पहले नहीं था और बाद में भी नहीं रहेगा, अतः देवशरीर से निकृष्ट है (मधुसूदन)। जिनका जन्म होता है और नाम व रूप जिनका है वह माया के अधीन होने के कारण अनित्य, असर्वज्ञ और विकारी अवश्य ही होगा। अतः अज्ञ लोग कभी श्रीकृष्ण को भगवान् के रूप में स्वीकार नहीं करेंगे, यही जन्म शब्द द्वारा यहाँ सूचन कर रहे हैं।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

विवस्वतः जन्म परं—सूर्य का जन्म पर है अर्थात् तुम्हारे जन्म के पहले (सृष्टि की प्रथमावस्था में) सूर्य का जन्म हुआ है [और देवशरीर धारण करने से भी सूर्य का जन्म तुम्हारे जन्म से पर (परम) अर्थात् उत्कृष्ट है (मधुसूदन)]।

त्वमादौ प्रोक्तवान् इति—अतः आज तुम जिस योग के बारे में मुझे कह रहे हो उस योग के बारे में मैंने सूर्य को आदि में अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में उपदेश दिया था।

कथं विजानीयाम्—मैं किस प्रकार से यह अविरुद्धार्थ रूप से समझूँगा ? तुम इदानींतन मनुष्य अर्थात् वर्तमान काल में जन्म ग्रहण किये हो अतः असर्वज्ञ हो। सृष्टि के आदि में (प्रथम अवस्था में) पूर्वतन (तुमसे पहले जो जन्म लिया ऐसा), सर्वज्ञ सूर्य को तुमने इस योग को बतलाया—यह अत्यन्त विरुद्ध बात है। इस कारण तुम्हारी बातें मुझे बोधगम्य नहीं हो रही हैं (समझ में नहीं आ रही हैं)। अतः दूसरे साधारण मनुष्य तुम्हारी बातों का अविश्वास कर तुम्हारा उपदेश श्रद्धा भक्ति के साथ पालन नहीं करेंगे। इस कारण इस विषय को स्पष्ट करके समझा कर कहो जिससे यह संशय पूर्ण रूप से निराकृत हो जाय (मिट जाय), यही यहाँ कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी—(१) मधुसूदन—त्वम् आदौ प्रोक्तवान् इति—सृष्टि की प्रथम अवस्था में तुम ने आदित्य को (सूर्य को) यह योग कहा था यह अत्यन्त विरुद्ध बात है। क्या तुमने दूसरा देह-विशिष्ट होकर (दूसरे देह द्वारा) आदित्य को उपदेश दिया था या वर्तमान देह द्वारा ? दूसरा देहविशिष्ट होकर (अन्य देह धारण कर) उपदेश दिया था—यह पक्ष संगत (ठीक) नहीं है कारण सर्वज्ञ न होने पर दूसरे जन्म में जो जो अनुभव हुआ था उस अनुभूति का स्मरण नहीं हो सकता। यदि ऐसा ही होता तो फिर असर्वज्ञ मुझे भी जन्मांतर में जिस विषय का अनुभव हुआ था उसका अब स्मरण होता। हम दोनों ही मनुष्य शरीरधारी हैं, अतः तुममें और मुझमें असर्वज्ञत्व समान रूप से विद्यमान है। और यदि तुम यह कहते हो कि वर्तमान देह धारण करके ही उपदेश दिया था तो फिर वह भी युक्तिसंगत नहीं है, कारण तुम्हारा यह वर्तमान कालीन शरीर सृष्टि की प्रथम अवस्था में भी नहीं था। अतः वर्तमान देह द्वारा वैसा उपदेश देना भी संभव नहीं है कारण यह शरीर आधुनिक है और वसुदेव के गृह में उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार श्रीकृष्ण में असर्वज्ञत्व तथा अनित्यत्व की सम्भावना देखकर अर्जुन के मन में दो प्रश्न उत्पन्न हुए हैं।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

(२) श्रीधर—(भगवान् श्रीकृष्ण ने सूर्य के प्रति योग का उपदेश दिया है, यह असम्भव सोचकर अर्जुन ने कहा-) अपरं भवतः जन्म—तुम्हारा जन्म तो अर्वाचीन अर्थात् बाद में हुआ है परं विवस्वतः जन्म—सूर्य का जन्म प्राचीन है (प्राक्कालीन है) जिस कारण तुम अधुनातन (वर्तमान कालमें हुए हो) और सूर्य प्राचीन है, इस कारण त्वम् आदौ प्रोक्त-वान् इति—तुमने प्राचीन सूर्य को पहले यह योग कहा था एतत् कथं विजानीयाम्—यह मैं किस प्रकार से जानने में समर्थ हो सकूँगा (अर्थात् मेरी बुद्धि यह धारण करने में असमर्थ है)।

(३) शंकरानन्द—वसुदेव के पुत्र होने के कारण कृष्ण एक साधारण राजा है, अतएव उनके द्वारा कथित गीताशास्त्र प्रमाण नहीं हो सकता है, यह सोचकर गाता में सभी का अविश्वास होगा, और यदि गोता के वक्ता (कहनेवाले) स्वयं भगवान् ही हैं ऐसा सब जान लें (अर्थात् गीता के वक्ता भगवान् में ईश्वरत्व बुद्धि रहे) तो फिर गीताशास्त्र में श्रद्धा व भक्ति के साथ प्रवृत्ति होगी और इससे सब कृतार्थ होंगे यह सोचकर श्रीकृष्ण का परमेश्वरत्व उनके मुख से ही प्रसिद्ध करना होगा—इस अभिप्राय से अर्जुन ने कहा—

भवतः—श्रीकृष्ण नामधारी तुम्हारा जन्म अपरं—जन्म अर्वाचीन अर्थात् बाद में हुआ है कारण यह प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध है कि वसुदेव के घर में तुम्हारी उत्पत्ति (जन्म) हुई है और विवस्वतः जन्म परं—सर्व जगत् को प्रकाश करने का तेज जिसका है उन्हें विवस्वान् कहते हैं अर्थात् सूर्य। उस सूर्य का जन्म प्राचीन है कारण श्रुति में कहा गया है कि सृष्टि के आदि में "चक्षुषः सूर्योऽजायत" अर्थात् परमात्मा के नेत्र से सूर्य की उत्पत्ति हुई है अतः त्वम् आदौ इमं योगं प्रोक्तवान् इति कथं विजानीयाम्—इस प्रकार तुम्हारा और विवस्वान् (सूर्य) का (दोनों का) जन्म यथाक्रम से बाद में और पहले (पीछे और आगे) होने के कारण तुमने जो कहा कि तुमने पहले पहले विवस्वान् को इस योग का उपदेश दिया था—वह मेरे अथवा दूसरे के लिए सत्य मानना किस प्रकार संभव हो सकता है ? "वह वन्ध्या पुत्र जाता है" इस वाक्य के समान तुम्हारे वाक्य में एवं तुम्हारे द्वारा कहे गए गीता शास्त्र में सभी को अविश्वास ही उत्पन्न होगा, यही अर्जुन के कहने का अभिप्राय है।

(४) नारायणी टीका—(तुम्हारा जन्म इदानीं काल में हुआ है—सूर्य का जन्म प्राचीनकाल में हुआ; अतः तुमने प्राचीन सूर्यदेव को इस योग

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

को कहा था—यह किस प्रकार से सम्भव हो सकता है ? अर्जुन के इस प्रकार के प्रश्न का यह अभिप्राय है कि भगवान् अपने निज मुख से अपने अवतार-तत्त्व को प्रकाशित करें। इस प्रश्न के द्वारा अर्जुन जिन चार समस्याओं का समाधान करना चाहते हैं वे इस प्रकार हैं—)

(क) यदि तुमने सूर्य को दूसरा देह धारण करके उपदेश दिया तो फिर इस देह में तुम्हारी पूर्वापूर्वजन्म की घटनाओं का स्मरण (याद) रखना सम्भव किस प्रकार से हुआ ? कारण पूर्वजन्म की कथा की साधारणतः स्मृति (याद) नहीं रहती है,

(ख) और यदि इसी देह को धारण कर प्राचीनकाल में सूर्य को उपदेश दिया था तो फिर यह विश्वास योग्य नहीं है कारण यह श्रीकृष्ण-देह अभी हाल में देवकी गर्भ से उत्पन्न हुआ है। सृष्टि के आदि (आरम्भ) में इसी शरीर का रहना किस प्रकार से सम्भव होगा ?

(ग) और यदि तुम सर्वदानन्दस्वरूप ब्रह्म अथवा सृष्टिस्थितिप्रलय-कर्ता ईश्वर हो तो फिर ब्रह्म या ईश्वर का जन्म या मृत्यु किस प्रकार हो सकती है ? जिसकी जन्म-मृत्यु होती है वह तो अनित्य (नश्वर अर्थात् विनाशी) ही होगा।

(घ) फिर क्या तुम सर्वदानन्दस्वरूप ब्रह्म होकर भी (सदा नित्य अविकार स्वरूप में स्थिर रहकर भी) माया को आश्रय कर इस सृष्टि-स्थिति-प्रलय का नाटक रच रहे हो ? तुम्हारा अवतार देह भी क्या माया द्वारा ही रचित है ? जिस प्रकार नाटककार बार बार वेष परिवर्तन करने पर भी अपने स्वरूप के संबंध में कभी विस्मृत नहीं होता है किन्तु किन किन वेष में कौन कौन सा नाटक खेल रहे हैं वह पूर्णरूप से जानता है, उसी प्रकार तुम भी युग युग में भिन्न भिन्न अवतार देह में जो जो कर्म किए हो उन सब का क्या तुम्हारी स्मृति में रहना सम्भव हुआ है ?

[वासुदेव ईश्वर या सर्वज्ञ नहीं हैं, इस प्रकार की विपरीत बुद्धि मूर्खों की हो सकती है, अतः उसका निराकरण करने के लिए जो प्रश्न अर्जुन ने पूछा उसके उत्तर में भगवान् अपना सर्वज्ञत्व प्रमाण करने के लिए कह रहे हैं—]

श्री भगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अन्वयः—श्री भगवान् उवाच—हे परन्तप, हे अर्जुन, तव मे बहूनि जन्मानि व्यतीतानि, अहं तानि सर्वाणि वेद, त्वं न वेत्थ।

अनुवाद—श्री भगवान् ने कहा—हे परन्तप (शत्रुतापन) हे अर्जुन, तुम्हारा और मेरा बहुत सा जन्म व्यतीत हो चुका है। मैं (सर्वज्ञ होने के कारण) उन सब जन्मों के विषय से अवगत हूँ किन्तु तुम उन्हें जान नहीं पा रहे हो।

भाष्यदीपिका—श्री भगवान् उवाच-श्री भगवान् ने कहा-हे अर्जुन, हे परन्तप—हे शत्रुतापन अर्जुन ['परन्तप शब्द की ४।२ श्लोक में व्याख्या की गई है। अर्जुन शब्द के अर्थ "शुद्धबुद्धि"] तुम्हारी बुद्धि शुद्ध है और तुम अज्ञान रूप शत्रु को नाश करने में समर्थ हो, इस कारण अब मैं जो कह रहा हूँ वह तुम अनायास ही समझ पाओगे, ऐसा कहने के अभिप्राय से दो शब्दों के द्वारा भगवान् ने अर्जुन को सम्बोधन किया। [मधुसूदन सरस्वती का कहना है कि "अर्जुन" और "परन्तप" इन दो सम्बन्धों के द्वारा आवरण और विक्षेप नाम के अज्ञान के दो धर्म प्रदर्शित हुए हैं अर्थात् "अर्जुन" शब्द से अर्जुन वृक्ष की तरह तुम्हारा ज्ञान आवृत है और "परन्तप" शब्द से भगवान् सूचित कर रहे हैं कि अज्ञान की विक्षेप शक्ति के प्रभाव से तुम भेद-दृष्टि विशिष्ट होकर शत्रुओं की कल्पना कर उन्हें मारने के लिए उद्यत हो रहे हो। अतः अज्ञान की आवरण और विक्षेप रूप दो शक्तियाँ ही तुम्हारे प्रति कार्यकारी हो रही हैं। तत्त्वम्—तुम देहेन्द्रियादि में आत्मबुद्धि कर जीव बने हो। अतः अज्ञान द्वारा मोहित होकर दूसरे जीवों की तरह तुम्हारा भी अपने कर्मों के द्वारा उपार्जित बहुत से जन्म अतीत हो गए हैं। ['च' शब्द अन्य सभी जीवों के ही अनेक जन्म अतीत हो गए हैं—यह सूचित कर रहा है (मधुसूदन)]।

च मे बहूनि जन्मानि व्यतीतानि—सूर्य सदा ही उदित रहने पर भी लौकिक व्यवहार में जैसे यह कहा जाता है कि सूर्य का उदय हुआ है, उसी प्रकार मैं (अनन्त शक्ति सम्पन्न परमेश्वर) सदा ही मेरी अविकारी सत्ता में स्थित रहने पर भी मेरा भी लौकिक दृष्टि के अनुसार अनेक बार लीला से गृहीत देवतिर्यक् और मनुष्य योनि में जन्म (देह-ग्रहण) व्यतीत (अतिक्रान्त) हो चुके हैं अर्थात् बीत गये हैं (मधुसूदन)। **अहं**—मैं सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर **तानि सर्वाणि**—उन सब जन्म अर्थात् तुम्हारे, मेरे, और दूसरों के जितने बार जन्म हुए हैं उन सब ही।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

वेद—मैं जानता हूँ कारण मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्तस्वभाव हूँ–मेरी ज्ञान-शक्ति पर कोई आवरण नहीं है, इस कारण मेरे पास कुछ भी अज्ञात नहीं है। श्रुति में भी कहा गया है—'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' अर्थात् विज्ञाता के विज्ञान का कभी लोप नहीं होता है। मैं सभी जीवों के भीतर सर्वावस्था में नित्य शाश्वत (विज्ञाता) हूँ, इस कारण मैं भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ ही जानता हूँ।

त्वम्—तुम अज्ञ जीव हो। स्वरूप की दृष्टि से तुममें और मुझमें कोई भेद न रहने पर भी तुम्हारी ज्ञानशक्ति धर्माधर्म द्वारा प्रतिबद्ध होने के कारण अर्थात् पापपुण्य तथा रागद्वेषादि का संस्कार रूप दोष के द्वारा तुम्हारी ज्ञानशक्ति आच्छादित होने के कारण तुम न वेत्थ—नहीं जान पा रहे हो। [अर्थात् तुम अपने पूर्व जन्म भी नहीं जान सकते हो तो फिर दूसरों के जन्म कैसे जान सकोगे। (मधुसूदन)]।

[भगवान् अज (जन्मरहित) हैं। अतः परमार्थतः उनका किसी प्रकार का देह-ग्रहण करना संभव नहीं है तब भी विभिन्न योनियों में भगवान् के जो जन्म दिखाई देते हैं वे सब उनके माया का विलासमात्र है—यह बाद में भगवान् स्वयं ही स्पष्ट करेंगे]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[रूपान्तर द्वारा अर्थात् दूसरे अवतार-देह द्वारा सूर्य की सृष्टि के प्रारम्भ में उपदेश दिया है इस अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए भगवान् ने कहा—] हे परन्तप ! हे अर्जुन ! मे तव च बहूनि जन्मानि व्यतीतानि—तुम्हारे और मेरे अनेक जन्म व्यतीत हो गए हैं, तानि अहं सर्वाणि वेद—उन सबको मैं जानता हूँ, कारण मेरी विद्या-शक्ति (ज्ञानशक्ति) कभी लुप्त नहीं होती। त्वं न वेत्थ—किन्तु तुम वह सब नहीं जानते हो [अर्थात् पूर्वजन्मों की घटनाएँ तुम स्मरण में नहीं ला सक रहे हो] कारण तुम्हारी ज्ञान-शक्ति अविद्या के द्वारा आवृत है (लुप्त हो गयी है)।

(२) शंकरानन्द—मेरी माया द्वारा रचित इस विलास-वैभव को जो सत्य मानते हैं, उन सब मूढ़ों को ही इस प्रकार का प्रत्यय होना संभव है अर्थात् मेरे द्वारा कथित गीताशास्त्र के संबंध में अविश्वास हो सकता है किन्तु जो लोग मेरे तत्त्व को जानते हैं ऐसे पण्डितों को ऐसी भावना कभी नहीं होगी क्योंकि उनकी मुझमें ईश्वरत्व की भावना, श्रद्धा और भक्ति है एवं मेरे द्वारा कहे गए वाक्यों में प्रमाण-बुद्धि भी है। यद्यपि मैं स्वरूपतः अज, अव्यय, सर्वभूत का ईश्वर, नित्य, शुद्ध-बुद्ध और मुक्त-स्वभाव वाला हूँ

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

तथापि अपनी महिमा से (सामर्थ्य से) सिद्ध नित्यज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज द्वारा सम्पन्न होकर मैं सभी पर अनुग्रह तथा निग्रह करने की इच्छा रखकर अनेक जन्म ग्रहण करता हूँ। यही श्री भगवान् कह रहे हैं—

मे—अप्रमेय-स्वभाव एवं अनन्त शक्ति वाले मुझ परमेश्वर के **बहूनि जन्मानि**—देव, तिर्यक् और मनुष्य रूप बहु (असंख्य) जन्म **व्यतीतानि**—अतिक्रान्त हुए हैं अर्थात् बीत गए हैं। **तव च**–तुम्हारे और दूसरे प्राणियों के भी अनेक जन्म अतिक्रान्त हो गये हैं। **तानि सर्वाणि**—उन सब विगत (अतीत) जन्मों को **अहं वेद**—मैं जानता हूँ कारण 'न हि विज्ञातुर्विज्ञाते-र्विपरिलोपो विद्यते' अर्थात् विज्ञाता के विज्ञान का कभी लोप नहीं होता है, इस श्रुति वाक्यानुसार मेरी विज्ञानशक्ति (जानने की शक्ति) अप्रतिहत है (किसी के द्वारा भी उसमें वाधा प्राप्त नहीं होती है); इस कारण भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी पदार्थों को मैं जान सकता हूँ।

त्वं न वेद—परन्तु तुम उन जन्मों को नहीं जानते हो अर्थात् पाप-पुण्य; राग-द्वेषादि दोषों के कारण तुम्हारी स्वभाव-सिद्ध ज्ञानशक्ति तिरोभूत होने के कारण तुम भूत; भविष्य और वर्तमान कुछ भी (स्पष्ट रूप से) नहीं जानते हो; यही कहने का तात्पर्य है।

(३) नारायणी टीका—तुम्हारे और मेरे अनेक जन्म अतिक्रान्त हो गये हैं किन्तु उन सब जन्मों के कार्यों को मैं जानता हूँ (मुझे याद है) किन्तु तुम नहीं जानते अर्थात् तुम पूर्व-पूर्व जन्मों के सब वृत्तान्त भूल गए हो इसका कारण है (१) मैं सर्वज्ञ हूँ, मेरा बोध (ज्ञान) कभी लुप्त नहीं होता है, क्योंकि अनन्त ज्ञानस्वरूप सत्ता से मैं कभी स्खलित (अलग) नहीं होता हूँ अतः उस अखण्ड ज्ञान सत्ता का अधिष्ठान (आश्रय) कर अनादिकाल से जितना भी खण्डित ज्ञान दृश्य रूप में माया द्वारा कल्पित हो रहा है अर्थात् उनकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय हो रहा है, उनका शाश्वत द्रष्टा मैं ही हूँ, तो फिर मेरा स्मृति-लोप किस प्रकार से होगा ? किन्तु तुम अल्पज्ञ होने के कारण "सत्यं ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म" में आत्मबुद्धि करते आ रहे हो। "यदल्पं तन् मर्त्यम्" (छा० उ०) अर्थात् जो परिच्छन्न है (सीमित) है वही मरणशील है। मैं 'भूमा' स्वरूप में स्थित रहता हूँ इस कारण देह की मृत्यु होने पर भी मेरी कभी मृत्यु नहीं होती है। किन्तु देह में आत्मबुद्धि रहने के कारण तुम्हारी असंख्य बार मृत्यु हो चुकी है और यही कारण है कि तुम्हें पूर्ववृत्तान्त का स्मरण नहीं है। आत्मा को नहीं जानना ही अज्ञान है और

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अज्ञान ही (आत्म-विस्मृति-ही) मृत्यु है। अज्ञान से विषय ज्ञान होता है चित् प्रति विस्मृत बुद्धि द्वारा। मृत्यु के साथ-साथ बुद्धि में भी परिवर्तन होता है—इस कारण साधारणतः मृत्यु के पूर्व की घटनाएँ बुद्धि से (स्मृति से) लुप्त हो जाती हैं कारण आत्मा का स्वरूपज्ञान विस्मृत हो जाने के कारण स्वरूप-सिद्ध अखण्डित ज्ञानसूत्र छिन्न हो जाता है। मैं (भगवान् श्रीकृष्ण) अज्ञान अथवा माया के वश में नहीं हूँ। अज्ञान या माया मेरे वश में है। अत एव मैं स्वतन्त्र हूँ और मेरा ज्ञान आवरण-शून्य है। किन्तु तुम देहात्माभिमानी हो। अतः अज्ञान के (माया के) वशीभूत हो। इसलिए तुम अस्वतन्त्र हो और तुम्हारा ज्ञान कर्मादि द्वारा आवृत है—(गीता ३।३९)। मेरा (नित्य शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का) आश्रय कर विचार-वैराग्य तथा अभ्यास द्वारा मुझमें ही निरन्तर स्थिति लाभ कर ब्रह्मस्वरूप मुझसे अभिन्न हो जाओ। तुम भी अज्ञान का आवरण नष्ट कर मेरी तरह सर्वज्ञ हो सकते हो—यही "तान्यहं वेद, न त्वं वेत्थ" इस वाक्य का तात्पर्य है।

[पूर्व श्लोक में भगवान् ने कहा है कि उनके भी अनेक जन्म हुए हैं। इस पर अर्जुन के मन में संशय हो सकता है कि "कर्म्मणा जायते जन्तुः कर्म्मणैव प्रलीयते"—अर्थात् कर्म से ही प्राणी वर्ग का जन्म होता है और कर्म के कारण ही मृत्यु होती है, इस प्रकार के स्मृतिवाक्य से यह विदित होता है कि पाप-पुण्य प्रभृति संस्कार ही जन्म-मृत्यु का हेतु (कारण) है। किन्तु तुम तो नित्य ईश्वर हो, तुम्हारा धर्माधर्मरूप कर्म नहीं है। फिर किस कारण से तुम्हारा जन्म होता रहता है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—]

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

अन्वयः—अजः सन् अपि, अव्ययात्मा (सन् अपि), भूतानाम् ईश्वरः सन् अपि स्वां प्रकृतिम् अधिष्ठाय आत्ममायया सम्भवामि ॥ ६ ॥

अनुवाद—मैं जन्मरहित होते हुए भी–अविनाशी होते हुए भी तथा सर्वभूत का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को वशीभूत कर आत्ममाया द्वारा (जीवों के समान) जन्मग्रहण करता हूँ।

भाष्यदीपिका–अजः सन् अपि–(मैं जन्म रहित होने पर भी। अव्ययात्मा सन् अपि–और मेरा विज्ञानशक्ति रूप स्वभाव किसी काल में क्षीण न होने पर भी अर्थात् मैं अक्षीण ज्ञानशक्ति स्वभाव वाला होने पर भी, [आत्मा शब्द का अर्थ स्वरूप या स्वभाव है। भगवान् चित्-स्वरूप है अर्थात् सर्व वस्तु का

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

शाश्वत विज्ञाता व प्रकाशक है। इस कारण विज्ञान शक्ति ही उसका स्वभाव है, इसी का कभी लोप नहीं होता है क्योंकि श्रुति में कहा गया है—"न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृह० उ०) अर्थात् विज्ञाता के विज्ञान का कभी लोप नहीं होता है। अव्ययात्मा शब्द के द्वारा भगवान् का नित्यत्व (अर्थात् कभी उनका विनाश नहीं है) सिद्ध हुआ]।

भूतानाम् ईश्वरः अपि सन्—और भूतों के अर्थात् उत्पत्तिशील ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (तृणादि का गुच्छ) पर्यन्त सभी का ईश्वर (ईशनशील) अर्थात् शासनकर्ता होकर भी अर्थात् मैं ही सभी का नियन्ता हूँ, मेरा कोई नियन्ता या शासनकर्ता नहीं है, कारण श्रुति में कहा है 'न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः'। (श्वेता० ३) अर्थात् उनका (परमात्मा का) जनक (उत्पादन-कर्ता) कोई नहीं है और उनका अधिपति भी कोई नहीं है। इस कारण किसी के द्वारा प्रवर्तित (प्रवृत्त) होकर मैं कोई कर्म नहीं करता हूँ, किन्तु अपनी इच्छा से ही स्वां प्रकृतिम् अधिष्ठाय—मेरी अपनी त्रिगुणात्मिका (सत्त्व, रजः व तम गुणमयी) वैष्णवी शक्ति, जिसके वश में सारा जगत् वर्तमान है, जिसके द्वारा मोहित होकर जगत् में प्राणीवर्ग आत्मस्वरूप वासुदेव को भी (अर्थात् अपना स्वरूप जो वासुदेव है उसको भी) नहीं जान सकते हैं, वही वैष्णवी माया ही मेरी प्रकृति है। यही अपनी उपाधिभूत प्रकृति में (अपनी उपाधिभूत नानाशक्ति विशिष्ट अघटनघटनापटीयसी माया नामक प्रकृति में) अधिष्ठित होकर अर्थात् प्रकृति को चिदाभास द्वारा वशीभूत कर आत्ममायया—स्वकीया (निज अधीनस्था) (अपनी) माया द्वारा अथवा आत्मा से (मेरे स्वरूप से) जो माया अभिन्न है उसके द्वारा ही [जिस प्रकार अग्नि से अग्नि की दाहिका शक्ति पृथक् नहीं है किन्तु अभिन्न है, उसी प्रकार ईश्वर की दैवी माया या प्रकृति उनसे भिन्न नहीं है। यदि भिन्न होती तो श्रुति में प्रसिद्ध अद्वैतवाद की हानि होती (अर्थात् मैं और माया यह दो वस्तु पृथक्-पृथक् रहने पर द्वैतसिद्धि होती और जिन जिन श्रुतियों में अखण्ड-अव्यय-ब्रह्म-सत्ता प्रतिपादित हुई है वे सब श्रुतियाँ भ्रान्त प्रमाणित होतीं। जिनकी पारमार्थिक सत्ता न रहने पर भी केवल प्रतीति होती है (अर्थात् देखी जाती है) उसे माया कहा जाता है। माया का कोई सत्य अस्तित्व नहीं है, इस कारण वह असत् है। फिर भी इस प्रकार क्यों होता है अर्थात् परम ब्रह्म में माया (अर्थात् कल्पनाशक्ति) क्यों है इसे कहा नहीं जा सकता है। इसी कारण माया अनिर्वचनीय है। भगवान् का कोई जन्म न होने पर भी अपनी माया द्वारा (आत्म-माया द्वारा) मानो जन्म लिए हैं,

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

मानो शरीर धारण किए हैं, ऐसा लोक-दृष्टि में प्रतीयमान होता है। परमात्मा में जो अनिर्वचनीय कल्पनाशक्ति है वही माया है। अतएव 'आत्ममायया' पद का अर्थ है 'अपनी कल्पनाशक्ति के द्वारा'। कल्पना कोई वस्तु नहीं है (विकल्पो नहि वस्तु)। अतः कल्पना द्वारा जिन अवतार देहादि की सृष्टि होती है उसकी भी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। उसकी केवल प्रतीतिमात्र होती है। **सम्भवामि**—उत्पन्न होता हूँ, अर्थात् उसी प्रकृति के परिणाम विशेष द्वारा मैं देह धारण न कर भी मानो देहवान् हो जाता हूँ अर्थात् जैसे कि दूसरे जीव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार लोक-दृष्टि में मैं भी उत्पन्न हुआ हूँ ऐसा प्रतीत होता है किन्तु परमार्थतः (वास्तव में) मेरा जन्म नहीं होता है। यदि मेरा जन्म होता तो फिर मेरे संबंध में श्रुति में जो कुछ कहा गया है 'निष्कलं निष्क्रियम्, 'न जायते म्रियते वा कुतश्चित्' अर्थात् अंशविहीन. क्रिया-शून्य, न तो जन्म ग्रहण करते हैं और न मरते हैं ये सब वाक्य व्यर्थ हो जाते। भगवान् का (तत् पदार्थ का) जन्म मायिक कहने पर जीव और ब्रह्म अभिन्न होने के कारण जीव की भी (त्वं पदार्थ का भी) जन्म मृत्यु अविद्या से ही प्रतीत होती है यह कहा गया है।

टिप्पणी (१) मधुसूदन सरस्वती ने अपनी टीका में इस श्लोक का जो विकल्प अर्थ किया है उसका सार-संग्रह नीचे दिया जा रहा है—पूर्व श्लोक में भगवान् ने कहा है कि मैं सर्वज्ञ हूँ इस कारण मैं सभी अतीत घटनाओं को जानता हूँ। इस पर अर्जुन को संशय हो रहा है कि यदि श्रीकृष्ण जीव हैं तो उनकी सर्वज्ञता असंभव है कारण जीव को ज्ञान अन्तःकरण द्वारा होता है और यह अन्तःकरण परिच्छिन्न एवं पांचभौतिक (अर्थात् स्थूल) होने के कारण अतीत, अनागत, सूक्ष्म तथा कारणात्मक विषयों का ज्ञान का विषय नहीं कर सकता है अर्थात् (जान नहीं सकते) अतः जीव 'सर्वज्ञ' नहीं होता है इसी कारण से स्थूलोपाधियुक्त विराट् अथवा सूक्ष्मोपाधियुक्त सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ भी यथार्थरूप से सर्वज्ञ नहीं हो सकता क्योंकि उसकी भी उत्पत्ति का हेतु (कारण) माया अर्थात् माया का परिणाम ही है। अतः माया का साकल्यज्ञान (सकल अर्थात् समुच्चय माया का ज्ञान) होना उसके लिए असम्भव है। एक मात्र ईश्वर ही मुख्य रूप से सर्वज्ञ हो सकता है क्योंकि सभी का स्थूल, सूक्ष्म कारण-स्वरूप जो माया है (एवं जिस माया में सभी विषयों का ज्ञान विद्यमान है। वह माया ही उनकी(ईश्वर) की उपाधि है उसे उद्देश्य करके श्रुति कह रही है—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' [भगवान् निज मायाशवलित (मायाविशिष्ट)

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

स्वरूप द्वारा ही सब कुछ जान जाते हैं।] भगवान् देह धारण न कर भी देही की तरह किस प्रकार प्रतीत होता है यह अब अर्जुन के चतुर्थ श्लोक में उक्त शंका का निवारण कर रहे हैं]

आत्ममायया सम्भवामि—भगवान् के जिस अवताररूप को लोग देखते हैं वह भगवान् की माया के प्रभाव से ही देखा जाता है। इस कारण मोक्षधर्म में इस प्रकार कहा गया है—'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि' अर्थात् हे नारद ! तुम जो मुझे देख पा रहे हो माया ही उसका कारण है। उस माया को मैंने ही सृष्टि की है। यदि ऐसा न होता अर्थात् मैं माया से युक्त न होता तो सर्वभूत के गुणों से युक्त मुझे तुम नहीं देख पाते। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इन पंचभूतों के (जिनके द्वारा सारे जगत् की सृष्टि हुई है उन सब के) धर्म जिसमें सूक्ष्मभाव से (अव्यक्त भाव से) बीज के भीतर वृक्ष की तरह अवस्थान करते हैं वही कारण-उपाधि अर्थात् (अव्याकृत अवस्था में स्थित) मुझे (अर्थात् नामरूपात्मक प्रपंचरहित परमेश्वर को) चर्म-चक्षु से नहीं देख पाते कारण वह कभी चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय नहीं होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि परमात्मा निरवयव, निष्क्रिय होने पर भी लोकानुग्रह हेतु अपने अधीन अथवा अपने से अभिन्न माया द्वारा (आत्म-माया द्वारा) मानो देहधारी हुआ है इस प्रकार लोकचक्षु में प्रतीत होता है। भगवान् शंकराचार्य ने अपने गीता भाष्य के उपोद्घात में ऐसा ही कहा है—'स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नः त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां प्रकृति वशीकृत्य अजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवानिव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते, सुप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया इति' अर्थात् वही भगवान् सर्वदा ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, शक्ति, वीर्य तथा तेजयुक्त है॥ वह अज, अव्यय तथा भूतगणों का ईश्वर है एवं नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला है तथापि अपनी वैष्णवी माया नामक प्रकृति को वशीभूत कर अपनी माया के द्वारा मानो देहवान् हुआ है, मानो उत्पन्न हुआ है, मानो लोकानुग्रह कर रहा है ऐसा ही प्रतीत होता है। उनके (भगवान् के) इस संबंध में अपना कोई प्रयोजन न रहने पर भी मानो जीवों पर अनुग्रह कर रहा है ऐसा प्रतीत होता है। भगवान् के इस विग्रह के संबंध में शास्त्रज्ञपुरुषों में कुछ मतभेद है। कोई कोई परमेश्वर के देह-देही भाव को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके मत से नित्य, विभु, परिपूर्ण, निर्गुण, सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् , जिनको परमात्मा

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

या वासुदेव कहा जाता है वही उनका विग्रह है और उनका कोई भौतिक मायिक देह नहीं है। श्रुति में और वेदान्त सूत्र में कहा गया है 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मानुश्छित्तिधर्म्मा' (बृ० उ०), 'असम्भवस्तु संभवोऽनुपपत्तेः', 'नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (ब्र० सूत्र० २।३।९,१७) अर्थात् 'वह आकाश की तरह सर्वगत और नित्य है', 'यह आत्मा अविनाशी है एवं अनुच्छित्तिधर्मा है अर्थात् उसका उच्छेद संभव नहीं है', 'सत् पदार्थों की (आत्मा की) उत्पत्ति असंभव है क्योंकि इस प्रकार की उत्पत्ति युक्तिविरुद्ध है', 'आत्मा उत्पन्न नहीं होती है' क्योंकि आत्मा की उत्पत्ति के संबंध में कोई श्रुति वाक्य का प्रमाण तो है ही नहीं वरन् श्रुति वाक्यों से आत्मा का नित्यत्व प्रतिपादित (प्रमाणित) होता है। अतः इन लोगों के मत के अनुसार श्लोक की योजना इस प्रकार होगी—मैं (परमात्मा) जन्म-विनाशरहित, सर्वावभासक एवं समस्त पदार्थों का कारण-स्वरूप हूँ। इस प्रकार सर्वेश्वर होने पर भी माया का अधिष्ठान होने के कारण (अर्थात् मेरा आश्रय कर ही माया का सभी कार्य प्रकाशित होता है इसलिए) 'स्वां प्रकृतिम्'—स्वकीय प्रकृति को अर्थात् सच्चिदानन्दघन एकरस स्वभाव को अर्थात् अपने स्वरूप को ['स्वाम्' शब्द के द्वारा माया को प्रकृति से अर्थात् अपने स्वरूप से पृथक् कर दिखा रहे हैं]। अधिष्ठाय—अधिष्ठित करके अर्थात् अपने स्वरूप में अवस्थित होकर ही इस विषय में श्रुति कह रही है कि "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः, स्वे महिम्नीति"—[हे भगवन्, परमात्मा किसमें प्रतिष्ठित है ? (उत्तर)—वह अपनी महिमा में अर्थात् अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित है।] सम्भवामि—मानो जन्म लेता हूँ। देह-देही भाव के विना ही देही के समान व्यवहार करता रहता हूँ। [जो देह-विहीन है और सच्चिदानन्दस्वरूप है उसमें फिर देहत्व प्रतीत किस प्रकार होता है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं— आत्ममायया—मैं निर्गुण, शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् वासुदेव देह-देही-भाव शून्य हूँ तथापि मैं देहधारी हो गया हूँ, ऐसी लोगों को जो प्रतीति होती है वह केवल मायामात्र है।] भागवत में भी कहा गया है-'कृष्णमेनमवेहि त्वाम् आत्मानमखिलात्मनाम्। जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया'। [अर्थात् तुम इस कृष्ण को सभी जीव के आत्मस्वरूप जानो। जगत् के हित के लिए माया से देही की तरह (शरीरधारी के सदृश) प्रतीयमान हो रहे हैं]। अब कोई कोई निराकार निर्विकार परमानन्दस्वरूप परमेश्वर के भी देह-देही को वास्तविक (यथार्थ) मानते हैं। "निर्युक्तिकं ब्रुवाणस्तु नास्मा-

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

न्निर्विनिवार्यते" अर्थात् जो युक्तिहीन बातें कहते हैं उनका हम लोग निवारण नहीं करेंगे—इस नियम के अनुसार उनलोगों के सम्बन्ध में कुछ न कहना ही उचित होगा।

टिप्पणी (२) श्रीधर—(क) तुम कहते हो कि तुम अनादि हो, तब तुम्हारा जन्म कैसे संभव हो सकता है ? (ख) तुम कहते हो कि तुम्हारे अनेक जन्म व्यतीत हुए हैं किन्तु तुम तो अविनाशी हो, तुम्हारा पुनर्जन्म किस प्रकार से संभव हुआ है ? (ग) पुण्य-पाप और उसके कारण धर्माधर्म का फलभोग करने के लिए जीव का जन्म होता है किन्तु तुम तो पुण्य-पापरहित ईश्वर हो, जीव की तरह तुम्हारा जन्म किस प्रकार संभव हो सकता है ?—इसके उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं—

यह सत्य है कि (मैं अजन्मा हूँ तथापि) अहं अजः अपि सन्—मैं जन्मरहित होकर भी अव्ययात्मा अपि सन्—अव्ययात्मा होकर भी अर्थात् अनश्वरस्वभाव होकर भी (मेरा स्वरूप कभी नष्ट न होने पर भी) भूतानाम् ईश्वरः अपि सन्—सर्वभूतों का ईश्वर होकर भी अर्थात् कर्मपारतन्त्र्य रहित होकर (कर्म या कर्मफल के अधीन न होकर) सब के ऊपर ईशनशील होकर भी आत्ममायया सम्भवामि—अपनी माया द्वारा अर्थात् अपने सम्यक् अस्खलित (अर्थात् किसी अंश में भी च्युत न हुई) ज्ञानबलवीर्यादि-शक्तियों के साथ ही प्रकट होता हूँ। (प्रश्न) तथापि जब तुम्हारा षोड़श-कलात्मक लिंगदेह नहीं है तब तुम्हारा जन्म किस प्रकार हो सकता है ? [५ कर्मेन्द्रियों की, ५ ज्ञानेन्द्रियों की, ५ प्राणों की और अन्तःकरण को सूक्ष्म शक्तियाँ—इन सोलह तत्त्वों से युक्त होने पर उनको जीव या लिंगदेह कहा जाता है। जन्ममरण लिंग देह का ही होता है]। इसके उत्तर में कह रहे हैं—स्वां प्रकृतिम् अधिष्ठाय—स्वकीया (अपनी) शुद्ध सत्त्वात्मिका प्रकृति को स्वीकार कर (अवलम्बन कर) मैं विशुद्ध और अर्जित (क्रमशः वृद्धिप्राप्त अर्थात् अत्यन्त प्रभावशाली) सत्त्वमूर्ति का परिग्रह कर स्वेच्छा से अवतीर्ण होता हूँ।

(३) शंकरानन्द टीका—"कर्म्मणा जायते जन्तुः कर्म्मणैव प्रलीयते" अर्थात् कर्म के द्वारा जन्तु (प्राणी) उत्पन्न होता है और कर्म द्वारा ही मृत्यु को प्राप्त होता है, इस प्रकार के स्मृतिवाक्य से सिद्ध होता है कि पाप पुण्यादि कर्म ही जन्मादि के हेतु होते हैं। तुम ईश्वर हो और स्वतन्त्र हो, अतः तुममें उन पाप पुण्यों का अभाव रहने पर तुम्हारा जन्मादि किस प्रकार संभव हो सकता है ? इस प्रकार की शंका के उत्तर में "माया के द्वारा ही

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

मेरा जन्मादि होता रहता है। और साधारण लोगों के समान (तरह) कर्म द्वारा मेरा जन्म नहीं होता है यह स्पष्ट बतलाने के लिए श्रीभगवान् अब कहते हैं अजः अपि सन्—किसी समय किसी प्रकार से और किसी कारण-वश जो जन्मग्रहण नहीं करते हैं उन्हें अज (अजन्मा) कहा जाता है। श्रुति में भी कहा गया है—"न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" अर्थात् उसका न कोई उत्पत्तिकारी (जन्म देनेवाला) है और न कोई अधिपति (शासक) है। अत एव जन्म के हेतुभूत पापपुण्यरूप उपादानादि के अभाव से मैं अज अर्थात् जन्मरहित ही हूँ। इस प्रकार अजन्मा होकर भी और अव्ययात्मा सन् अपि—निरवयव होने के कारण (मेरा कोई अवयव अर्थात् शरीरादि न रहने पर) विनाश की कारणभूत कोई सामग्री के साथ मेरा संबंध नहीं रह सकता है, अत एव मैं अव्ययात्मा अर्थात् नित्य हूँ। अव्यय (नाशक्रिया के अविषय) आत्मा (स्वभाव) जिनका अर्थात् जिनका कभी नाश होने की सम्भावना नहीं है, उन्हें अव्ययात्मा अर्थात् नित्य कहा जाता है। श्रुति में कहा गया है "अजो नित्यः" अर्थात् परमात्मा अज व नित्य है। इस वाक्य के अनुसार मैं 'अव्ययात्मा' अर्थात् नित्य हूँ—मैं कभी षड् विकार से (जायते, अस्ति इत्यादि षड् भावविकारों से) युक्त नहीं होता हूँ। अज और अव्ययात्मा—ये दो विशेषण मध्यवर्त्ती अन्यान्य विकारों का अभाव (अर्थात् अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते—ये मध्यवर्त्ती चार विकारों का भी अभाव) सूचित करने के लिए प्रयुक्त हुये हैं। आदि एवं अन्त विकार का अभाव होने पर मध्यवर्त्ती कोई विकारों का अस्तित्व संभव नही होता है। अच्छा, मान लिया कि कर्मद्वारा तुम्हारा जन्म नहीं हुआ है तथापि ईश्वर तो तुम्हारा भी (मायिक देह का भो) नियन्ता होगा ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—भूतानाम् ईश्वरः अपि सन्—ब्रह्मादि का और दूसरे भूतों का मैं ही ईश्वर अर्थात् केवल सन्निधिमात्र से मैं सबका नियन्ता हूँ। इस संबन्ध में 'एषः सर्वेश्वरः' (यह सबका ईश्वर है) इस प्रकार श्रुतिवाक्य ही प्रमाण है। मेरा नियन्ता दूसरा कोई नहीं है कारण पहले हो कहा गया है कि 'न चाधिपः' ऐसी श्रुति है। इसलिये मैं किसी के भी नियोग का विषय नहीं हूँ। अर्थात् दूसरों के द्वारा मैं कभी कर्म में नियुक्त नहीं होता हूँ। इस प्रकार अज, अव्ययात्मा (नित्य) एवं ईश्वर (सभो के नियन्ता) होकर भी मैं निर्विकार परमात्मा स्वां प्रकृतिं—'प्रकृतिं प्रकर्षेण कृतिः। सृष्ट्यादि क्रिया यस्याः सकाशात्' अर्थात् सृष्टि आदि क्रिया जिसके संबंध से प्रकृष्टरूप में होती है वह मेरी प्रकृति (अर्थात् त्रिगुणात्मिका दैवी माया) है। श्रुति में भी कहा

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

गया है "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" अर्थात् माया को ही प्रकृति जानो। उस स्वकीया प्रकृति को अर्थात् 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' (देह, इन्द्रियाँ प्रभृति प्रकृति के) कार्य जिनकी उपाधि है वह जीव और माया (कारण) जिनकी उपाधि है वही ईश्वर है) । उक्त श्रुतिवाक्य के अनुसार अपनी उपाधिभूत अव्यक्त नामक मूल प्रकृति को अधिष्ठाय—अधिष्ठित करके अर्थात् उसी प्रकृति में और उसके कार्य में 'मैं और मेरा' भावना (अभिमान) करके सम्भवामि—वही अजत्वादि (अजनादि) लक्षण विशिष्ट मैं जन्म लेता हूँ आत्ममायया—अर्थात् अपने अधीन माया द्वारा अपनी उत्पत्ति को स्वीकार करता हूँ अथवा सूर्य की प्रभा के समान, अग्नि की दाहिकाशक्ति के समान, आत्ममाया के द्वारा ही, अर्थात् मुझसे अभिन्न (मुझसे जो पृथक् नहीं रहती है वही) माया के द्वारा ही मैं ऐसी उत्पत्ति करता हूँ। श्रुति में भी कहा गया है—'देवात्मशक्तिस्वगुणैनिगूढ़ाम्'—अर्थात् अपने गुणों द्वारा विशेष रूप से निगूढ़ (छिपी हुई) स्वयंप्रकाश परमात्मा की शक्ति का शरणापन्न हो रहे हैं। यदि मुझसे (परमात्मा से) शक्ति या माया भिन्न है, ऐसा माना जाता है तो फिर अद्वैत की हानि होगी और उक्त श्रुतियों के साथ विरोध उपस्थित होगा। इसी कारण से अग्नि की दाहिका शक्ति जिस प्रकार अग्नि से अभिन्न है—उसी प्रकार प्रकृति शब्दवाच्य माया मुझसे अभिन्न है। उसी माया द्वारा ही मैं जन्मवान् (जन्मवाला) होता हूँ, वास्तविक मेरा जन्म नहीं होता है क्योंकि मेरा जन्म यदि होता तब 'निष्कलं निष्क्रियम्' 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (ज्ञानस्वरूप आत्मा न तो जन्मग्रहण करती है और न मृत्युग्रस्त होती है) इत्यादि श्रुतिवाक्य के साथ विरोध उपस्थित होगा। अत एव माया द्वारा ही मैं देव, मनुष्यादिरूप में जन्मग्रहण करता हूँ। श्रीभगवान् का यही कहने का अभिप्राय है। इसी प्रकार से 'तत्' पदार्थ ईश्वर के जन्मादि मायिक है ऐसा कहने पर 'त्वं' पदार्थ जीव भी ईश्वर से अभिन्न होने के कारण जीव के जन्म और कर्मादि अविद्या (माया) जनित ही होते हैं, ऐसा सूचित किया गया है।

(४) **नारायणी टीका**—श्लोक में "अज" शब्द के द्वारा भगवान् ने अपने जन्म का और "अव्ययात्मा"—शब्द के द्वारा उनके नाश का निराकरण किया और ईश्वरोऽपि सन्–कहकर यही प्रतिपादित किया कि वह धर्माधर्म के वश नहीं है! अपूर्व देहेन्द्रियादि के ग्रहण रूप जो जन्म और पूर्वगृहीत देहेन्द्रियादि के जो विशेषरूप नाश या मृत्यु होते हैं वे धर्माधर्म रूप अदृष्ट के प्रभाव से ही होते हैं। और सत्-असत् कर्म का (शुभाशुभ कर्म का)

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अनुष्ठानकारी जीव का ही अदृष्ट होता है किन्तु नित्य शुद्ध परमेश्वर का कोई धर्म न रहने पर ईश्वर कर्माधीन नहीं होते हैं। इस कारण उनके जन्म-मृत्यु और कर्म तथा कर्मविपाक (कर्मफल भोग) भी सम्भव नहीं हैं। तथापि मेरे (ईश्वर के) अवतार देह की जो जन्ममृत्युरूप लीलाएँ शास्त्र में वर्णित हुई हैं वे सभी अज्ञानी दृष्टि को अवलम्बन कर कही गयी हैं। मैं अचल, अविकारी, अज, अव्यय ब्रह्म हूँ। अपनी माया द्वारा (कल्पनाशक्ति द्वारा) ही इन्द्रजाल के समान मैं अपने को ऐसा प्रतीत कराता हूँ। प्रश्न यह हो सकता है कि यदि अवतार-देह मायिक (कल्पित) है तो फिर उसकी सार्थकता क्या है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार स्वप्न की क्षुधा (भूख) स्वप्नकल्पित अन्न के द्वारा ही निवृत्त हो सकती है ऐसा ही मायाच्छन्न (माया से भ्रान्त) जीव का अज्ञान भी मायाकल्पित अवतार देह की लीलाओं का अनुसंधान और अनुकरण करके अनायास ही निवृत्त होता है। इस कारण से ही अज्ञों के उद्धार के लिए प्रतियुग में भगवान् अलौकिक शक्तिसम्पन्न अवतारदेह धारण कर मानो आविर्भूत हुए हैं—ऐसा अपनी माया द्वारा लोकदृष्टि से प्रतीत होता है।

(५) नीलकण्ठ—जिस देह के द्वारा भगवान् ने विवस्वान् को (सूर्य को) प्रथम उपदेश दिया था उस देह का उपादान क्या है?

(क) यदि कहते हो कि अविद्या ही उस शरीर का उपादान है तो ठीक नहीं होगा कारण परमेश्वर की अविद्या नहीं है।

(ख) यदि कहते हो कि जीव की अविद्या ही उसका उपादान है अर्थात् जीव अविद्यावश भगवान् के उस प्रकार के शरीर को देखता है तो फिर रजत में शुक्ति के (चांदी में सीपि के) दर्शन की तरह भगवद्देह का दर्शन भी मिथ्या ही होगा।

(ग) यदि कहते हो कि चिन्मात्र (चैतन्यमात्र हो) अवतार शरीर का उपादान है तब भी वह युक्तियुक्त नहीं होगा कारण चित् का (ज्ञानमात्र का) साकारत्व (विशेष आकार अर्थात् रूप ग्रहण करना) संभव नहीं होता है। यदि होता है तो वह शरीर अतीन्द्रिय होगा अर्थात् इन्द्रियादि द्वारा ग्रहण के योग्य नहीं होगा। अतः किस उपादान का अवलम्बन कर भगवान् ने देहपरिग्रह किया था जिससे देवकी के गर्भ में प्रवेशकर बाल्य, कौमार, पौगण्ड यौवनादि अवस्थाओं में लीला करते देखा गया? (उत्तर)—इसके उत्तर में श्री भगवान् कह रहे हैं—'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया'। इसका अर्थ इस

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

प्रकार है—जीवात्मा ही अनात्मभूत तेज, आपः (जल), अन्न (पृथ्वी) को अर्थात् पंचभूतात्मिका प्रकृति का अवलम्बन कर जननादि लाभ करता है किन्तु मैं स्वयं अपने अर्थात् मुझसे अभिन्न प्रकृति को अर्थात् प्रत्येक चैतन्य का ही अवलम्बन कर (दूसरे उपादान को नहीं) आत्ममाया द्वारा अर्थात् अपनी माया द्वारा सृष्टि करता हूँ। जिस प्रकार कोई मायावी खेल (Ropetrick) दिखाते समय अपने स्थान से प्रच्युत न होकर (अर्थात् अपने स्थान पर उपविष्ट रहकर) तथा दर्शकों से अदृश्य होकर किसी भी स्थूल या सूक्ष्म वस्तु का आश्रय न लेकर केवल माया द्वारा (जादू के द्वारा) ही अपने सदृश द्वितीय एक मायावी सूत्र पकड़कर आकाश में उठ रहे हैं ऐसी सृष्टि करता है अर्थात् दर्शकों को ऐसा ही दिखाता है, उसी प्रकार मैं कूटस्थ (सदा स्थिर, अविचलित) चिन्मयस्वरूप में स्थित रहकर अपनी माया द्वारा अपने चिन्मय शरीर का सर्जन करता हूँ और उनको बाल्यादि अवस्थाओं को सूत्रारोहणकारी मायावी की तरह दिखाता हूँ। केवल विशेषता यह है कि लौकिक मायावी माया का उपसंहार कर दूसरे माया-देह का उपसंहार करते हैं किन्तु मैं अपनी माया का उपसंहार नहीं करता हूँ। इस कारण चैतन्यस्वरूप मैंने हिरण्य-श्मश्रुत्वादिरूपविग्रह द्वारा आदित्य को उपदेश दिया था यह जो मैंने पहले कहा वह युक्तिसंगत ही है। इसप्रकार ही मुझमें वियदादि (आकाशादि) उपादानत्व लक्षण और सर्वेश्वरत्व सिद्ध होता है—दूसरे किसी प्रकार से यह नहीं हो सकता है। अत एव सिद्ध हुआ कि परमेश्वर का मायामय शरीर नित्य है। अतः जिस देह द्वारा मैंने विवस्वान् को (सूर्य को) उपदेश दिया उसी देह द्वारा ही मैं तुम्हें भी उपदेश दे रहा हूँ। इसी कारण से अन्यत्र (सप्तशती में भी) कहा गया है कि 'देवानां कार्यसिद्ध्यर्थं आविर्भवति सा यदा। उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याऽप्यभिधीयते' [देवताओं की कार्यसिद्धि के लिए वही महामाया जब आविर्भूत होती है तब वह नित्य होने पर भी इस लोक में उत्पन्न हुई है ऐसा कहा जाता है। इस कारण महामाया का (माया-शबलित ब्रह्म का) देह (स्वरूप) नित्य होने पर भी उसका आविर्भावानुसार (जिस प्रकार प्रकट होती है उसी के अनुसार) सूर्य के आविर्भाव से विभिन्न अवस्था की तरह (प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल इत्यादि अवस्था की तरह) अवतार शरीर की बाल्यादि अवस्था संभव होती है]।

[तुम सच्चिदानन्दस्वरूप हो, कब और किस कारण से तुम्हारा जन्म होता है अर्थात् जन्म न होने पर भी देहधारी की तरह तुम्हारा व्यवहार होता है ? इसके उत्तर में श्री भगवान् कह रहे हैं :—]

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे भारत, यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः अधर्मस्य च अभ्युत्थानम् भवति तदा अहम् आत्मानं सृजामि ।

अनुवाद—हे भारत ! जब जब ही धर्म में ग्लानि उपस्थित होती है और अधर्म का प्रादुर्भाव होता है तभी मैं (माया से) अपने को उत्पन्न करता हूँ ।

भाष्यदीपिका—हे भारत—हे भरतवंशावतंस अर्जुन ! अथवा तुम 'भा' में (प्रकाशस्वरूप ज्ञान में) रत रहते हो, इस कारण तुम धर्म की ग्लानि नहीं सह सकोगे । अतएव मेरा यह अवतार रूप भी तुम्हारा वांछनीय (इच्छा पूर्ण करनेवाला) होगा, इस अभिप्राय से भगवान् ने 'भारत' कहकर सम्बोधन किया ।

यदा यदा हि—जिस जिस समय में [पुराण में मेरे उस प्रकार के अनेक अवतार शरीर का ग्रहण प्रसिद्ध है वह (अर्थात् पुराण-प्रसिद्ध) प्रकाश करने के लिए यहाँ 'हि' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

धर्मस्य ग्लानिः—प्राणीगणों के अभ्युदय और मोक्ष का साधनरूप जो वर्णाश्रम धर्म है उसी की ग्लानि अर्थात् हानि उपस्थित होती है । [धर्म-प्रवृत्ति (विधि) व निवृत्ति (निषेध) मूलक है अर्थात् विहित कर्मानुष्ठान और निषिद्धकर्म का परित्याग करने से ही धर्म होता है । वर्ण और आश्रम के अनुसार जिसके लिये जैसा कर्म विहित है उसके अनुसार वर्ण और आश्रम के आचार (नियम-पालन) द्वारा ही इस धर्म की अभिव्यक्ति (प्रकाश) होता है (मधुसूदन)। जब वर्ण और आश्रम के आचार शास्त्रीय विधि के प्रतिकूल या विरुद्ध होते हैं तभी यथार्थ धर्म की (अर्थात् आत्मा की) हानि होती है कारण ऐसा होने से मनुष्य इहलोक या परलोक में समृद्धि या कल्याण प्राप्त नहीं कर सकते अथवा अपने अपने आश्रम धर्म से च्युत होने पर (अर्थात् गिर जाने से) चित्तशुद्धि द्वारा मोक्ष के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकते ।

अधर्मस्य च अभ्युत्थानम्—और जब वेदनिषिद्ध नाना प्रकार के दुःख के हेतुभूत अधर्म के "अभितः" (अर्थात् सभी ओर से सभी वर्णों में तथा आश्रमों में) उद्भव या आविर्भाव [अधिक (श्रीधर)] होता है । [भगवान् धर्म की हानि को सहन नहीं कर सकते हैं । केवलमात्र धर्म हानि

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

होने पर ही भगवान् मायाविग्रह अर्थात् अवतार-देह या लीलाशरीर धारण करते हैं, यही नहीं लोगों के अधर्म के प्रति प्रवृत्ति का आधिक्य होने पर भी वे वैसा शरीर धारण कर लेते हैं, यहाँ पर यही कहने का अभिप्राय है। (आनन्दगिरि)]

तदा अहम् आत्मानं सृजामि—उसी समय मैं नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा वासुदेव माया द्वारा आत्मदेह (अपना शरीर) सृष्ट करता हूँ अर्थात् मेरे नित्य सिद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप को ही माया के द्वारा लोगों पर अनुग्रह (दया) करने के लिए इस प्रकार दिखाता हूँ जिससे वे देख कर मान लेते हैं कि मेरा अवतार देह सृष्ट हुआ है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—(तुम कब अवतार शरीर ग्रहण करते हो ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—यदा यदेति) ग्लानिः—हानि। अभ्युत्थानम्—आधिक्य। और सब स्पष्ट है।

(२) शंकरानन्द—देवादि रूप में माया द्वारा तुम्हारा जन्म कब होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं—धर्मस्य—वर्ण और आश्रमवासियों के अभ्युदय (वृद्धि) और निःश्रेयस् (मोक्ष) जिसके द्वारा सिद्ध होते हैं ऐसे सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करने के योग्य वैदिक धर्म की ग्लानिः—विघ्नकारी (असुर प्रवृत्ति) द्वारा विशेष रूप से विच्छित्ति (विनाश) यदा यदा हि भवति—जब जब होती है। ["हि" शब्द पुराण में इसकी (अवतार शरीर ग्रहण की) जो प्रसिद्धि है वह प्रकाश करने के लिए प्रयुक्त हुआ है]। उसी प्रकार अधर्मस्य अभ्युत्थानं भवति—जब जब अधर्म का अर्थात् सर्व प्रकार के अनर्थ के कारण अधर्म का अभ्युथान अर्थात् अभितः (सर्वत्र अर्थात् सभी आश्रमों में और वर्णों में) उत्थान होता है तदा आत्मानम् अहं सृजामि—उसी समय धर्म की अभिवृद्धि और अधर्म का विनाश करने के लिए और धार्मिक पर अनुग्रह और अधार्मिक का निग्रह करने के योग्य आत्मा को (अपने देह को) अपनी ही माया के द्वारा मैं (सभी का नियन्ता ईश्वर) सृष्टि (उत्पत्ति) करता हूँ।

(३) नारायणी टीका—भिन्न भिन्न वर्ण और आश्रम के लिए जो-जो कर्म वेदादि शास्त्र द्वारा विहित हैं और जिनके द्वारा जगत् के प्राणियों का अभ्युदय (वृद्धि) होता है और मनुष्य निःश्रेयस् (मोक्ष) को प्राप्त हो सकते हैं, वही धर्म है। जो कुछ उसके विपरीत है वह अधर्म है। इस कारण भागवत में कहा गया है "वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः"। धर्म दो प्रकार के

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

हैं—(क) प्रवृत्तिलक्षण धर्म। इसके द्वारा [अर्थात् याग-यज्ञादि और अन्यान्य (वेदविहित) काम्य कर्मों के अनुष्ठान द्वारा] धर्म, अर्थ, काम ये त्रिवर्ग (तीनों पुरुषार्थ) सिद्ध होकर प्राणी वर्ग का अभ्युदय (वृद्धि) होता है। और (ख) निवृत्तिलक्षण धर्म। इसके द्वारा अर्थात् कर्मफल की आकांक्षा त्याग कर कर्त्तव्य कर्म उत्तमरूप से अनुष्ठित होने पर मनुष्य निःश्रेयस् अर्थात् परम पुरुषार्थ (सर्वदुःख की निवृत्तिरूप मोक्ष) लाभ करते हैं। इस प्रकार की वेदानुकूल प्रवृत्ति और निवृत्तिलक्षण धर्म की जब ग्लानि (हानि) होती है और अधर्म का उत्थान होता है अर्थात् वेदनिषिद्ध कर्म में प्रवृत्ति प्रबल देखी जाती है और वही अधर्म प्राणियों के नाना प्रकार के दुःख के कारण होते हैं तब मैं (सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर) नित्य सिद्ध होने पर भी अर्थात् अपने अचल स्वरूप में स्थित रहने पर भी (क) दुष्टों का दमन कर साधु भक्तों की रक्षा कर, वही अधर्म की प्रवृत्ति को नष्ट करने के लिए तथा (ख) धर्मों का संस्थापन करने के लिए मैं अपनी माया द्वारा देव, मनुष्यादि-रूप धारण कर अपने को सृष्ट करके धराधाम में आविर्भूत होता हूँ। जन्म ग्रहण न कर भी माया शक्ति से (कल्पना शक्ति द्वारा) इन्द्रजाल की तरह मानों अवतार देह धारण कर अपने को प्रकट किया ऐसा लोगों को दिखाता हूँ। प्रश्न हो सकता है कि किस प्रकार समझा जा सकेगा कि धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि हुई है? इस विषय में ब्रह्म वैवर्तपुराण में कहा गया है कि—

वेदहीनो ब्राह्मणश्च बलहीनश्च भूपतिः।
जातिहीना जनाः सर्वे म्लेच्छभूपो भविष्यति॥
स्वल्पधर्मरता भूपाः स्वल्पवेदरता द्विजाः।
व्रतधर्मरताः केचित् सर्वे स्वच्छन्दगामिनः॥
नारीषु न सती कापि पुंश्चली च गृहे गृहे।
करोति तर्जनं कान्तं भृत्यतुल्यं च कम्पितम्॥

(ब्राह्मण वेदहीन, राजा शक्तिहीन, जनसमूह जातिहीन अर्थात् अपनी-अपनी जाति धर्मत्यागी) और राजा जब आचारशून्य म्लेच्छ होते हैं अथवा जब राजा अपना धर्म अतिअल्प मात्रा में पालन करते हैं, ब्राह्मण-गण जब बहुत कम ही वेद मार्ग का अनुवर्तन करते हैं और सभी जब स्वेच्छाचारी होते हैं तब यह समझना होगा कि धर्म की ग्लानि (हानि) उपस्थित हुई है और अधर्म का प्रादुर्भाव हुआ है। इस अवस्था में नारी

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

जाति के भीतर सती नहीं दिखाई पड़ती है—घर घर में केवल व्यभिचारिणी स्त्रियाँ रहती हैं और वे भृत्य के प्रति (नौकर के प्रति) जैसा व्यवहार करती हैं ऐसा अपने-अपने पति को तर्जन करती (धमकाती) है और पति स्त्री के भय से सदा कम्पित रहते हैं। भागवत में और दूसरे पुराणों में अधर्म का अभ्युत्थान होने पर समाजचित्र किस प्रकार का दिखाई पड़ेगा यह विस्तृत रूप में वर्णित है।

[किन कारणों से भगवान् अवतार रूप ग्रहण करते हैं उनको और विशद रूप से कहा जा रहा है—]

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

अन्वयः—साधूनां परित्राणाय (तथा) दुष्कृतां विनाशाय च धर्मसंस्थापनार्थाय (च) युगे युगे (अहं) सम्भवामि ।

अनुवाद—सत् मार्ग में स्थित साधुओं के परित्राण (रक्षा) के लिए दुष्कर्मपरायणों के विनाश के लिए तथा धर्म संस्थापन करने के लिए प्रत्येक युग में मैं देह परिग्रह करता रहता हूँ अर्थात् अवतार रूप में अवतीर्ण होता हूँ।

भाष्यदीपिका—साधूनां परित्राणाय—सत्पथावलम्बी साधुओं का त्राण करने के लिए अर्थात् पुण्य कर्मकारी साधुगण, जो स्वधर्म का त्याग न कर प्राण का भी त्याग करना स्वीकार करते हैं, उनकी, (सर्वतोभाव से) रक्षा करने के लिए दुष्कृतां विनाशाय—पापकारी व्यक्तियों को अर्थात् जो स्वधर्म त्यागकर सदा शास्त्रनिषिद्ध आचरण करते हैं—इस प्रकार के पाषण्डों को नष्ट करने के लिए तथा धर्मसंस्थापनार्थाय—धर्म की सम्यक् (उचित) प्रकार से स्थापना करने के लिए अर्थात् अधर्म को निवारित कर सत् पुरुष का अभ्युदय (समृद्धि) और निःश्रेयस् के (मोक्ष के) हेतु जो वैदिक धर्म हैं उसे पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करने के लिए युगे युगे—प्रत्येक युग में (अर्थात् सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि युग में) बारबार सम्भवामि—अपनी माया शक्तिद्वारा आप ही देव-मनुष्यादि रूप में आविर्भूत होता रहता हूँ अर्थात् मैं नित्य और अज (जन्मरहित) होने पर भी माया से मनुष्यों के समक्ष मैं मानो उत्पन्न हुआ हूँ ऐसा प्रतीयमान होता हूँ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[किस कारण तुम शरीर परिग्रह करते हो ? इसके उत्तर में कह रहे हैं]

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

साधूनां परित्राणाय—स्वधर्म पालन करने वाले साधुओं की रक्षा करने के लिए दुष्कृतां विनाशाय—जो दुष्कर्म (बुरे कर्म) करते हैं उन दुष्टों का विनाश (वध) करने के लिए

धर्मसंस्थापनार्थाय च—तथा धर्म की भलीभाँति स्थापना करने के लिए [साधुओं की रक्षा और दुष्टों के विनाश (वध) द्वारा धर्म को स्थिर (प्रतिष्ठित) करने के उद्देश्य से]

युगे युगे—उस उस आवश्यक अवसर पर

सम्भवामि—मैं अवतीर्ण होता हूँ (अवतार देह ग्रहण कर अपने को प्रकट करता हूँ)। दुष्टों का निग्रह करने पर भी भगवान् में नैर्घृण्य अर्थात् निष्ठुरता की आशंका करना उचित नहीं होगा कारण "लालने ताड़ने मातुर्नो-कारुण्यं यथाऽर्भके। तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः॥" (देवी भागवत) अर्थात् जैसे माता बालक को लालन (प्यार) व ताड़न करती है किन्तु ताड़ना करने पर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि बालक के प्रति माता को करुणा का अभाव है, उसी प्रकार गुण और दोष का नियन्त्रण करने वाले परमेश्वर को भी कभी निष्ठुर नहीं कहा जा सकता।

(२) शंकरानन्द-पूर्व श्लोक में जैसा कहा गया है उसी को अब स्पष्ट किया जा रहा है—साधूनां परित्राणाय—जो प्राणवियोग के भय से भी अपने धर्म का त्याग नहीं करते वे ही साधु हैं। जो एकमात्र स्वधर्म के शरणागत (स्वधर्मनिष्ठ) हैं केवल उन साधुओं के परित्राण (रक्षा) के लिए अर्थात् उनकी, प्रार्थना विना ही जिससे उनके इहलोक तथा परलोक दोनों विच्छिन्न (नष्ट) न हो जावें उस प्रकार की रक्षा (परित्राण) करने के लिए। श्रीभगवान् के इस वाक्य के द्वारा यह सूचित हो रहा है कि ईश्वर ही हम लोगों को सर्व प्रकार से त्राण करने वाला है, ऐसा निश्चय कर साधुओं का धैर्य के साथ स्वधर्म में स्थित रहना कर्तव्य है। दुष्कृतां विनाशाय—और जो तीन कारणों द्वारा (काय, मन और वाक्य द्वारा) शास्त्रनिषिद्ध ही आचरण करते हैं, शास्त्र अनुकूल कुछ भी नहीं करते, जगत् में दूषणकारी उन पापियों का (जो 'दुष्कृत' कहे जाते हैं उनका) समूल नाश करने के लिये और धर्मसंस्थापनार्थाय—सभी अधिकारी सत्पुरुष द्वारा नियमपूर्वक शास्त्र के अनुसार धर्म के अनुष्ठापन (अनुष्ठान कराने को) को धर्म-संस्थापन कहा जाता है। यह धर्मसंस्थापन ही अर्थ (अर्थात् प्रयोजन) जब होता है तब उसे 'धर्मसंस्थापनार्थाय' कहा जाता है। उस धर्मसंस्थापन के लिए

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

युगे युगे—सत्य त्रेतादि युग में बार-बार सम्भवामि--अपनी माया से आप ही उत्पन्न होता रहता हूँ अर्थात् अवतार लेता हूँ (अवतार-देह ग्रहण करता रहता हूँ)। भगवान् के वाक्य द्वारा यह सूचित होता है कि (१) साधुओं का परिपालन (२) असाधुओं का विनाश और (३) धर्म का संस्थापन करना–इन तीन कर्मों के लिए भगवान् के अवतार का प्रयोजन है। यज्ञादि धर्म संरक्षित होने से देवता वृद्धिप्राप्त (सन्तुष्ट) होते हैं। उनकी कृपा से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है और अन्न के द्वारा सब प्राणी जीवन धारण करते (जीते) हैं। इस कारण धर्म के संरक्षणमात्र से सब विश्व रक्षित होता है यही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—तीन प्रयोजनों से भगवान् मर्त्यधाम में अवतार देह-ग्रहण करते हैं। सत् मार्ग में स्थित साधुओं की रक्षा, असाधुओं का विनाश और धर्म का संस्थापन; इनमें धर्म-संस्थापन ही मुख्य उद्देश्य है कारण धर्म प्रतिष्ठित होने पर ही सब विश्व की रक्षा होती है और शास्त्र-मर्यादा की भी कोई हानि नहीं हो सकती है। धर्म की सम्यक् प्रकार से स्थापना (प्रतिष्ठा) होने पर स्वतः ही साधुओं को रक्षा और दुष्टों का विनाश होता है फिर साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों का विनाश करने पर स्वतः ही धर्म का संस्थापन होता है। अतः एक तरफ तो साधुओं की रक्षा और दुष्टों का विनाश और दूसरी ओर धर्म की पुनः प्रतिष्ठा–वे परस्पर परस्पर से संबंधित हैं अर्थात् परस्पर परस्पर की अपेक्षा करते हैं इसलिये [भगवान् इन तीन प्रयोजनों के सिद्धि हेतु युग युग में अर्थात् जैसा अवसर उपस्थित होता रहता है उन्हीं अवसरों में अवतीर्ण होते हैं। 'युगे युगे' शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने इस प्रकार किया है–(क) प्रत्येक युग में बार-बार (ख) धर्म की हानि और अधर्म के अभ्युत्थान के सन्धिक्षण में (ग) आवश्यक अवसरों पर।] **अथवा**—श्लोक का इस प्रकार आध्यात्मिक अर्थ अधिकतर समीचीन प्रतीत होता है—**परित्राणाय साधूनाम्**—साधु वृत्तियों की (निवृत्ति मार्ग की या भगवदभिमुखी वृत्तियों की) रक्षा के लिए **विनाशाय च दुष्कृताम्**—दुष्ट (प्रवृत्तिमार्ग की या भगवद्विमुखी) वृत्तियों का विनाश (विशेष रूप से नाश) करने के लिए एवं **धर्मसंस्थापनार्थाय**–जिसने सकल जगत् को धारण करके रखा है वही सर्वाधिष्ठान सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा ही यथार्थ धर्म है। उनको सम्यक् प्रकार से (अर्थात् निरन्तर) भक्त के हृदय में स्थापित करने के लिये (स्थिर रखने के लिए अर्थात् दूसरी चिन्ता को छोड़कर केवल परमात्मा के चिन्तन में मेरा साधु भक्त जिससे सदा ही स्थित रह सके

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

उसके लिए) युगे युगे—सन्धिक्षण में अर्थात् प्रवृत्ति व निवृत्ति का जिस समय पर विरोध (युद्ध) आरम्भ होने की सम्भावना उपस्थित होती है उस सन्धिक्षण में ही सम्भवामि—मैं (सर्वात्मा वासुदेव) एकान्त भक्त के हृदय में अवतीर्ण (प्रकट) होता हूँ जिससे अज्ञानान्धकार से मुक्त होकर मुझमें स्थिति (ब्राह्मी स्थिति) लाभ कर सके।

भगवान् किस प्रकार आत्मभावस्थ होकर (अर्थात् भक्तों के हृदय में प्रकट होकर) अज्ञानान्धकार को दूरकर ज्ञानरूप प्रदीप जलाते हैं वह गीता १०।१०-११ श्लोकों में और स्पष्ट किये हैं। माया को पार करना जीव की शक्ति नहीं है—भगवान् कृपाकर अन्तर में अवतीर्ण होकर यदि उसी का नाश न करें तो किसी के लिये ही माया से उद्धार प्राप्ति करना और आत्मा में स्थिति (ब्राह्मी स्थिति) लाभ करना संभव नहीं है (गीता ७।१४ श्लोक द्रष्टव्य है)।

[मायामय ईश्वर का जन्म वस्तुतः नहीं है (मायिक है) तथापि जगत् परिपालन रूप कर्म उसके द्वारा ही सम्पन्न होता है। इस प्रकार जो जानते हैं उनको श्रेयोलाभ होता है और जो इस प्रकार नहीं जानते हैं उनके अज्ञान रूप पाप को निवृत्ति नहीं होती है इस कारण उनकी संसार गति चलती रहती है, श्रीभगवान् अब यही सूचित कर रहे हैं (आनन्दगिरि)]

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे अर्जुन ! एवं मे दिव्यं जन्म कर्म च तत्त्वतः यः वेत्ति सः देहं त्यक्त्वा पुनर्जन्म न एति माम् एति।

अनुवाद—हे अर्जुन ! मेरे इस प्रकार के दिव्य जन्म और कर्म के विषय में जिसको यथार्थज्ञान होता है वही व्यक्ति देहत्याग के बाद पुनः जन्म ग्रहण नहीं करता है क्योंकि वह मुझे ही प्राप्त कर लेता है।

भाष्यदीपिका—हे अर्जुन—हे शुद्धबुद्धे ! तुम्हारी बुद्धि निर्मल है, इस कारण मेरे जन्म के यथार्थ तत्त्व और साधुपरित्राणादि तथा जगत् परिपालनरूप कर्म के तात्पर्य की अनायास से ही उपलब्धि कर मुझे प्राप्तकर पुनर्जन्म से मुक्त हो सकोगे—यह सूचित करने के लिए श्रीभगवान् ने यहाँ पर 'अर्जुन' कहकर संबोधन किया। एवं—इस प्रकार अर्थात् ६ श्लोक से ८ श्लोक तक जो कुछ कहा गया है उसी प्रकार से मे—मेरा अर्थात् नित्य-

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

सिद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप मेरा दिव्यम्—अप्राकृत [जो दूसरे किसी के द्वारा संभव नहीं है वही असाधारण (मधुसूदन)] ऐश्वर्य अर्थात् अलौकिक जन्म कर्म च—जन्म अर्थात् माया से (लीलावश) शरीर-ग्रहण और कर्म अर्थात् साधु-परित्राण, असाधुविनाश और धर्मसंस्थापनपूर्वक जगत् परिपालन रूप कर्म तत्त्वतः-तत्त्व द्वारा (यथावत्) अर्थात् सर्वप्रकार से भ्रम की निवृत्ति कर यथार्थ ज्ञान के द्वारा। [इस प्रकार कहने का कारण यह है कि मोहग्रस्त अज्ञ जन भ्रमवश भगवान् को मनुष्य समझकर इस प्रकार आरोप करते हैं कि भगवान् का भी साधारण जीव की भाँति गर्भवासादिरूप जन्म ही होता है और उनके कर्म भी अपने भोग के लिए ही होते हैं किन्तु जो वेदान्तादि शास्त्र श्रवणकर विचार और विवेक द्वारा समस्त भ्रम को अपनोदन (दूर) कर भगवान् वस्तुतः जन्मरहित होने पर भी अर्थात् परमार्थतः शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप से कभी विच्युत न होकर भी अपनी माया द्वारा जन्म का अनुकरण (अर्थात् अवतार-देह ग्रहण) करते हैं और अकर्ता होने पर भी परानुग्रह के निमित्त कर्मानुकरण करते हैं अर्थात् इस प्रकार से धर्मसंस्थापनादि कर्म करते हैं—इसी तत्त्व को यथावत् जानते हैं उनकी बुद्धि में आत्मतत्त्व (आत्मा के स्वरूप का ज्ञान) परिस्फुटित (प्रकाशित) होता है (मधुसूदन)]।

त्यक्त्वा देहम्—वर्तमान देह त्याग कर [अथवा देहाभिमान त्याग कर (श्रीधर)]

पुनर्जन्म न एति—पुनः जन्म (जन्मान्तर) या संसारगति को प्राप्त नहीं होते हैं।

माम् एति—किन्तु वह मुझे अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप वासुदेव को ही प्राप्त होते हैं और संसार से मुक्त हो जाते हैं। [और जो लोग यह नहीं जानते हैं उनकी संसारगति की किसी प्रकार से भी निवृत्ति नहीं होती है, यही कहने का अभिप्राय है]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[ईश्वर के इस प्रकार के जन्म और कर्म को जानने से क्या फल होता है ? उसे कह रहे हैं—]

हे अर्जुन ! एवं—इस प्रकार मे जन्म—मेरा स्वेच्छाकृत जन्म कर्म च—और धर्मपालनादिरूप कर्म दिव्यम्—अलौकिक होने के कारण तत्त्वतः यः वेत्ति-तत्त्व द्वारा जो जानते हैं अर्थात् मेरा कर्म दूसरों पर अनुग्रह करने के लिए ही है, जो इस बात को जानते हैं सः त्यक्त्वा देहम्-वह देहाभिमान का

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

त्याग करके **पुनः जन्म न एति**—पुनर्जन्म को या संसार गति को प्राप्त नहीं होते किन्तु **माम् एति**—वह मुझे ही प्राप्त होते हैं।

(२) **शंकरानन्द**—दुष्टों का निग्रह और शिष्टों का अनुग्रह करने के लिए, धर्म का संस्थापन करने के लिए और विवस्वान् (सूर्य) प्रभृति को योग का उपदेश देने के लिए माया द्वारा मेरे जितने शरीर उत्पन्न हुए हैं और उन शरीरों के द्वारा जो कुछ कर्मों का अनुष्ठान हुआ है वे सभी वास्तव में ब्रह्ममात्र ही हैं, जो ऐसा जानता है वह मुक्ति को प्राप्त होता है—यही अब श्रीभगवान् स्पष्ट रूप से कह रहे हैं—

दिव्यम्—दूसरे की सहायता विना जो अपने प्रकाश द्वारा दीप्त (प्रकाशित) होता है उसको 'दिव्य' कहा जाता है। इस कारण 'दिव्य' शब्द का अर्थ निर्विशेष चिदैकरस परब्रह्म है। [यह दिव्य शब्द दिवु धातु से क्विप् प्रत्यय युक्त होकर बना है] **जन्म कर्म च**—जन्म और कर्म। 'दिवि' अर्थात् पूर्णआनन्दैकघन, अद्वितीय और सभी के अधिष्ठान परब्रह्म में जो प्रकृति (माया) प्रतीत होती है और प्राकृत (माया द्वारा संघटित) मेरा जन्म (शरीर) और उस-उस शरीर द्वारा किये गये जो कर्म हैं उन सब को, **यः तत्त्वतः वेत्ति**—तात्त्विक (अर्थात् अध्यात्म) दृष्टि से परिशीलन कर यह सभी दिव्य है [अर्थात् भगवान् के अवतार देह, कर्म प्रभृति को, ब्रह्म का जो दिव्य (अर्थात् चैतन्य) स्वरूप है वही चैतन्य मात्र ही ये सब हैं, ऐसा जो जानता है अर्थात् साक्षात् रूप से (अपरोक्ष भाव से) जो जानता है **सः**= वही ब्रह्ममात्रदर्शी विद्वान् **देहं त्यक्त्वा**—यह विद्वद् देह का त्याग कर **पुनर्जन्म न एति**—पुनः जन्म को प्राप्त नहीं होता है किन्तु-**मामेति**—सच्चिदानन्दैकरस परब्रह्म स्वरूप मुझे ही प्राप्त करता है अर्थात् विदेहमुक्ति को प्राप्त होता है।

(३) **नारायणी टीका**—भगवान् ने कहा है कि मनुष्यों को पुनर्जन्म से मुक्ति पाने के लिए दो वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना होगा—(१) भगवान् के जन्म और कर्म दिव्य हैं यह और (२) भगवान् के जन्म और कर्म के यथार्थ तत्त्व। प्राकृत मनुष्य के अर्थात् देहाभिमानी पुरुष के जन्म, आयु और भोग कर्माशय के फलानुसार प्राप्त होते हैं अर्थात् पहले जैसा कर्म किया है उसके विपाक (परिणाम) रूप फल से किस घर में जन्म होगा, कितनी दिन आयु रहेगी और भोग किस प्रकार का होगा यह सब निर्धारित होता है।

[सति मूले तद्विपाको जन्मायुर्भोगाः (पातञ्जल योगदर्शन) भगवान् के अपने स्वरूप के ज्ञान को कभी विस्मृति नहीं होती है, अतएव माया द्वारा

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

देहादि सृष्टि कर उनके द्वारा वे जो कर्म करते हैं उसमें सत्यत्व बुद्धि, कर्तृत्वाभिमान या उससे कर्मफल प्राप्ति करने की स्पृहा नहीं रखते हैं। अतः उनका जन्म और कर्म प्राकृत (साधारण) जनों के समान नहीं होते हैं। 'दिव्य' शब्द का अर्थ स्वयंप्रकाश अर्थात् निर्विशेष चिदेकरस परब्रह्म है। स्वर्ण से जो सब अलंकार होते हैं उसके अणुपरमाणु में जिस प्रकार स्वर्ण ही रहता है (कारण उनके नाम तथा रूप केवल वाक्य के विलासमात्र हैं अतः मिथ्या हैं) उसी प्रकार निर्विशेष स्वयंप्रकाश (दिव्य) ब्रह्म में जो कुछ जन्म या कर्म कल्पित होकर प्रतीत होते हैं वे सभी दिव्य ही हैं (परब्रह्म के स्वरूप ही हैं)। इस प्रकार भगवान् के जन्म व कर्म का दिव्य जानने से सब 'ईशावास्यम्' (ईश० उ०) अर्थात् परब्रह्मरूपी भगवान् से आच्छादित हो जाते हैं। सभी वस्तु के असत्य अंश (नाम, रूप और क्रिया) दिखाई देते हैं। उनका त्याग करने पर अस्ति भाति प्रिय अर्थात् सत्-चित्-आनन्द रूप में सर्वत्र विद्यमान एक अखण्ड परब्रह्म का ही दर्शन होता है। भगवान् के मायिक जन्म व कर्म की सत्ता अधिष्ठानरूप दिव्यब्रह्म की सत्ता से अभिन्न है—इस प्रकार का बोध जब होता है तब जीव अपने जन्म और कर्म को भी दिव्य ही जान लेता है। जीव जब प्रकृति या माया से उत्पन्न देह में आत्माभिमान कर तथा देहादिकृत कर्म में ममत्व बुद्धि का त्याग कर साक्षी, चेतन, निर्विशेष दिव्य श्रीकृष्ण को (परमात्मा को) 'मैं' रूप से जानता है अर्थात् 'मैं' और दिव्य श्रीकृष्ण (ब्रह्म) एक ही (अभिन्न ही) हैं इस प्रकार जानता है तब वह आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है एवं एकमात्र सच्चिदानन्द आत्मा ही कर्ता, कर्म व क्रिया रूप में प्रतीयमान होकर विश्वलीला कर रही है, इस तत्त्व को साक्षात् अनुभव कर अज्ञाननिमित्त संसारगति से मुक्त होकर मुझको अर्थात् ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होते हैं।

[हे अर्जुन, वह मुझे ही प्राप्त होता है अतः उसका पुनर्जन्म नहीं होता है अर्थात् वह मेरा स्वरूप ही प्राप्त करता है यह पूर्व श्लोक में कहा गया है। यही मोक्ष-मार्ग अभी ही जगत् में प्रवृत्त हुआ है ऐसा नहीं—यह पहले भी था अतः अनेक मुमुक्षु इस मार्ग का अवलम्बन कर मुक्त हो गए हैं, यही अब श्रीभगवान् कह रहे हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

अन्वयः—वीतरागभयक्रोधाः मन्मयाः माम् उपाश्रिताः बहवः ज्ञानतपसा पूताः (सन्तः) मद्भावम् आगताः।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अनुवाद—मेरे स्वरूप का जो दर्शन किये हैं ऐसे अनेक व्यक्ति राग (आसक्ति), भय और क्रोध वर्जित होकर मुझमें एकाग्रचित्त होकर और मेरा आश्रय कर ज्ञानरूप तपस्या के द्वारा पवित्र होकर मेरे भाव को प्राप्त हुए हैं अर्थात् मोक्ष लाभ किये हैं।

भाष्यदीपिका—वीतरागभयक्रोधाः—राग (कर्मफल की तृष्णा या फलाभिलाषा) तथा भय और क्रोध जिनसे वीत अर्थात् विगत (विशेष भाव से निर्गत) हुआ है वे वीतरागभयक्रोध (शुद्धचित्त व्यक्तिगण)—मन्मयाः—मेरे साथ (परमेश्वर के साथ) जो अपनी आत्मा का मुझसे अभिन्नरूप में दर्शन किए हैं अर्थात् मुझे (तत् पदार्थ या परमात्मा को) जो अपने साथ (त्वं पदार्थ के साथ) अभिन्नरूप में (अर्थात् जीव और ब्रह्म का एकत्व) साक्षात्कार किए हैं ऐसा ब्रह्मविद् पुरुषगण [अथवा 'मन्मयाः' शब्द का अर्थ है—जिनका चित्त सर्वदा मुझमें लीन रहता है (मधुसूदन)]

माम् उपाश्रिताः—दूसरे सब कर्म त्याग कर केवल मेरा (परमेश्वर का) जो लोग आश्रय लिए हैं अर्थात् एकान्त प्रेमभक्ति के साथ मेरा ही (सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमेश्वर का हो) शरण लिये हैं इस प्रकार के केवल ज्ञाननिष्ठा बहवः—वामदेव आदि अनेक पुरुष ज्ञानतपसा पूताः—ज्ञानरूप तपस्या के द्वारा शुद्धि-प्राप्त होकर [परमात्मविषयक ज्ञान को ही अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्म में अप्रतिबन्ध अखण्ड आत्माकारावृत्ति के उत्पत्ति होने पर ज्ञान का उदय होता है उसे ही शास्त्र में परम तपस्या कहा गया है। 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः' अर्थात् मन और इन्द्रियों को (आत्मा में) एकाग्र करना ही परम तपस्या है (महाभारत)]। अतः परमात्मविषयक ज्ञानरूप तपस्या द्वारा पवित्र होकर अर्थात् परम-शुद्धि लाभ कर। [भगवान् स्वयं ही कहेंगे 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' अर्थात् इस जगत् में ज्ञान को तरह पवित्र और कुछ भी नहीं है—गीता ४।३८]। इस कारण ज्ञाननिष्ठा से अर्थात् ज्ञान में स्थिति लाभ करने के बाद सर्वपाप का क्षय हो जाता है। इस कारण ज्ञानी का अज्ञान और अज्ञान के कार्यरूप सभी मल नष्ट हो जाते हैं, अतः ज्ञानरूप तपस्या से ज्ञानी परमशुद्धि को प्राप्त होते हैं। प्रश्न हो सकता है कि "माम् उपाश्रिताः" पद से ही जब "ज्ञाननिष्ठ" पुरुषों को सूचित किया तब फिर "ज्ञानतपसा पूताः" कहने का क्या प्रयोजन है? उत्तर में भाष्यकार कह रहे हैं कि ज्ञाननिष्ठ ज्ञान छोड़कर दूसरी कोई तपस्या को अपेक्षा नहीं करता है, यही सूचित करने के लिए "ज्ञान-तपसा" विशेषण दिया गया है।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

मद्भावम्—ईश्वरभाव अर्थात् भगवत्स्वरूपत्व या विशुद्ध सच्चिदानन्दघनस्वरूपत्व अर्थात् मोक्ष **आगताः**—प्राप्त हुए हैं।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—मद्भावमागताः—मधुसूदन सरस्वती ने इस पद का इस प्रकार का विकल्प अर्थ किया है। वे ज्ञानरूप तपस्या द्वारा पूत होकर अर्थात् जीवन्मुक्त होकर मद्विषयक भाव अर्थात् जिसे रति या प्रेम कहा जाता है वही प्राप्त हुए हैं। श्रीभगवान् इसी कारण से बाद में कहेंगे—"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते" (गीता ७।१७) अर्थात् आर्त जिज्ञासु प्रभृति चार प्रकार के भक्तों में मेरा ज्ञानी भक्त मेरे साथ नित्य युक्त रहता है और केवल मेरी ही भक्ति अर्थात् रति या प्रेम करता है इस कारण वह विशिष्ट है।

(२) श्रीधर—[पूर्व श्लोक में कहा गया है कि मुझे (भगवान् को) जन्म और कर्म के ज्ञान से प्राप्त किया जा सकता है—वह कैसे पाया जा सकता है ? उसे अब कह रहे हैं—] मैं (भगवान्) विशुद्ध सत्त्वगुणविशिष्ट अवतारशरीर ग्रहण कर धर्म का पालन करता हूँ। मेरा यह परम कारुणिकत्व (दयालुता) विदित होकर (जानकर) और सर्वरूप में मैं ही विद्यमान रह कर इस विश्व की सृष्टि, स्थिति (पालन) और संहार रूप लीला कर रहा हूँ। इसी प्रकार सर्वत्र एकत्व दर्शन कर **वीतरागभयक्रोधाः**—राग, भय तथा क्रोध से शून्य होते हैं। (ये राग, भय, क्रोध ही चित्तविक्षेप के हेतु होते हैं इस कारण उन कारणों के अभाव से (अर्थात् चित्त-विक्षेप का कोई हेतु न रहने पर) **मन्मयाः**—भेदकचित्त होकर (एकमात्र मुझमें ही अपना चित्त समाहित रखकर) **मामुपाश्रिताः**—मेरा ही आश्रय लेकर **ज्ञानतपसा पूताः**—मेरी कृपा द्वारा लब्ध (प्राप्त) जो आत्मज्ञान है और उस ज्ञान के परिपाक का कारणभूत स्वधर्म पालनरूप जो तप है, उसके द्वारा परिशुद्ध होकर (अज्ञान और अज्ञान के कार्यरूप फल से मुक्त होकर) **बहवः**—बहुत से साधक **मद्भावमागताः**—मेरी सायुज्य मुक्ति को प्राप्त हो गए हैं। यह भक्ति-मार्ग अधुना संसार में प्रवृत्त हुआ है ऐसी बात नहीं है। तान्यहं वेद सर्वाणि (४।५) इत्यादि से लेकर इस श्लोक तक ईश्वर की उपाधि विद्या और त्वम् पदार्थ की अर्थात् जीव की उपाधि अविद्या को कहकर जीव और ईश्वर के स्वरूप का प्रदर्शन किया। यहाँ यह समझना चाहिये कि विद्या का अभाव होने पर ईश्वर का नित्य शुद्धत्त्व सिद्ध होता है और ईश्वर के प्रसाद (दया या कृपा) से प्राप्त ज्ञान द्वारा अज्ञान निवृत्त होने पर जीव भी शुद्ध हो जाता है। विद्या—उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य ईश्वर और अविद्या-उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य जीव एक ही सद्-

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

वस्तुरूप से विद्यमान रहते हैं। इसलिये चेतन अंशों को लेकर ईश्वर के साथ जीव की एकता प्राप्त होती है, यही बताया गया है।

(३) शंकरानन्द—सब ब्रह्म ही है इस प्रकार सब पदार्थों में ब्रह्ममात्रत्वदर्शनरूप योग द्वारा पूर्वकाल में अनेक ज्ञानी मुक्त हो चुके हैं। तृतीय श्लोक में 'योगः प्रोक्तः पुरातनः' इत्यादि वाक्य द्वारा जिस योग को पुरातनता के संबंध में श्रीभगवान् ने कहा है उसका प्रतिपादन अब कर रहे हैं—

वीतरागभयक्रोधाः—भोग और उपकारी के प्रति राग (अनुराग), आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ये तीन प्रकार के उपद्रवों से भय और अपने अपकारियों के प्रति क्रोध होता है। क्रोध शब्द यहाँ आपस्तम्भ— द्वारा कथित प्राणीवर्ग को दग्ध करनेवाला 'सब दुर्गुणों का उपलक्षण कर व्यवहृत हुआ है। मोक्ष के लिये तीव्र इच्छा उत्पन्न होने के कारण सत् व असत् के विवेक से और वैराग्य से (इह काल और परकाल के भोग सुख की इच्छा न रहने से) वीत अर्थात् विशेष रूप से निर्गत (नष्ट) हुआ है जिनका राग, भय और क्रोध उनको ही 'वीतरागभयक्रोध' कहा जाता है।

ज्ञानतपसा—[ज्ञानरूप तप (तपस्या) से] 'मैं ही ब्रह्म हूँ इस प्रकार साक्षात् ब्रह्म में अप्रतिबद्ध (निरन्तर) आत्मतत्त्ववेदन ही (अर्थात् आत्मतत्त्व को जानना रूप जो ज्ञान है वही ज्ञान हो) तप है। स्मृति में 'तप' शब्द का अर्थ इस प्रकार कहा है 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः' अर्थात् मन और इन्द्रियों की एकाग्रता परम तप है। मुमुक्षु यति का यह ज्ञानरूप तप ही करना कर्तव्य है। यही ज्ञानरूप तप द्वारा पूताः—जो पूत (पवित्र) हुए हैं अर्थात् अनात्मस्वभाव सम्पूर्ण नष्ट हो जाने के कारण जिनकी आत्मा (मन) शुद्ध हो गयी है—ऐसे वामदेवादि बहवः—अनेक मुमुक्षु माम् उपाश्रिताः—जो स्वयं सर्वदा मेरे ही अर्थात् अपूर्व, अनपर अनन्तर, उपास्य, अद्वितीय परब्रह्म के ही उपाश्रित थे। उपाश्रयण शब्द का अर्थ है 'सब ही ब्रह्म है' इस प्रकार बाहर भीतर सर्वत्र प्रत्यग् दृष्टि द्वारा सदा एकत्व दर्शन करना। इस प्रकार सर्वत्र प्रत्यगात्मरूप में ['मैं ही एकमात्र ब्रह्मस्वरूप में सर्वत्र विद्यमान हूँ' इस प्रकार] मेरा (परब्रह्म का) दर्शन कर मन्मयाः—मेरे स्वरूप से पूर्ण होकर मद्भावम् आगताः—देहपात (मृत्यु) के पश्चात् ब्रह्मस्वरूप से अवस्थान रूप मेरे भाव को 'आगताः' अर्थात् प्राप्त हुए हैं अर्थात् वे सभी ब्राह्मीस्थिति लाभ कर विदेहमुक्ति को प्राप्त हुए हैं यही कहने का अभिप्राय है।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

(४) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में 'मामेति' कहा गया है और वर्तमान श्लोक में 'मद्भावमागताः' कहा गया है। दोनों का अर्थ एक ही है इस श्लोक में कहने का अभिप्राय यह है कि बुद्धि में आत्मतत्त्व स्फुरित न होने से भगवान् के जन्म और कर्म के तत्त्व अवगत नहीं हो सकते हैं। ज्ञानरूप तपस्या के द्वारा अखण्ड ब्रह्माकारावृत्ति द्वारा जिनकी चित्तशुद्धि हुई है अतः जिनका चित्त राग, भय और क्रोध से शून्य हुआ है और जो निरन्तर परब्रह्म में आत्मबुद्धि कर (तन्मय होकर) सदा भगवान् के आश्रित हैं अर्थात् बाहर भीतर सर्वत्र सर्वरूप में एकमात्र ब्रह्म हो विद्यमान है और वही ब्रह्म मैं हूँ इस प्रकार ब्रह्म के साथ एकात्मता अनुभव करके ज्ञाननिष्ठ हुए हैं। वे ही पूर्वश्लोक में 'वेत्ति तत्त्वतः' अर्थात् यथार्थरूप में भगवान् के जन्म और कर्म समझ पाते हैं, नहीं तो जन्म और कर्म को केवलमात्र सुनकर उसका प्रकृत तात्पर्य कोई नहीं समझ सकता है। अज के जन्म और अकर्ता के कर्म केवल वही समझ सकते हैं जो जीवित अवस्था में ही जन्म के बीज से मुक्त हुए हैं (जीवन्मुक्त हुए हैं) और ज्ञान-निष्ठा द्वारा स्वयं अकर्ता हुए हैं। ब्रह्म को जो जानते हैं वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाते हैं [ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति (मु० उ०)]। अतः इस प्रकार जो सगुण और निर्गुण तत्त्व अर्थात् परब्रह्म के सर्वप्रपंचरहित नित्य निर्गुण स्वरूप तथा उनकी जन्म-कर्म रूप सगुण लीला जानते हैं वे ही ब्रह्मभाव को (अर्थात् ब्रह्मस्वरूप मोक्ष को) प्राप्त होते हैं।

[अच्छा, जो निष्काम मुमुक्षु (तत्त्वज्ञान लाभ कर) ज्ञानरूप तपस्या द्वारा मुक्त हुए हैं वे अवश्य ही तुम्हारे भाव को प्राप्त होते हैं किन्तु जो सकाम हैं वे अपवित्र (अशुद्धचित्त) होने के कारण तुम्हारे भाव को प्राप्त नहीं होते हैं। जब तुम उनके भी फलदाता हो तब तुम किसी को तो आत्मभाव प्रदान करते हो और किसी को नहीं भी देते हो। इसके द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि तुम्हारे भीतर भी राग-द्वेष रहने के कारण वैषम्य (पक्षपात) और नैर्घृण्य (निर्दयता व निष्ठुरता) दोष है। यदि ऐसा ही है तो फिर लोग तुम्हें ईश्वर कहकर कैसे ग्रहण कर सकते हैं? इस प्रकार की आशंका के निवारण के लिये कह रहे हैं]

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११॥

अन्वयः—ये मां यथा प्रपद्यन्ते अहं तान् तथा एव भजामि हे पार्थ! मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते॥

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अनुवाद-- हे पार्थ ! जो जिस प्रकार भी मेरा भजन करते हैं (अर्थात् जो जिस प्रयोजन से मेरा आश्रय करते हैं] मैं उन पर उसी प्रकार से कृपा करता हूँ (अर्थात् मैं उसी प्रकार उनके प्रयोजन को सिद्धि सम्पादन कर उन पर अनुग्रह करता हूँ)। सर्व प्रकार से मनुष्य एकमात्र मेरे ही पथ का अनुसरण करते हैं।

भाष्यदीपिका—हे पार्थ—हे पृथापुत्र अर्जुन ! तुम्हारी माता पृथा (कुन्ती) मुझे प्राप्त करने के लिये (और किसी कारण से नहीं) मेरा भजन करती है और राज्यादि से वंचित होने पर भी वह मेरा ही निरंतर स्मरण करती है। तुम अपनी माता की तरह अनन्यभाव से मेरा भजन करने से मुझको ही प्राप्त होगे, यह सूचित करने के लिये यहाँ भगवान् ने अर्जुन को 'पार्थ' कहकर सम्बोधन किया। ये मां यथा—जिस प्रकार से अर्थात् जिस प्रयोजन की फलप्राप्ति की इच्छा कर जो मुझे अर्थात् निर्गुण या सगुण परमेश्वर को ['द्वे रूपे वासुदेवस्य व्यक्तमव्यक्तमेव च। अव्यक्तं ब्रह्मणो रूपं व्यक्तमेतच्चराचरम्।' अर्थात् वासुदेव के दो रूप हैं व्यक्त और अव्यक्त। एक अव्यक्त निर्विशेष परब्रह्म रूप है और यह चराचर विश्व उनका अर्थात् मायोपाधिक (अर्थात् माया ही जिसकी उपाधि है ऐसे) ईश्वर का व्यक्तरूप है। शास्त्र और गुरु के उपदेश द्वारा जिनको जैसी बुद्धि संस्कृत हुई है उसके अनुसार कोई परब्रह्म को (अव्यक्त रूप को) प्राप्त कर मोक्षलाभ को इच्छा करते हैं—और कोई सगुण ब्रह्म को (व्यक्त रूप को) भजन कर दूसरे किसी फल की कामना करते हैं अतः इन दो प्रकार से (व्यक्त और अव्यक्त रूप से) स्थित मुझे (परमात्मा को) (जिस किसो प्रकार के प्रयोजन को सिद्धि के लिये अर्थात् मोक्ष अथवा समृद्धि लाभ के लिये) प्रपद्यन्ते— (ज्ञानयोग अथवा कर्मयोग द्वारा अथवा दूसरे किसी प्रकार से) आश्रय करते हैं अर्थात् भजना करते हैं।

तान् तथा एव भजामि—उनलोगों को ठीक उसी प्रकार (उनके कर्म या उपासना के अनुरूप) फल प्रदान कर अनुगृहीत करता हूँ। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' अर्थात् जिसकी जैसी भावना उसको वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है, इस नियम के अनुसार उनकी अपनी अपनी दृढ़भावना ही (अभिनिवेश हो) मेरे अनुग्रह से उनके आकांक्षित फल के रूप में परिणत होती है। इस कारण मेरा कोई पक्षपात नहीं है। एक हो समय पर एक ही व्यक्ति को मोक्षकामना और कर्मफल की कामना नहीं हो सकती है। इस कारण जो फलप्रार्थी हैं उनको फल प्रदान करता हूँ और जो जागतिक फल-

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

कामना नहीं करते किन्तु मोक्षलाभ करने के इच्छुक हैं और इसी उद्देश्य से विहित कर्म का अनुष्ठान करते हैं उनको ज्ञान प्रदान करता हूँ। और जो ज्ञानी संन्यासी हैं तथा मुमुक्षु हैं (अर्थात् शास्त्र व गुरुमुख से आत्मा के स्वरूप के संबन्ध में परोक्षज्ञान लाभकर मोक्ष प्राप्त करने के लिये जो सर्व कर्म का त्याग किये हैं) उन्हें मोक्ष प्रदान करता हूँ। जो लोग ज्ञानादि साधन-रहित किन्तु पीड़ित (आर्त) होकर मेरा भजन करते हैं उनकी आर्ति अर्थात् पीड़ा हरण (दूर) करता हूँ। इस प्रकार जो मेरी जिस भावना से (जिस प्रयोजन सिद्धि के लिये) भजना करते हैं उसी भाव से मैं भी उन्हें अनुगृहीत करता हूँ। रागद्वेष युक्त होकर या मोहवश मैं किसी के साथ व्यवहार नहीं करता हूँ, यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है। [अब प्रश्न हो सकता है कि तुम तो अपने भक्तों को फलदान करते हो किन्तु जो लोग दूसरे देवताओं के भक्त हैं उन्हें तो तुम फलदान नहीं करते हो। अतः तुम्हारा वैषम्य (पक्ष-पातित्व) तो रह ही गया ? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं—नहीं ऐसी बात नहीं है, कारण कि] मनुष्याः—मनुष्यगण अर्थात् कर्माधिकारी मनुष्य-गण [फलकामनापूर्वक विशेष-विशेष कर्मों में अधिकृत होकर, मनुष्य ही प्रयत्न करने में समर्थ हैं फिर ईश्वर के मार्ग का अनुसरण करने का सामर्थ्य भी मनुष्य को छोड़कर दूसरे किसी प्राणी को नहीं है इसी कारण से यहाँ 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः 'मनुष्य' शब्द का अर्थ यह है कि जो कर्ममार्ग या भक्तिमार्ग के अथवा दूसरे किसी भी मार्ग के अनुसार देवताविशेष को आश्रय कर भजना (प्रयत्न) करते हैं वे मनुष्य।] सर्वशः—सर्व प्रकार से मम—मेरे अर्थात् सर्वात्मा एवं सर्व फलदाता वासुदेव को वर्त्म—मार्ग (पथ) [अर्थात् कर्म अथवा ज्ञानरूप मार्ग अथवा अन्य (दूसरे) प्रकार की उपासना का मार्ग] का अनुसरण करते रहते हैं कारण कोई भी इन्द्र-वरुणादि देवताओं की उपासना कर वे फलकामना क्यों न करें, सब अवस्था में ही उन-उन देवताओं की आत्मा के रूप में मैं ही अवस्थान करता हूँ और जिस कारण मैं ही परमेश्वर हूँ इस कारण मैं ही उसी रूप में (इन्द्रादि रूप में) एकमात्र फलदाता हूँ अर्थात् उन देवताओं के पास जिस-जिस फल की इच्छा कर मनुष्य प्रार्थना करते हैं उस उस फल का दान मैं ही करता हूँ। इस कारण जिस प्रकार से भी हो अर्थात् जिस किसी देवता की, मनुष्य ज्ञान अथवा कर्म का अधिकारी बन कर भजना क्यों न करे वे सर्वप्रकार से मेरा ही मार्ग (मेरे ही भजन के मार्ग को या साधना को) अनुवर्तन्ते—अनुसरण करते हैं अर्थात् किसी भी देवता का भजन क्यों न करें उनके द्वारा मेरा ही भजन

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

होता है क्योंकि मैं ही उन देवताओं की आत्मा हूँ। बाद में भी 'येऽप्यन्य-देवताभक्ताः' इत्यादि (गीता ९।२३-२४) श्लोकों द्वारा कहा जायगा कि जो दूसरे देवताओं की भजना करते हैं वे भी अविधिपूर्वक (अज्ञानपूर्वक) मेरी ही उपासना करते हैं कारण एकमात्र मैं (शुद्धचैतन्यस्वरूप परब्रह्म मैं) ही सब रूप में विद्यमान हूँ। वेद में भी कहा गया है—'इन्द्रं मित्रं वरुण-मग्निमाहुः' अर्थात् ज्ञानी पुरुष एक ही परमेश्वर को इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहकर अभिहित करते (पुकारते) हैं। पुनः ब्रह्मसूत्र में भी कहा गया है—'फलमत उपपत्तेः' अर्थात् परमेश्वर से ही कर्म के फल की निष्पत्ति (प्राप्ति) होती है। कारण इस पक्ष में ही उपपत्ति (युक्ति) है अर्थात् सब ओर से विचार करके देखने पर एकमात्र भगवान् ही फलदाता है यह शास्त्र और युक्ति द्वारा सिद्ध होता है (मधुसूदनी टीका का तात्पर्य भी ऐसा ही है)। अतः जो कोई व्यक्ति जो कुछ भी करता है अथवा जिस किसी भी देवता के उद्देश्य से कर्म करता है, वह भी मेरे ही पास पहुँच जाता है। यही ''सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते' वाक्य का तात्पर्य है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—(तो क्या तुम में भी वैषम्य (विषमता) है ? जिसके कारण तुम तुम्हारे शरणागत भक्त को ही आत्म-भाव (स्वरूप का ज्ञान) प्रदान करते हो, और जो लोग सकाम हैं उन्हें आत्मभाव नहीं देते हो ? इसके उत्तर में कहते हैं—)

ये यथा—जो जिस प्रकार से अर्थात् सकाम या निष्काम भाव से मां प्रपद्यन्ते भजन्ति—मेरी भजना करते हैं (भजते हैं) तां तथैव अहम् भजामि—उन्हें मैं उसी प्रकार अर्थात् उनके द्वारा अपेक्षित (प्रार्थित) फल प्रदान कर भजता हूँ (अनुग्रह करता हूँ)। जो लोग सकाम होकर मुझे छोड़कर इन्द्रादि देवगणों की ही भजना करते हैं उनकी भी मैं उपेक्षा नहीं करता हूँ कारण मनुष्याः—सब मनुष्य ही सर्वशः—सर्व प्रकार से अर्थात् इन्द्रादि देवगण के सेवक होकर भी मम वर्त्म अनुवर्तन्ते—मेरा ही भजन-मार्ग का अनुवर्तन (अनुसरण) करते हैं कारण कि इन्द्रादि देवताओं के रूप में भी वे मेरी ही सेवा करते हैं।

(२) शंकरानन्द—प्राणीमात्र ही अमृत समुद्र के समान अद्वितीय परब्रह्मरूप तुम में ही स्थित रहते हैं। तुम में सभी प्राणी समान भाव से रहने पर भी किसी-किसी को तुम मुक्ति देते हो किन्तु सब को नहीं देते ! इस प्रकार का पक्षपात तुम क्यों करते हो ? ऐसी आशंका के उत्तर में

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

श्रीभगवान् कह रहे हैं—नहीं, ऐसी शंका करना युक्तियुक्त नहीं है। कारण अमृत समुद्र में, सब समान रूप से वास करने पर भी उनमें से जो-जो अमृत-पान किये हैं केवल वे ही अमरत्व को प्राप्त होते हैं, दूसरे कोई नहीं होते। वैसे ही मुझमें सब को स्थिति समान होने पर भी एकमात्र मुझे ही जो परम भाव (सबकी अधिष्ठान सत्ता) मानकर भजन करते हैं केवल वे ही विमुक्ति लाभ करते हैं—दूसरे भाव से जो लोग भजन करते हैं उस प्रकार के कामियों की मुक्ति नहीं होती है। "तं यथा यथोपासते तथैव भवति"—[अर्थात् उनको जो जैसी उपासना करता है वैसा ही हो जाता है—इस श्रुति वाक्य के अनुसार श्रीभगवान् उक्त शंका का समाधान कर रहे हैं—]

ये यथा मां प्रपद्यन्ते—"द्वे रूपे वासुदेवस्य व्यक्तं चाव्यक्तमेव च। अव्यक्तं ब्रह्मणो रूपं व्यक्तमेतच्चराचरम्" ।। अर्थात् वासुदेव के दो रूप हैं—व्यक्त और अव्यक्त। अव्यक्त ब्रह्म का रूप (अर्थात् ब्रह्म अव्यक्त है) और यह चराचर उनका व्यक्त रूप है। कहने का यह अभिप्राय है कि अव्यक्त कहने से निर्विशेष (निर्गुण) परब्रह्म को ही समझा जायेगा और व्यक्त से मायारूप उपाधिवाला कार्य सहित "अपर" ब्रह्म को समझा जायगा। इस प्रकार व्यवस्थित मेरे (निर्गुण व सगुण) तत्त्व को शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश से संस्कृत (शोधित) हुई अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार जानकर अर्थात् मेरे परब्रह्म स्वरूप को जानकर अथवा अपर ब्रह्म के (कार्य ब्रह्म के) स्वरूप को जानकर उसके अनुसार फलकामना कर, दो प्रकार से अवस्थित मुझे (परमात्मा को) जिस प्रकार [अर्थात् ज्ञानयोग द्वारा अथवा कर्मयोग द्वारा अथवा अन्य जिस किसी प्रकार के भाव से] भजना करते हैं—तान्—उन-उन साधनों में निष्ठावान् उपासकों को तथा एव अहम् भजामि—जिन-जिन तत्त्वों से वे परिनिष्ठित होते हैं (निष्ठावान् हैं) उन-उन रूप से प्रत्यक्ष होकर उन्हें भजता हूँ अर्थात् उन पर अनुग्रह करता हूँ—यही भावार्थ है। "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" (जिसकी जैसी भावना होती है उसको उसी प्रकार की सिद्धि लाभ भी होता है), इस नियम के अनुसार अपने-अपने बुद्धिवल से गृहीत वस्तु की उपासना के अनुरूप उन को फल की सिद्धि होती है—अन्य प्रकार से नहीं। मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते—इस प्रकार ज्ञानयोग और कर्मयोग के फल प्रदान (फल प्रदान का सामर्थ्य) समानभाव से मुझमें स्थित रहने पर भी शास्त्र के अर्थ को जो जानते हैं और उनके अनुसार जो चलते हैं वे सर्वशः अर्थात् सभी ब्राह्मणादि मुमुक्षुगण मेरे (ईश्वर के) अभिमत (अनुमोदित)

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

वर्त्म (मार्ग) का अर्थात् श्रुतिस्मृति विहित कर्म मार्ग का अनुवर्तन करते हैं अथवा मुझ (ईश्वर) द्वारा अनुष्ठित कर्ममार्ग का ही अनुवर्तन (अनुसरण) करते हैं, अर्थात् विशेष रूप से कर्म ही करते हैं। [शंकरानन्द ने 'सर्वशः'= सकल (सब), इस प्रकार अर्थ किया है]।

(३) **नारायणी टीका**—जो लोग ज्ञानरूप तपस्या के द्वारा पूत (पवित्र) हुए हैं वे मेरे भाव को अर्थात् ब्रह्मस्वरूपत्व को प्राप्त होते हैं—यह मैंने पूर्व श्लोक में कहा है। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि मुझमें कोई वैषम्य या पक्षपात है। क्योंकि जो मुझे चाहते हैं उन लोगों को जिस प्रकार मैं मुझको (मेरे सच्चिदानन्दस्वरूप को) देता हूँ उसी प्रकार जो जिस प्रयोजन से मेरा आश्रय लेते हैं (मेरी भजना करते हैं) मैं भी उसे उसी प्रकार का फलदान कर उसे अनुगृहीत करता हूँ। जो धर्म चाहते हैं मैं उनको धार्मिक बना देता हूँ, जो पुत्र की कामना करते हैं उनको मैं पुत्र देता हूँ, जो वित्त चाहते हैं उनको वित्त देता हूँ, जो ज्ञान चाहते हैं उनको मैं ज्ञान देता हूँ, और जो मोक्षकामी हैं उनको मोक्षरूप फल प्रदान करता हूँ। यदि यह कहते हो कि जो जिसकी कामना करता है उनको मैं वही देता हूँ तो फिर मनुष्य इतने दुःखी क्यों है ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि मनुष्यों की बुद्धि की चञ्चलता ही इसका (दुःख का) कारण है। केवल मनुष्य नहीं किन्तु सभी प्राणी आनन्द चाहते हैं, आनन्द को ही अनादिकाल से ढूँढ़ रहे हैं—किन्तु वे नहीं जानते हैं कि नित्य निरतिशय आनन्द मेरा ही (आत्मा का ही) स्वरूप है। मेरा (आत्मा का) स्वरूप न जानने के कारण अर्थात् अज्ञानवश बाहरी परिच्छिन्न और अनित्य विषय उनको शाश्वत आनन्द की प्यास मिटा सकेगा यह सोचकर वे मेरा भजन भी (उपासना भी) जागतिक वस्तुओं की कामना पूर्ण करने के लिये करते हैं—मुझको प्राप्त करने के लिये नहीं। मैं भी उनकी कामना के अनुसार फलप्रदान करता हूँ। किन्तु विषय-मात्र ही क्षणस्थायी है, अतः नित्य सुख या आनन्द विषयों से प्राप्त होना असंभव है। अतः एक विषय की कामना पूर्ण होने के साथ-साथ दूसरे विषय की कामना मन में जागृत होती हैं। कारण वे सोचते हैं कि जो आनन्द वे ढूँढ़ रहे थे वह पूर्वविषयभोग से न मिलने पर भी दूसरा विषय उनको उस आनन्द को दे सकेगा। किन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः विषय से विषयान्तर में उनका मन भ्रमण करता रहता है। परमात्मस्वरूप मैं भी उनकी एक के बाद एक कामना पूर्ण करता रहता हूँ किन्तु उनकी तृप्ति किसी प्रकार से भी नहीं होती है। कारण कि जो दुःख का आकर (खान) है उसे वे सुखकर

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

समझकर मरीचिका के पीछे पिपासार्त की तरह विषय से विषयान्तर में दौड़ते रहते हैं। किन्तु जो विषय-अनुराग (काम), भय तथा क्रोध से मुक्त होकर मुझमें (परमानन्द-स्वरूप आत्मा में) निरन्तर चित्त को स्थिर कर अपने से मुझे अभिन्न जानकर मुझको ही (आत्मा को ही) शरणापन्न होते हैं, वे उस प्रकार ज्ञानरूप तपस्या द्वारा पवित्र (सर्वप्रकार से पापरहित) होकर मेरा भाव (सर्वदुःखनिवृत्तिरूप तथा परमानन्दप्राप्तिरूप मोक्ष) लाभ करते हैं अर्थात् मेरा तत्त्वतः साक्षात्कार कर मेरे ब्रह्म स्वरूपत्व को प्राप्त होते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्ति की कामना के अनुसार फल-भेद होता है, अतः मेरा इसमें कोई वैषम्य या पक्षपात नहीं है। यदि कहते हो कि विभिन्न व्यक्ति इन्द्रादि विभिन्न देवताओं की मूर्ति की आराधना कर अपने-अपने कर्मानुसार फल प्राप्त करते हैं तब तुम ही सब के कर्मों के फल प्रदान करते हो, यह किस प्रकार संभव हो सकता है ? इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि मैं सभी को आत्मा हूँ। एक ही सूर्य लाल नीला इत्यादि नाना रंग के पात्र में प्रतिफलित होकर जिस प्रकार नाना रूप में प्रतीत होता है उसी प्रकार मैं असंख्य नाम व रूप में विवर्तित होकर असंख्य मूर्ति (देवता, मनुष्य, गन्धर्व इत्यादि मूर्ति) धारण करता हूँ। इस प्रकार जब सभी मूर्तियाँ मेरी ही हैं तब किसी देवता की पूजा करने से उससे मेरी ही पूजा होती है। जब मैं ही सबकी आत्मा हूँ तो विभिन्न देवताओं की मूर्ति को अवलम्बन कर जो उपासना होती है वह मेरी ही उपासना होती है और उन देवताओं के रूप में मैं ही भक्तों को फल प्रदान करता हूँ। जिस प्रकार सारी नदियाँ समुद्र में पहुँचने के मार्ग का अनुसरण करती हैं उसी प्रकार सारी पूजाएँ, सारी उपासनाएँ मेरे ही वर्त्म का (मार्ग को) अनुवर्तन करती हैं। सारी नदियाँ जिस प्रकार अन्त में (आखिर में) समुद्र में लय प्राप्त कर समुद्र ही हो जाती हैं उसी प्रकार सभी पूजाएँ मुझमें ही लय हो जाती हैं। निष्काम कर्म द्वारा चित्तशुद्धि होने पर ज्ञानी जानते हैं कि 'सब कुछ मैं ही हूँ' एवं उसके पश्चात् ज्ञाननिष्ठा द्वारा अपने अपने को भी सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म में (आत्मा में) विलय कर मेरा भाव अर्थात् जीवनमुक्ति की अवस्था प्राप्त करते हैं। यही इन दो श्लोकों का तात्पर्य है।

[पूर्व श्लोक में जो कुछ कहा गया है उससे समझाया गया कि ज्ञाननिष्ठा और कर्मयोग के अनुसार जो जिस प्रकार के अनुग्रह के पात्र हैं उनको उसी प्रकार का फलदान तुम करते हो। अतः तुम्हारा किसी के प्रति क्रोध या द्वेष नहीं है और सब प्राणियों पर तुम्हारी (ईश्वर की) दया समान रूप से विद्यमान है। तुम सब प्रकार के फलदान करने में समर्थ होने पर भी जो

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

लोग तुम्हारा अनुग्रह चाहते हैं वे तुच्छ जागतिक फलकामना से विमुख होकर, मोक्षलाभ के इच्छुक होकर 'वासुदेव ही सब है'—इस प्रकार के यथार्थ ज्ञान के द्वारा तुम्हीं को सब भजते क्यों नहीं है ? इस प्रकार के संशय के उत्तर में कह रहे हैं—]

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

अन्वयः—इह कर्मणां सिद्धिं काङ्क्षन्तः देवताः यजन्ते । हि मानुषे लोके कर्मणां सिद्धिः क्षिप्रं भवति ।

अनुवाद—इस जगत् में अनुष्ठित कर्मसमूह की सिद्धि की कामना कर (मनुष्यगण) देवताओं की पूजा करते हैं, क्योंकि इस मनुष्यलोक में कर्म-जनित सिद्धि अर्थात् कर्म की फलसिद्धि सत्वर (शीघ्र) होती है ।

भाष्यदीपिका—इह—इस लोक में अर्थात् मनुष्यलोक में कर्मणां सिद्धिः–सर्वकर्मों की सिद्धि अर्थात् फलनिष्पत्ति की (फलप्राप्ति को) काङ्क्षन्तः–अभिलाषा (आकांक्षा) कर (प्रार्थना कर) देवताः—इन्द्र, अग्नि प्रभृति देवगणों को यजन्ते—(सब मनुष्य) पूजा करते हैं अर्थात् उन देवों की प्रीति सम्पादन करने के लिए यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करते हैं—[वे अज्ञानता से आच्छन्न होने के कारण इस प्रकार का कर्म करते हैं—निष्काम होकर भगवान् वासुदेवस्वरूप मेरी उपासना वे नहीं करते हैं । संसार के विषयों के प्रति कामनाविशिष्ट होने के कारण मोक्षलाभ से विमुख होकर तुच्छातितुच्छ जागतिक फललाभ करने के लिए वे दूसरे देवताओं की पूजा करते हैं । (मधुसूदन)] श्रुति में भी कहा गया है कि 'योऽन्यां देवतामुपासते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्' (बृह० उ० १।४।१०) अर्थात् जो व्यक्ति दूसरे देवता की इस प्रकार उपासना करता है जैसे मैं पृथक् हूँ और देवता मुझसे भिन्न हैं—वह तत्त्व को नहीं जानता है अर्थात् आत्मतत्त्व का ज्ञान उसे नहीं हुआ है—वह देवगणों के निकट पशु की तरह रहता है अर्थात् पशु जिस प्रकार आहारादि के लिए अपने स्वामी के अनुकूल कार्य करता है वह भी वैसा ही (अपनी प्रयोजनसिद्धि के लिए) देवताओं की प्रीति के लिए कार्य करता है । हि–क्योंकि मनुष्यलोके–मनुष्यलोक में कर्मजा सिद्धिः—जो लोग विशेष-विशेष फललाभ की इच्छा कर इन्द्रादि देवगणों की अर्चना (पूजा) करते हैं, उन सब फलाकांक्षी भिन्न देवतायाजियों की कर्म-जनित सिद्धि अर्थात् जो कर्म के फल की कामना कर इन्द्रादि पृथक्-पृथक्

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

देवताओं का भजन (पूजा) करते हैं उन कर्मों की फलसिद्धि क्षिप्रं भवति—शीघ्र होती है [किन्तु ज्ञान का फल जो वैराग्य या मोक्ष है वह शीघ्र प्राप्त नहीं होता है कारण ज्ञान अत्यन्त ही दुष्प्राप्य है (श्रीधर) किन्तु अपर पक्ष में सकाम पुरुषों को कर्म का फल शीघ्र ही प्राप्त होता है। इस कारण वे मोक्ष मार्ग से विमुख रहते हैं (आनन्दगिरि) अर्थात् जिस कारण से कर्मजनित फल की सिद्धि शीघ्र होती है इस कारण सकाम व्यक्तिगण पृथक् पृथक् आकांक्षित फललाभ करने के लिए पृथक् पृथक् देवताओं की पूजा में व्यापृत रहते हैं—मोक्ष के लिए प्रयत्न नहीं करते हैं।]

"मनुष्यलोके" इस प्रकार विशेष रूप से निर्देश कर दूसरे लोक में भी कर्मफल की सिद्धि हो सकती है यह भगवान् ने दिखा दिया किन्तु इस मनुष्य लोक में जितनी शीघ्र कर्मफल की सिद्धि होती है उस प्रकार शीघ्र दूसरे लोक में नहीं होती। कारण मनुष्य का ही शास्त्रविहित वर्णाश्रमानुकूल कर्मों में अधिकार है अर्थात् वेदादि शास्त्र के अनुसार वर्णाश्रमानुकूल कर्म करने का सामर्थ्य मनुष्य का ही है। मनुष्य-लोक से अतिरिक्त दूसरे लोक में वैदिक कर्मों में अधिकार न रहने पर भी यदि वे फलाकांक्षी होकर कर्म करें तब वे विफल होंगे, ऐसी बात नहीं हैं किन्तु उन्हें इष्टफल (आकांक्षित फल) विलम्ब से प्राप्त होता है, यही विशेष है। इस कारण भाष्यकार ने इस प्रकार की व्याख्या की कि वर्णाश्रमाधिकारी व्यक्तिगणों के (अर्थात् जो वर्ण और आश्रम के अनुकूल वेदादिशास्त्रविहित कर्मादि करते रहते हैं उनके) कर्मजनित फल की सिद्धि (अर्थात् इष्ट फललाभ) शीघ्र होती है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[तो फिर मोक्षप्राप्ति के लिये सब लोग तुम्हारी भजना (उपासना) क्यों नहीं करते हैं ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—] कर्मणां सिद्धिं काङ्क्षन्तः—कर्मों की सिद्धि अर्थात् कर्मफल की आकांक्षा कर इह—प्रायशः इस मनुष्य लोक में देवताः यजन्ते—इन्द्रादि देवगणों का भजन करते हैं अर्थात् साक्षात् मेरा भजन नहीं करते हैं। हि—क्योंकि मनुष्यलोके—मनुष्यलोक में कर्मजा सिद्धिः—कर्मजनित फल क्षिप्रम्—शीघ्रं भवति—होता है अर्थात् प्राप्त होता है किन्तु ज्ञान के फल अर्थात् कैवल्य शीघ्र प्राप्त नहीं हो सकता है क्योंकि ज्ञान दुष्प्राप्य है (ज्ञान लाभ करना अत्यन्त कठिन है)।

(२) शंकरानन्द—[मोक्ष के सन्निकृष्ट कारण (साधन) अर्थात् सभी श्रुति में प्रसिद्ध प्रकृष्ट अन्तरंग साधन ज्ञानयोग का परित्याग कर पण्डित लोग कर्म योग का अनुष्ठान क्यों करते हैं इस आशंका के उत्तर में कहा

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

जायगा कि, चित्तशुद्धि होने पर ही ज्ञानयोग की सिद्धि होती है। चित्तशुद्धि लाभ कर जो सर्वकर्म का संन्यास (त्याग) कर ज्ञानयोग में प्रवृत्त होते हैं उनको ज्ञान-निष्ठा संभव नहीं होती है और ज्ञाननिष्ठा की सिद्धि न होने पर मोक्ष की सिद्धि नहीं होती। अतः ऐसी परिस्थिति में वे ज्ञान और कर्म दोनों के फल से ही भ्रष्ट (वंचित) होते हैं। इसलिये मोक्ष का आदि प्रथम कारण जो चित्तशुद्धि है उसे कर्म के द्वारा ही (शास्त्र-विहित वर्णाश्रम अनुकूल कर्म के अनुष्ठान द्वारा ही) सम्पादित करना होगा। अतः विचक्षण (बुद्धिमान्) पुरुष कर्म अनुष्ठान ही करते हैं। इस अभिप्राय से श्रीभगवान् कह रहे हैं—] इह—इस लोक में देवताः—इन्द्र अग्नि आदि देवताओं को उनकी प्रसन्नता लाभ करने के लिये यजन्तः—आज्य आदि हवि द्वारा आराधना करने वाले पण्डित लोग कर्मणां सिद्धिम्—श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नियम से अनुष्ठित वेदविहित कर्मों की सिद्धि अर्थात् जिसका फल चित्तशुद्धि है वह काङ्क्षन्तः—आकांक्षा कर (चाहते हुए) मम वर्त्म अनुवर्तन्ते—मेरे मार्ग को अनुवर्तन (अनुसरण) करते हैं, इस प्रकार पूर्व श्लोक के साथ अन्वय करना होगा। यदि शंका हो कि हठयोगादि द्वारा भी तो बुद्धि की शुद्धि की जा सकती है, फिर कर्मानुष्ठान का क्या प्रयोजन (आवश्यकता) है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि ऐसी शंका युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि हठयोगादि क्रिया वेदविहित नहीं हैं, अतः ब्राह्मणों के लिए वह (हठयोगादि) करने का विधान रहने के कारण वह कर्मयोग नहीं है और करने पर भी हठयोगादि से चित्त की शुद्धि प्राप्त करना दीर्घकालान्तर में ही संभव है अतः मुमुक्षु ब्राह्मणों के लिये कर्मानुष्ठान ही करना चाहिए। इस अभिप्राय से श्रीभगवान् कह रहे हैं—हि—क्योंकि मानुषे लोके—मनुष्यलोक में अर्थात् कर्मभूमि में कर्मजा—कर्म से उत्पन्न होने वाली अर्थात् वैदिक कर्म के अनुष्ठान से प्राप्त होने वाली सिद्धिः-चित्त की शुद्धि की सिद्धि क्षिप्रम्—शीघ्र ही भवति—होती है अर्थात् यज्ञ द्वारा आराधित देवताओं के प्रसाद (प्रसन्नता) से शीघ्र ही चित्त की शुद्धि होती है, यही कहने का अभिप्राय है। "मानुषे लोके सिद्धिः" ऐसा कहने से यह सूचित किया जा रहा है कि मनुष्य लोक में ही चार वर्ण, चार आश्रम और कर्मों की विधि है दूसरे किसी लोक में ये नहीं हैं।

(२) नारायणी टीका—"कर्मजनित फलसिद्धि शीघ्र होती है" इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि सकाम यज्ञादि कर्म करने की सामग्री (उपकरण) यथा घृत, जौ, तण्डुल इत्यादि अति अनायास ही लब्ध होता है

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अतः सकाम कर्म विधिपूर्वक करना सहज साध्य है। द्वितीयतः सकाम कर्म जागतिक तुच्छ वस्तुओं की आकांक्षा कर देवताओं की तृप्ति के लिये किये जाते हैं। क्षुद्र फल क्षुद्र कर्म द्वारा और क्षुद्र समय में (शीघ्र) प्राप्त होगा इसमें आश्चर्यकारी कुछ भी नहीं हैं—इसी कारण से मनुष्य लोक में कामनाविशिष्ट व्यक्तिगण मोक्ष से विमुख होकर अभिलषित (इच्छित) तुच्छ फल की सिद्धि के हेतु दूसरे देवताओं की पूजा करते हैं। किन्तु जो लोग भगवान् को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं उनको फल विलम्ब से प्राप्त होता है। कारण प्रथमतः—वह अन्तःकरण की शुद्धि की अपेक्षा रखता है। अन्तःकरणशुद्धि कोई वाहरी वस्तु के ऊपर निर्भर नहीं करती है। काम-क्रोधादि रूप महाप्रवल अन्तर के शत्रुओं के साथ शास्त्रविहित उपायों से युद्ध कर, उनके उपर जयलाभ करने से ही चित्तशुद्धि लाभ किया जाता है। अतः इसके लिए दीर्घकाल निरन्तर श्रद्धा के साथ साधना का अभ्यास करना आवश्यक होता है (स तु दीर्घकालनिरन्तर-सत्कारसेवितो दृढभूमिः पा० यो०)। इसी कारण से कर्मजनित फल के समान शीघ्र चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञानलाभ कर भगवत् प्राप्ति या मोक्ष-लाभ करना संभव नहीं है। द्वितीयतः—मोक्षरूप फल नित्य और अनन्त है अर्थात् कोई देश काल व वस्तु द्वारा परिच्छिन्न होने के योग्य नहीं है। महाफल महा प्रयत्न से ही लाभ होता है—इस कारण विलम्ब अवश्यम्भावी है। गीता में भी भगवान् कहेंगे—'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते, (गीता ७।१९) अर्थात् अनेक जन्म अतात होने के वाद "सकल वस्तु ही वासुदेव" इस प्रकार का ज्ञान लाभ करने के पश्चात् साधक मुझे प्राप्त करते हैं।

[पूर्व श्लोक में कहा गया है कि मनुष्यलोक में ही वर्ण और आश्रम-विहित कर्मों में अधिकार है दूसरे लोक में नहीं है। इस प्रकार के नियम का क्या कारण है ? अथवा जिनमें कर्म और आश्रम विभाग का प्रचलन है वही मनुष्यगण सर्व प्रकार से तुम्हारे मार्ग का अनुसरण करते हैं, यह तुम ११ श्लोक में कहे हो। क्या कारण है कि वे नियमपूर्वक तुम्हारे पथ का ही अनुसरण करते हैं, दूसरे के पथ का अनुसरण नहीं करते ! इसके उत्तर में कह रहे हैं]

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—मया गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यं सृष्टं तस्य कर्तारमपि माम् अकर्तारम् एवम् अव्ययं विद्धि।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अनुवाद—मैंने सत्त्वादि गुण और शम, दम, तप इत्यादि कर्म विभाग के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की सृष्टि की है। किन्तु चार वर्णों की सृष्टि के प्रति मैं कर्ता (अर्थात् कारण) होने पर भी तुम मुझे अकर्ता और अविनाशी ही जानना।

भाष्यदीपिका—मया—मेरे (अर्थात् ईश्वर के) द्वारा गुणकर्म-विभागशः—गुण विभाग के अनुसार और कर्म विभाग के अनुसार [वह इस प्रकार है—गुण शब्द का अर्थ है सत्त्व, रज और तम। यह तीन गुणों के तारतम्य (कम ज्यादा) के अनुसार कर्म का विभाग होता है।

यथा सात्त्विक अर्थात् सत्त्वगुणप्रधान ब्राह्मण के कर्म शम, दम, तपस्या प्रभृति हैं। जिसका सत्त्व गुण प्रकृष्ट (प्रधान) नहीं है किन्तु रजोगुण ही प्रधान है, उस क्षत्रिय जाति के कर्म शौर्य, तेजः प्रभृति हैं। जिसका तमोगुण अप्रधान अर्थात् गौणरूप में स्थित है और रजोगुण ही जिसका प्रधान है उस वैश्य जाति के कर्म कृषि-वाणिज्य प्रभृति हैं। जिसका रजोगुण गौणभाव से स्थित है और तमोगुण ही प्रधान है उस शूद्रजाति के कर्म केवल शुश्रूषा (सेवा) है। इस प्रकार गुण विभाग के अनुसार और कर्म विभाग के अनुसार चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की मेरे (अर्थात् ईश्वर) द्वारा (जगत्सृष्टि के समय) सृष्टि हुई है—श्रुति में कहा है 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' अर्थात् ब्राह्मण परमेश्वर के मुख से उत्पन्न हुए हैं इत्यादि। ये चार वर्ण मनुष्य-लोक में ही व्यवस्थित (विधिबद्ध) हुए हैं दूसरे लोक में नहीं। इस कारण "मानुषे लोके" यह विशेषण (पूर्व श्लोक में) दिया गया है। अब अर्जुन के मन में यह शंका हो सकती है कि श्रुति में कहा है 'स यथा कामो भवति तत् क्रतुर्भवति यत् क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिलषितं पद्यते' (बृह० उ०) अर्थात् वह जिस प्रकार की कामना करता है उसी के अनुसार निश्चय युक्त होता है। जिस प्रकार निश्चययुक्त होता है उसी प्रकार कर्म करता है और जिस प्रकार कर्म करता है उसी प्रकार का फल प्राप्त करता है। अतः मनुष्य स्वयं ही कर्म के अनुसार फलभोग करने के लिये विभिन्न वर्णों में (ब्राह्मणक्षत्रियादि वर्णों में) जन्म ग्रहण करता है। अब प्रश्न होगा (क) श्रुति में तुम्हें निष्क्रिय भी कहा गया है। अतः तुम्हारे द्वारा चातुर्वर्ण्य की सृष्टि किस प्रकार संभव हुई ? और (ख) यदि स्वीकार किया जाय कि तुम हो चातुर्वर्ण्य के सृष्टिकर्ता हो तो फिर निश्चय ही कामना-वश होकर सृष्टि किये हो। अतः तुम आप्तकाम या पूर्ण नहीं हो फिर (ग) सृष्टिकर्म के कर्तृत्व रहने के कारण उसके फल के साथ भी तुम्हारा

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

संबंध रहेगा फिर (घ) विषमस्वभाव वाले चातुर्वर्ण्य की सृष्टि करने के कारण तुम वैषम्य (असमदर्शित्व) दोष से युक्त होओगे। अतः तुम नित्यमुक्त और नित्यशुद्ध ईश्वर नहीं हो सकते हो। इसके उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं—तस्य कर्तारमपि—माया के द्वारा मैं इस जगत् सृष्टि रूप क्रीड़ा (खेल) का कर्ता होने पर भी अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि से मैं (ईश्वर) जगत् सृष्टि के कर्ता के रूप में प्रतीत होने पर भी माम् अकर्त्तारम् (तथा) अव्ययं विद्धि—पारमार्थिक भाव से मैं अकर्ता और अव्यय हूँ (असंसारी, अविनाशी, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव हूँ) इसी भाव से ही तुम मुझे जानना। [मुझे अव्यय अकर्ता जान लेना अर्थात् मेरा कोई अहंकार (कर्तृत्वाभिमान) न रहने के कारण मेरी यह महिमा अक्षुण्ण (विनाशरहित) रहती है, यह जानलो (मधुसूदन)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[कोई सकाम भाव से और कोई निष्काम भाव से कर्म में प्रवृत्त होता है इसलिये कर्मवैचित्र्य (कर्म की विभिन्नता) देखा जाता है। कर्म के कर्ता ब्राह्मणादि में भी उत्तम मध्यमादि वैचित्र्य (भिन्नता) पाया जाता है। इस प्रकार वैचित्र्य का कर्ता होते हुए अर्थात् विषम रचना करते हुए तुम में वैषम्य (विषमता) क्यों नहीं है ? इसका उत्तर श्रीभगवान् दे रहे हैं]

गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्—गुण और कर्म के विभाग द्वारा चातुर्वर्ण्य की सृष्टि मेरे द्वारा हुई है। चतुर्वर्ण शब्द से स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय कर चातुर्वर्ण्य शब्द निष्पन्न हुआ है अर्थात् चार वर्ण ही "चातुर्वर्ण्य" कहे गये हैं। (१) ब्राह्मण सत्त्वगुणप्रधान है और शम दमादि उनके कर्म हैं, (२) क्षत्रिय सत्त्व गुणमिश्रित रजोगुण प्रधान है और शौर्ययुद्धादि उनके कर्म हैं, (३) वैश्य रजोगुणमिश्रित तमोगुण प्रधान है और कृषि वाणिज्य आदि उनके कर्म हैं, (४) शूद्र तमोगुण प्रधान है और उनके कर्म तीनों वर्णवालों की सेवा इत्यादि है। तस्य कर्तारमपि माम् अकर्तारमव्ययं विद्धि—इस गुण और कर्म के अनुसार मैंने चार वर्णों की सृष्टि की यह सत्य है। तथापि मैं इनकी सृष्टि का कर्ता होने पर भी मुझे वास्तव में अकर्ता ही समझो क्योंकि मेरे कर्म में कर्तृत्वाभिमान नहीं है और कर्म के फल में मैं आसक्ति-रहित होने के कारण मैं अव्यय अर्थात् अविनाशी हूँ। [इस प्रकार सृष्टि-कर्म में मेरा किसी प्रकार का श्रम नहीं होता है। जिस कारण श्रमरहित हूँ उस कारण मैं अव्यय (अविनाशी) हूँ। अतः मैं सब कर्मों का कर्ता होने पर भी अकर्ता ही रहता हूँ। मुझे इस कारण अव्यय तथा अकर्ता ही जानो]।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

(२) शंकरानन्द—'मम वर्त्म अनुवर्तन्ते' अर्थात् मेरी कृति के विषयभूत कर्म मार्ग का अनुवर्तन करते हैं, यह जो कहा गया है उसीको विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं—गुणकर्मविभागशः—गुण और कर्म के विभाग द्वारा सत्त्व, रज और तमोगुणों के तथा शम इत्यादि कर्मों के विभाग से अर्थात् जिसमें सत्त्वगुण प्रधान और रजोगुण गौण रहता है इस प्रकार के ब्राह्मण का शमदमादि कर्म है, जिसमें रजोगुण प्रधान है और सत्त्वगुण गौण है इस प्रकार के क्षत्रिय का शौर्य, तेज और धृति प्रभृति कर्म हैं, जिसमें रजोगुण प्रधान है और तमोगुण गौण है इस प्रकार के वैश्य का कृषि आदि कर्म हैं और जिसमें तमोगुण प्रधान है और रजोगुण गौण है ऐसे शूद्र का परिचर्या रूप (सेवा रूप) कर्म है—

इस प्रकार के गुण और कर्म के विभाग के अनुसार चातुर्वर्ण्यं—चार वर्ण (चार वर्ण को ही 'चातुर्वर्ण्य' कहा जाता है) और चार आश्रम मया—मेरे द्वारा (ईश्वर के द्वारा) सृष्टम्—सर्ग के (सृष्टि के) प्रारम्भ में सृष्ट (उत्पन्न) हुए हैं। अतः 'मम वर्त्म अनुवर्तन्ते मनुष्याः' अर्थात् मनुष्य मेरे मार्ग का अनुवर्तन करते हैं, यह जो कहा गया था वह सिद्ध हुआ। अब प्रश्न हो सकता है—'यत् क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' अर्थात् (मनुष्य) जिस प्रकार निश्चय करता है उसी प्रकार कर्म करता है और जिस प्रकार का कर्म करता है उसी प्रकार के फल को प्राप्त करता है—ऐसा श्रुतिवचन रहने के कारण चातुर्वर्ण्यसृष्टिरूप कर्म जब तुम करते हो तब तुम्हारा भी तो उस कर्म के फलस्वरूप जन्मादि से संबंध होना सम्भव है ? और यदि ऐसा हो तो फिर तुम में नित्यत्व और ईश्वरत्व सिद्ध नहीं होते। इसके उत्तर में कह रहे हैं—नहीं, ऐसी शंका युक्तियुक्त नहीं है कारण श्रुति में कहा गया है—"विकल्पो न हि वस्तु" "मायामात्रमिदं द्वैतम्" अर्थात् विकल्प कोई वस्तु नहीं है, जो कुछ भी द्वैतरूप में प्रतीत हो रहा है वह सब मायामात्र ही है। अतः स्रष्टासृष्ट्यादि (जो सृष्टि का कर्ता है तथा जो कुछ सृष्ट हुआ है वह सब) मायिक होने के कारण सब मिथ्या ही है। इस कारण तस्य कर्तारमपि माम् अकर्तारम् अव्ययं विद्धिः—मैं निष्कल, निष्क्रिय और अविकारी हूँ अतः सर्जनादि (सृष्ट्यादि) क्रिया मुझसे सम्भव नहीं होती है किन्तु जैसे जादूगर कुछ भी उत्पन्न न कर बहुत कुछ लोगों को दिखाते हैं उसी प्रकार मैं भी कुछ भी उत्पन्न न कर माया से विश्वब्रह्माण्ड की सृष्टि कर अज्ञानी को दिखाता हूँ। अर्थात् मैं माया के द्वारा ही यह सब सृष्टि करता हूँ। अतएव मैं अज्ञानी के पास सृष्ट्यादि का कर्तारूप में प्रतीत होने पर भी

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

वस्तुतः (पारमार्थिक दृष्टि से) मुझे अकर्ता ही जानो। यद्यपि जिनके चित्त मेरी माया द्वारा मोहित है उनकी दृष्टि में इस चातुर्वर्ण्य तथा प्रपञ्च के कर्ता के रूप में मैं ही प्रतीत होता हूँ तथापि मुझ परमात्मा को तुम अकर्ता ही जानोगे कारण कि मैं निर्गुण हूँ, अतः मैं कर्तादि धर्मों से रहित हूँ। कर्ता न होने के कारण मेरा कुछ भी कर्म नहीं होता और कर्म न होने के कारण कर्म के फलभूत जन्मादि भी मुझमें सम्भव नहीं होते हैं। अतः मुझे अव्यय (नाशरहित) अर्थात् नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव हो जानो, यही भावार्थ है।

(३) नारायणी टीका—मैं माया द्वारा ही सृष्टि करता हूँ। परमार्थतः कुछ भी सृष्टि न करके मैं अपने को ही नाना नाम, रूप और क्रिया में विभाजित कर जादूगर की तरह इस मिथ्या जगत् की सृष्टि दिखाता हूँ। जो लोग मेरी माया के द्वारा मोहित होते हैं वे लोग इस सृष्टि को देखते हैं और मैं निर्गुण और निष्क्रिय (कर्तृत्वादि धर्मशून्य) होने पर भी मुझे ही सृष्टि का कर्ता समझते हैं एवं अजः (जन्मरहित) होने पर भी मुझे कर्म के फलीभूत जन्मादि धर्म-विशिष्ट समझते हैं। किन्तु जो लोग विवेकी विचारवान् हैं वे जीव, जगत् तथा ईश्वर भी माया की ही सृष्टि है अर्थात् काल्पनिक है इसे जानकर सर्वप्रपञ्च से विलक्षण शुद्धचैतन्यस्वरूप एवं सर्वभूत की आत्मा मुझे (परमेश्वर को) अकर्ता (कर्तृत्वादिधर्मशून्य) और अव्यय (विकार या नाशरहित) जानकर मुझमें ही स्थित होकर इस संसारचक्र से अपना उद्धार करते हैं। गीता में स्थान स्थान पर श्री भगवान् ने इसी तत्त्व का प्रतिपादन किया है। किन्तु साथ-साथ यह भी कहा है कि अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्म निष्काम भाव से ईश्वरार्पण बुद्धि से न करने से चित्तशुद्धिलाभ नहीं होता है और बिना चित्तशुद्धि ज्ञानलाभ कर मोक्षप्राप्ति करना असम्भव है। जब तक जीव की बुद्धि अज्ञान से आच्छन्न (आवृत) रहती है तब तक जीव गुणों के (सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों के) अधीन रहता है और उनकी गुणों के अनुसार उसकी कर्म में प्रवृत्ति होती है। इन गुण और कर्म के विभाग द्वारा प्रत्येक मनुष्य का चारवर्ण (ब्राह्मण क्षत्रियादि) में से कोई एक वर्ण निर्णीत होता है। चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की तरह भगवान् की सृष्टि माया द्वारा ही (कल्पना-शक्ति द्वारा ही) हुई है किन्तु उस प्रकार सृष्टिरूप कर्म द्वारा भगवान् के निष्क्रियत्व की हानि नहीं होती है। रज्जु में सर्प-भ्रान्ति होने पर भी जिस प्रकार रज्जु उस सर्प की स्रष्टा नहीं होती है अथवा सर्प के नाम, रूप तथा क्रिया के द्वारा रज्जु (रस्सा) का कोई विकार नहीं होता है, उसी प्रकार चातुर्वर्ण्य, उनके कर्म और सारा जगत् प्रपञ्च परमात्मा में भ्रान्तिवश प्रतीत होने पर भी परमात्मा

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अकर्ता और अव्यय ही रहते है अर्थात् परमात्मा के अपने स्वरूप की कोई हानि या वृद्धि नहीं होती है। अर्जुन को भी उसी कारण से भगवान् ने उपदेश दिया कि तुम अर्जुन हो अर्थात् शुद्धबुद्धि सम्पन्न हो, अतः साधारण अज्ञानी जीव की तरह भ्रान्ति दर्शन को सत्य मानकर मुझे कर्ता, भोक्ता के रूप में संशय करना तुम्हारे लिये उचित नहीं होगा। पारमार्थिक दृष्टि अवलम्बन कर सभी अवस्था में मुझ परमात्मा को अकर्ता और अव्यय (अविनाशी और अविकारी) जानो तो फिर मेरे नित्यमुक्तत्व, नित्य-ईश्वरत्व और अपक्षपातित्व के सम्बन्ध में तुम्हारे मन में कोई संशय नहीं रहेगा। [चातुर्वर्ण्य का आध्यात्मिक रहस्य—प्रथमाध्याय के परिशिष्ट में द्वितीयाध्याय के तात्पर्य में (३२-३३ श्लोकों की व्याख्या में) प्रदर्शित हुआ है। वह द्रष्टव्य है]।

[जिन सब कर्मों के कर्तारूप में तुम मुझे समझ रहे हो, पारमार्थिक-दृष्टि से मैं उन सबका कर्ता नहीं हूँ, इस तत्त्व का और भी रहस्य है—वह अत्र श्रवण करो—]

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

अन्वयः—कर्माणि मां न लिम्पन्ति, कर्मफले मे स्पृहा न इति यः माम् अभिजानाति सः कर्मभिः न बध्यते।

अनुवाद—सृष्टि (विश्वरचनादि) कर्म समूह मुझे लिप्त नहीं कर सकते हैं, कर्मफल में भी मेरी कोई स्पृहा (आसक्ति) नहीं है। जो मुझे इस प्रकार जानते हैं वे कर्मसमूह के द्वारा (संसार में) आबद्ध नहीं होते हैं (कारण उनका भी मेरी तरह कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता है)।

भाष्यदीपिका—कर्माणि—(विश्वसृष्टि प्रभृति कर्मसमूह) माम्—मुझे अर्थात् सकल कर्मों में अहंकारशून्य (कर्तृत्वाभिमानरहित) भगवान् को न लिम्पन्ति—देहादि के आरम्भक अहंकार न रहने के कारण मुझे लिप्त नहीं कर सकता। कर्म में यदि "मैं कर्ता हूँ", "मैं इस फल का भोक्ता हूँ"—इस प्रकार का अभिमान या अहंकार रहे तब जिन कर्मों के फल का भोग इह जन्म में नहीं किया गया उसका भोग करने के लिये मृत्यु के बाद फिर जीव को देह प्रभृति धारण करना पड़ता है। यही अहंकार ही जीव है। वही उसके कर्तृत्व और भोक्तृत्व द्वारा (अर्थात् कर्मों में कर्तृत्वाभिमान कर और कर्म के फल की आकांक्षा कर) पुनर्जन्म के बीज की सृष्टि करता है, जो बीज मृत्यु के

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

पश्चात् पुनः देहादि का आरम्भक होता है। जिसको अहंकार और फलकामना नहीं है उसके जन्म का बीज उत्पन्न न होने के कारण संसारगति प्राप्त नहीं होती है (उसका संसार में आगमन नहीं होता है अर्थात् मोक्ष प्राप्ति होती है)।

अब यही कह रहे हैं—कर्मफले मे स्पृहा न—(मैं आत्मकाम और पूर्ण होने के कारण किसी वस्तु में मेरी अभिलाषा (आकांक्षा) रहना सम्भव नहीं है, अतएव उन सब कर्मों के फल भोग करने की स्पृहा या तृष्णा मेरी नहीं है। श्रुति में भी कहा गया है—"आप्तकामस्य का स्पृहा" अर्थात् जो आप्त-काम है उसकी और क्या स्पृहा रह सकती है ? (मधुसूदन) अर्थात् जिस संसारी पुरुष में "मैं कर्ता हूँ" इस प्रकार का अभिमान रहता है और जिसकी कर्म और कर्मफल में स्पृहा रहती है उसे कर्म लिप्त कर सकता है, यह ठीक है, किन्तु मुझमें इन दो वस्तुओं का (कर्तृत्वाभिमान और कर्मफल में आसक्ति का) अभाव रहने के कारण मुझे कर्म लिप्त करने (बद्ध करने) में असमर्थ हैं। इति—इस प्रकार यः—जो अर्थात् दूसरा कोई भी माम्—परमार्थतः अकर्ता और अभोक्ता मुझे [आकाश की तरह सर्वगत, असंगत, अविक्रिय तथा बुद्धि और उसके कर्म का साक्षी मुझे] अभिजानाति—आत्मरूप में अभितः (सर्वतोभाव से) जानते हैं अर्थात् "मैं ही ब्रह्म (परमात्मा) हूँ" इस प्रकार मेरी संशयरहित होकर अभिन्न भाव से उपलब्धि करते हैं।

सः कर्मभिः—वह अपने द्वारा अनुष्ठित कर्मों से न बध्यते—आबद्ध नहीं होता है अर्थात् उसके भी कर्म सकल देहादि के आरम्भक (अर्थात् संसार में जन्म-मृत्यु का हेतु) नहीं होते हैं [कारण "आत्मा अकर्ता है" इस प्रकार आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञानलाभ कर वह मुक्त हो जाता है (मधुसूदन)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पूर्व श्लोक में जो कहा गया है उसे ही स्पष्ट करने के लिए कह रहे हैं]

कर्माणि मां न लिम्पन्ति—विश्व की सृष्टि आदि कर्मसमूह मुझे आसक्त नहीं करते कारण मैं निरहंकार (कर्तृत्वाभिमानशून्य) हूँ—न मे कर्मफले स्पृहा—(एवं पूर्णकाम होने के कारण) मेरी कर्मफल में स्पृहा (आसक्ति) भी नहीं है इति मां यः अभिजानाति—मुझे (आत्मा को) निर्लिप्त जो जानता है कर्मभिः सः न बध्यते—वह भी कर्म द्वारा आबद्ध नहीं है। भाव यह है कि मेरी निर्लिप्तता के कारण जो निरहंकारता तथा निस्पृहता आदि है उनको जो जानता है उसके भी अहंकारादि शिथिल हो जाते हैं, अतः वह भी कर्मों से बद्ध नहीं होता है। [वह भी निरहंकार, (कर्तृत्वाभिमान-

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

शून्य) और स्पृहाशून्य (कर्मफल में आसक्तिशून्य) होकर अकर्ता मुझमें ही आत्मबुद्धि कर अर्थात् मेरे साथ एकात्मता का अनुभव कर कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है]।

(२) शंकरानन्द—मुझ परब्रह्म की दो उपाधियाँ हैं—माया और माया के कार्य। मैं स्वयं कूटस्थ, असंग और चिद्रूप हूँ। इस कारण माया और माया के कार्य का मेरे साथ कोई संबंध न होने के कारण मायाकृत जगत् सृष्टि आदि कर्मों से जिस प्रकार मेरा कोई संबंध नहीं है उसी प्रकार असंग होने के कारण मुझ प्रत्यक्चैतन्यस्वरूप का देहेन्द्रियादि के द्वारा कृत कर्मों के साथ भी कोई संबंध नहीं रह सकता। इस प्रकार कर्तृत्व के भोक्तृत्वादि धर्म-रहित मुझ परमात्मा को श्रवण मननादि से उत्पन्न विज्ञानबल द्वारा जो कोई व्यक्ति अपने आत्मरूप से जानकर कर्म में प्रवृत्त होते हैं (कर्म करते हैं) वे भी कर्म द्वारा बाध्य (लिप्त) नहीं होते हैं।

न मे कर्मफले स्पृहा—कूटस्थ, असंग और चिद्रूप होने के कारण बुद्धि आदि के संबंध से रहित मुझ परमात्मा की कर्मफलों में अर्थात् कर्मों में तथा कर्मों से उत्पन्न फलों में स्पृहा नहीं है। स्पृहा बुद्धि का धर्म है, इस कारण बुद्धि आदि का साक्षी अविकारी जो मैं हूँ उसका उसी बुद्धि के धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः मुझमें कर्मफल की इच्छा का भी होना सम्भव नहीं है। अतः न मां कर्माणि लिम्पन्ति—"स यथा कामो भवति तत् क्रतुर्भवति यत् क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते" अर्थात् मनुष्य जैसी इच्छा करता है वैसा निश्चयवाला होता है और जैसा निश्चयवाला होता है वैसा कर्म करता है, इस प्रकार के श्रुतिवचन द्वारा कामनावान् पुरुष का ही कर्म का संकल्प और कर्म का आरम्भ सुनने में आता है। अतः कर्मफल की इच्छा से ही विज्ञानात्मक जीवात्मा कर्म करता है। मुझ अकामी और क्रियारहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप के द्वारा कर्म अनुष्ठित नहीं हो सकता है। इस कारण बुद्धि आदि द्वारा कृत कर्म और कर्म-कर्ता के साक्षी अकर्ता मुझे लिप्त कर (स्पर्श कर) नहीं सकता है। जो पुरुष फलेच्छु होकर जो कर्म करता है उसी कर्म के द्वारा तैल की तरह वही व्यक्ति लिप्त होता है, दूसरा नहीं होता है। बुद्धि प्रभृति कर्म के कर्ता हैं—बुद्धि आदि से जो विलक्षण (पृथक्) है उन्हें बुद्धि आदि द्वारा कृत (किये गए) कर्म लिप्त करने में समर्थ नहीं होते हैं, इति मां यः अभिजानाति—[ऐसा होने से कर्मफल की इच्छा से रहित, कर्म के अकर्ता, अभोक्ता, आकाश के समान सर्वव्यापक, असंग, अविक्रिय और बुद्धि तथा बुद्धि के धर्म एवं बुद्धि के कर्म एवं बुद्धि की अवस्थाओं का साक्षी] मुझे अर्थात्

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

(परमात्मा को) जो अपना तत्त्व अर्थात् आत्मा के रूप में [अभि (सम्यक् आभिमुख्येन) अर्थात् सर्वप्रकार से (भलीभाँति)] जानते हैं अर्थात् "यही परमात्मा मैं ही हूँ" (मैं ही स्वरूपतः ब्रह्मस्वरूप परमात्मा हूँ) इस प्रकार साक्षात् अपनी आत्मा को जो जानता है वह विद्वान् अधिकारी कर्मभिः सः न बध्यते—लोकसंग्रह के लिये कर्म करने पर भी उन कर्मों से बद्ध (लिप्त) नहीं होता है अर्थात् उसके द्वारा कृतकर्म देहारम्भक नहीं होते हैं अर्थात् वे सब कर्म उसके पुनर्जन्म के कारण नहीं होते हैं।

(३) नारायणी टीका—सब की "मैं" (आत्मा) ही भगवान् है। अतएव जो भगवान् का स्वभाव है वही सब जीवात्मा का स्वभाव है, किन्तु जोव अज्ञानवश अपने आत्मस्वरूप को भूलकर बुद्धि, मन प्रभृति में आत्माभिमान कर बुद्धि के कार्य में कर्तृत्व का अभिमान (अहंकार) कर उन सब कर्मों के फल द्वारा आबद्ध होता है। वस्तुतः आत्मा बुद्धि आदि तथा उनके कर्मों का साक्षीमात्र है, फिर आत्मा अकर्ता अभोक्ता भी है (अतः आत्मा की कर्मफल में स्पृहा नहीं हो सकती है)। आसक्ति या स्पृहा मन के धर्म हैं। शुद्ध चैतन्यस्वरूप उदासीन साक्षीमात्र आत्मा के सान्निध्य में त्रिगुणात्मिका प्रकृति अपने से उत्पन्न संकल्पविकल्पात्मक मन की सहायता से दर्पण में प्रतिविम्ब की तरह सर्वकर्म कर रही है। जप, प्राणायाम, ध्यान इत्यादि सभी प्रकृति के ही कार्य हैं फिर गमन, भोजन, युद्धरूप क्रियाएँ भी प्रकृति के ही कार्य हैं। प्रतिविम्ब जितना भी चंचल क्यों न हो, जितना भी कर्म क्यों न करें, दर्पण को प्रतिविम्ब जैसे कभी लिप्त नहीं कर सकता है, उसी प्रकार प्रकृति के कर्म आत्मा को लिप्त या आबद्ध नहीं कर सकते हैं। इस कारण श्रुति में कहा गया है—"असंगह्ययमात्मा"—(यह आत्मा असंग अर्थात् किसी के द्वारा लिप्त नहीं होती है)। "आत्मा निर्लिप्त है" इस प्रकार आत्मा के स्वरूप को जानकर देहेन्द्रियादि में आत्माभिमान का त्याग कर उसी आत्मा को ही जो "मैं" का यथार्थ स्वरूप मानकर प्रकृति के कर्म का सदा द्रष्टा होकर अवस्थान करता है (प्रकृति के कार्य को केवल देखते रहता है) वह भी प्रकृति द्वारा कृत (किये गये) किसी कर्म से बद्ध (लिप्त) नहीं होता है क्योंकि वह जानता है कि प्रकृति ही सत्त्व, रज एवं तम इन तीनों गुणों द्वारा सब कर्म कर रही है (गीता ३।२७)। अतः किसी कर्म में विद्वान् पुरुषों का कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता है। वह इसे भी जानता है कि प्रकृति के कार्य (इन्द्रिय सकल) प्रकृति के कार्य को (विषय सकल को) भोग कर रहा है। अतः यह सिद्ध होता है कि आत्मा कुछ भी भोग नहीं करती है और भोग करने को

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

कोई भी इच्छा आत्मा में नहीं है कारण आत्मा आप्तकाम है। इस प्रकार अपने स्वरूप को (अपनी आत्मा को) असंग (निर्लिप्त), अकर्ता, अभोक्ता जानकर जीव कर्म बन्धन से (संसार बन्धन से) मुक्त हो जाता है।

[पूर्व श्लोक में कहा गया है कि मैं कर्ता नहीं हूँ और कर्मफल के लिये मेरी स्पृहा नहीं है। इस प्रकार का ज्ञान होने पर मनुष्य कर्म के द्वारा बद्ध नहीं होता है। अब इस कथन को दृष्टान्त के द्वारा समझा रहे हैं— [अभिप्राय यह है कि अर्जुन के मन में शंका उपस्थित हो सकती है कि—तुम ईश्वर हो, तुम्हारे में कर्मफल का अभाव है और लोग ज्ञानवान् हैं उनको भी ऐसा ही हो सकता है किन्तु मुझे क्या करना चाहिए ? इसके उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं—तुम्हें भी कर्म में कर्त्तृत्व-अभिमान त्याग कर और कर्मफल को स्पृहा न रखकर मुमुक्षु की तरह कर्म करना कर्त्तव्य है (आनन्दगिरि)]।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—एवं ज्ञात्वा पूर्वैः मुमुक्षुभिः अपि कर्म कृतम् तस्मात् पूर्वैः पूर्वतरं कृतं कर्म एव त्वं कुरु।

अनुवाद—इस प्रकार जानकर पूर्वतन मुमुक्षुगण भी कर्म किये हैं। अतः पूर्वकाल के पूर्वतन मुमुक्षुगण द्वारा अनुष्ठित (प्राचीन वेदविहित) कर्म तुम भी करो।

भाष्यदीपिका—एवं ज्ञात्वा—पूर्व श्लोक में जैसा कहा गया है उसी प्रकार से "मैं कर्ता नहीं हूँ और मुझे कर्मफल की स्पृहा नहीं है" इस प्रकार कर्म से आत्मा का असंस्पर्श (अर्थात् कर्म आत्मा को लिप्त नहीं कर सकता है यह) जानकर पूर्वैः मुमुक्षुभिः अपि—पूर्वतन (पूर्ववर्त्ती) मुमुक्षुगणकर्त्तृक अर्थात् जिनका देहत्याग हुआ है ऐसा ययाति, यदु प्रभृति मुमुक्षुओं के द्वारा कृतकर्म—कर्म अनुष्ठित हुए हैं अर्थात् वे आत्मा का अकर्त्तृत्व और अविकारित्व जानकर ही मुमुक्षु (मोक्ष लाभ करने के लिए इच्छुक) होकर भी निष्काम भाव से कर्तृत्वाभिमानशून्य होकर अपने अपने वर्णाश्रमविहित कर्मों का अनुष्ठान किये हैं।

कुरु कर्म एव—हे अर्जुन! तुम भी कर्म करो (निकम्मा होकर चुपचाप बैठे मत रहो) विशेष कर क्षत्रिय के धर्म का विचार कर तुम्हारे लिये संन्यास-धर्म का अवलम्बन करना युक्तिसंगत नहीं होगा (मधुसूदन)।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

तुम अनात्मज्ञ (अतत्त्वविद्) हो तो आत्मशुद्धि के लिए (चित्तशुद्धि के लिये) कर्म का अनुष्ठान करो और यदि तुम तत्त्वज्ञ हो तो फिर लोकसंग्रह के निमित्त निष्काम भाव से कर्म करो (आनन्दगिरि)।

तस्मात्—जिस कारण (पूर्वतन मुमुक्षु गण भी विहित कर्म का अनुष्ठान करते थे उसी लिये)

पूर्वैः—पूर्वकालीन जनकादि मुमुक्षुगणकर्त्तृक एवं पूर्वतरम्—पूर्वतर युग में अर्थात् अति पुरातन युग में (जनकादि जिस युग में जन्म ग्रहण किये थे उसके भी पूर्व युग के मुमुक्षुगणकर्तृक)

कृतम्—कर्म का अनुष्ठान किया गया था अर्थात् पूर्व पूर्व युग में जनकादि मनीषियों ने भी इसी प्रकार के कर्म किये थे अर्थात् अति प्राचीन काल से ही निष्काम कर्मयोग निश्रेयस् (मोक्ष) लाभ करने के लिए प्रवर्तित (प्रचलित) है। अतः उसी कर्म में प्रामाणिकत्व रहने के कारण तुम्हें भी उस प्रकार से अपने आश्रमविहित कर्म करना उचित होगा। अधुनातन कर्म न करो अर्थात् कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि लाभ नहीं होता है—इस प्रकार के कर्म न करना आधुनिक अज्ञ और शास्त्र वाक्य में श्रद्धाहीन मनुष्य जिस प्रकार का लौकिक कर्म करता रहता है उस प्रकार के कर्म न करना—यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—["ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इत्यादि पूर्ववर्ती चार श्लोकों में प्रसंगप्राप्त ईश्वर में वैषम्य नहीं है यह दिखाकर पूर्वोक्त कर्मभोग का अनुष्ठान करें। प्राचीन काल के मनीषी कर्मफल से आबद्ध नहीं हुए हैं। अतएव अर्जुन का भी वही करना कर्त्तव्य है; यही स्मरण कराकर अब श्री भगवान् कर्मयोग का ही विस्तार से वर्णन कर रहे हैं]

एवं ज्ञात्वा—अहंकारादि से रहित होकर किये हुए कर्म से कर्म बन्धन नहीं होता है इस रहस्य को जानकर पूर्वैः—पूर्वतनमुमुक्षुभिः अपि—जनकादि मुमुक्षुओं द्वारा भी कर्म कृतम्—कर्म अनुष्ठित हुआ था [अर्थात् जनकादि मुमुक्षुगण भी सत्त्व (अन्तःकरण) शुद्धि के लिए उसी प्रकार अहंकारादिशून्य होकर कर्म किये थे, तस्मात्—जिस कारण पूर्वैः— जनकादि के पूर्ववर्ती मुमुक्षुगण द्वारा पूर्वतरम्—युगान्तर में (अन्ययुग में) कृतम्—उसी प्रकार के कर्म अनुष्ठित हुए थे, इसी कारण त्वं कर्म एव कुरु—तुम मुमुक्षु होने के कारण पहले कर्म ही (शास्त्रविहित निष्काम कर्म चित्तशुद्धि के लिये) करो।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

(२) शंकरानन्द—विद्वान् पुरुष की उपाधि के द्वारा (बुध्यादि द्वारा) किये हुए कर्म वन्धन के कारण नहीं होते हैं—यह ज्ञान विद्वान् व्यक्ति की परार्थप्रवृत्ति में (दूसरों के कल्याण के लिये किये गये कर्मानुष्ठान को प्रवृत्ति में) वलवान् साधन होता है यह सूचना करते हुए पूर्वतन मुमुक्षुगण कर्म के अवन्धकत्व ज्ञान से (कर्म द्वारा वन्धन नहीं होता है इस ज्ञान द्वारा) परार्थ में (दूसरों के हितकारी कर्म में) प्रवृत्त हुए। अतः शिष्टाचार को प्रमाण मानकर तुम्हें भी (अर्जुन को भी) वैसा ही कर्म करना चाहिए यही अव श्रीभगवान् कह रहे हैं।

एवं ज्ञात्वा—मैं बुद्ध्यादि का साक्षी पृथक् स्वरूप ही हूँ अतः देहेन्द्रियादि से भिन्न होने के कारण देहेन्द्रियों से अनुष्ठित कर्म द्वारा मैं वद्ध नहीं हो सकता, अर्थात् आत्मा देहेन्द्रिय से भिन्न (अलग) है और देहेन्द्रियादि के द्वारा कृतकर्म आत्मा के वन्धन के कारण नहीं होते ऐसी पूर्वोक्त रीति के अनुसार (आत्मतत्त्व को) विशेष रूप से जानकर—

पूर्वैः अपि मुमुक्षुभिः कर्म कृतम्—यहाँ पर मुमुक्षु शब्द केवल मोक्ष के अभिलाषी पुरुष के लिये ही नहीं है किन्तु जो दूसरे को अविद्या वन्धन से मुक्त करने की इच्छा करते हैं वे भी मुमुक्षु हैं यह बतलाता है। इसी अर्थ में 'गर्भित-णिजन्त' के रूप में मुमुक्षु शब्द का व्यवहार हुआ है। संसार के पतित जन-साधारण को अविद्या बन्धन से मुक्त करने की इच्छा कर पूर्वकाल में जनकादि मुमुक्षुगण ने लोकहित के लिये कर्म किये थे।

तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतं कर्म एव कुरु—इसलिये प्राचीन-कालीन ज्ञानवृद्ध सत् पुरुषों द्वारा कृत [तथा पूर्वतरं अर्थात् जो अनादि काल से प्रवृत्त हुए हैं वही] कर्म (निष्काम कर्म) लोकहित के लिए तुम करो, उनका त्याग न करना—यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—प्रकृति ही सारा कार्य कर रही है मैं कर्ता नहीं हूँ, चूँकि मैं अकर्ता तथा पूर्ण (आप्तकाम) हूँ, अतः किसी कर्मफल के लिये मेरी स्पृहा नहीं है (आसक्ति या लोभ नहीं है)—मैं प्रकृति के सभी कार्यों का साक्षी (द्रष्टा) हूँ ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान का आश्रय कर इन्द्रियादि के द्वारा कर्म का अनुष्ठान ही कर्म का कौशल है। वैवस्वत, मनु, जनक, ययाति, यदु प्रभृति राजर्षियों ने प्राचीन काल में इस कर्म के कौशल को जानकर ये कर्म किये थे। तुम भी इस प्रकार से कर्म का अनुष्ठान करो। इस कर्म का कौशल जानकर कर्म करने से कर्म अकर्म ही हो जाता

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

है; अतः वह कर्म बन्धन का हेतु नहीं होता है। यही परवर्ती आगे के कुछ श्लोकों में स्पष्ट किया जा रहा है।

[यदि कर्म ही करना है तो तुम्हारे वचन के अनुसार ही करूँगा। वैसा कर्म अतीत काल में प्राचीन मुमुक्षुओं ने अनुष्ठित किया (और यह मोक्ष प्राप्ति के लिये सनातन पन्थ भी है)। इस प्रकार विशेष रूप से कहने का क्या प्रयोजन है ? ऐसा संशय अर्जुन के मन में उपस्थित हो सकता है यह सोचकर भगवान् इसके उत्तर में कह रहे हैं] कर्म के विषय में विषमता दिखाई जाती है क्योंकि कर्म का विषय बहुत ही गहन (गंभीर) है। इसलिये जिससे तुम्हारी कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति अनायास ही हो उसी कारण विशेषरूप से कहने का प्रयोजन हुआ है (आनन्दगिरि)।]

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

अन्वयः—किं कर्म किम् अकर्म इति अत्र कवयः अपि मोहिताः। तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे।

अनुवाद—कौन कर्म है और कौन अकर्म है इसका तत्त्व निरूपण करने में विवेकी भी मोह प्राप्त होते हैं। अतः मैं तुम्हें कर्म के विषय में उपदेश दे रहा हूँ जिसे जानकर तुम इस अशुभ संसार से मुक्तिलाभ कर सकोगे।

भाष्यदीपिका—किं कर्म किम् अकर्म इति—कर्म के संबंध में महान् वैषम्य दृष्ट होता है। जैसा किसी के मत के अनुसार वैदिक श्रुति और स्मृति शास्त्र द्वारा जितने कर्म विहित हैं वे सभी कर्म हैं और उन सब कर्मों के संन्यास को ही (अर्थात् सम्पूर्णरूप से त्याग करने को ही) अकर्म कहा जाता है। किसी के मत के अनुसार चलनान्तक जो कुछ है वे कर्म हैं और अचलन अर्थात् निश्चेष्ट होकर चुप रहना ही अकर्म है इन कारणों से परमार्थतः कौन कर्म हैं और कौन अकर्म हैं ? (शंकरानन्दी टीका द्रष्टव्य) अत्र—इस विषय पर कवयः अपि—मेधावी व्यक्ति भी अर्थात् सर्वशास्त्र जानने वाले व्यक्ति भी मोहिताः—मोह-प्राप्त होते हैं [अर्थात् कर्म और अकर्म के विषय में यथार्थ तत्त्व निरूपण करने में असमर्थ होते हैं कारण कर्म और अकर्म का रहस्य इतना गूढ़ है कि इसके तत्त्व का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है (आनन्दगिरि, मधुसूदन)। तत्—उसी कारण ते—तुम्हे कर्म—कर्म के विषय और अकर्म के विषय पर प्रवक्ष्यामि—प्रकृष्ट रूप से कहूँगा [अर्थात् जिससे

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

तुम्हारा सर्व संशय उच्छेद (नाश) हो इस प्रकार से कहूँगा [मधुसूदन)] यत्—जिसे (अर्थात् कर्म और अकर्म के जो तत्त्व या स्वरूप हैं वे) ज्ञात्वा—अवगत होकर अशुभात्—अशुभ संसार से मोक्ष्यसे—मुक्त हो सकोगे [तत्ते कर्म—तत् ते + अकर्म तत् तेऽकर्म, इस प्रकार सन्धि करने पर अकर्म शब्द पाया जाता है इसके अतिरिक्त कर्म क्या है इसे विहित करने के लिए "अकर्म क्या है" इसे भी निषेध करना होगा। अतः यहाँ कर्म शब्द द्वारा कर्म और अकर्म दोनों का ग्रहण करना युक्तियुक्त होगा। (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[जिस कर्म के संबन्ध में पूर्ववर्त्ती श्लोक में कहा गया है वह भी तत्त्वज्ञानियों से परामर्श करके करना उचित होगा, लोकपरम्परा मात्र से नहीं—यह कह रहे हैं—]

किं कर्म—कर्म क्या है अर्थात् किस प्रकार का कर्म करणीय है किम् अकर्म इति—और अकर्म क्या है, कौन-सा कर्म अकरणीय है अत्र—इस विषय पर कवयः अपि—विवेकीजन भी मोहिताः—मोह-प्राप्त होते हैं, अतः यत् ज्ञात्वा—जिसे जानकर अर्थात् जिसका अनुष्ठान (आचरण) कर अशुभात्—अशुभ संसार से मोक्ष्यसे—मुक्त हो जाओगे तत् कर्म—वह कर्म और अकर्म ते—तुम्हें प्रवक्ष्यामि—प्रकृष्ट रूप से (भली भाँति) मैं (भगवान् श्रीकृष्ण) कह रहा हूँ उसे तुम सुनो।

(२) शंकरानन्द—अच्छा "कर्मणा बध्यते जन्तुः" इस प्रकार के स्मृति वचन द्वारा कर्म में बन्धकत्व ही सिद्ध होता है, यदि ऐसा कहूँ ? नहीं, ऐसा नहीं कह सकते हो कारण उक्त स्मृति अविद्वान् द्वारा अनुष्ठित कर्म को ही बन्धन का हेतु बतलाती है। श्रुति में भी कहा गया है—"त्वं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन" अर्थात् परमात्मा को जानकर कोई पापकर्म द्वारा लिप्त नहीं होता है—इस प्रकार के श्रुति वचन द्वारा विद्वान् को कर्म लिप्त नहीं कर सकता है ऐसा कहा गया है। कर्म और अकर्म दोनों के तत्त्व को सम्यक् रूप से (अर्थात् ठीक-ठीक) जानकर विद्वान् जो कर्म करते हैं वह अकर्म ही होते हैं, वे बन्धन के हेतु नहीं होते हैं। और अविद्वान् द्वारा कृत (किये गये) अकर्म भी (चुपचाप बैठना भी) कर्म ही कहलाते हैं और उन्हीं से बन्धन होता है। अब प्रश्न यह हो सकता है कि—तो फिर कर्म अकर्म का लक्षण क्या है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि कर्म किम् अकर्म इति कवयः अपि अत्र मोहिताः—कोई कोई पण्डित कहते हैं कि श्रुति

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

और स्मृति शास्त्र द्वारा जो विहित है उसे कर्म कहा जा सकता है और जो उनके द्वारा अविहित है वही अकर्म है। कुछ दूसरे पण्डित लोग कहते हैं वैदिक (श्रौत) और स्मार्त्त सभी कर्म कर्म हैं और उनके संन्यास अर्थात् त्याग को अकर्म कहा जाता है। और दूसरे लोगों का कहना है कि चलनात्मक कर्म ही (अर्थात् क्रिया ही) कर्म है और क्रियारहित होकर चुपचाप बैठना आदि ही अकर्म है। ऐसी अवस्था में कौन कर्म है और कौन अकर्म है अर्थात् कर्म शब्द का वाच्य क्या है और अकर्म शब्द का वाच्य क्या है ? इस विषय पर अर्थात् कर्म और अकर्म के तत्त्व निर्णय में कवि भी अर्थात् सर्वशास्त्र को जानने वाले (विद्वान) भी मोहित (मूढ़-भाव प्राप्त) हो गए हैं (वे भी कर्म और अकर्म के तत्त्व को जानने में असमर्थ हो गये है)। तुम भी कर्म अकर्म के स्वरूप के संबंध में अज्ञ (न जानने वाले) हो इसलिये ते—तुम्हें तत् कर्म प्रवक्ष्यामि—उसी कर्म तथा अकर्म के तत्त्व को मैं कहूँगा अर्थात् कर्म और अकर्म के लक्षणों का उपदेश तुम्हें दूँगा यत् ज्ञात्वा—जिससे उन दोनों के तत्त्व को जानकर अशुभात्—अशुभ संसार से मोक्ष्यसे—मोक्ष (मुक्ति) लाभ करोगे अर्थात् कर्म और अकर्म के तत्त्व को सम्यक् जानकर मुक्त हो जाओगे।

(३) **नारायणी टीका**—कर्म और अकर्म के तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म और दुर्ज्ञेय हैं। अतः अत्यन्त मेधावी विज्ञ पण्डित भी कौन कर्म हैं और कौन अकर्म-इसका निर्णय करने में प्रायशः असमर्थ होते हैं। इसी कारण से कर्म और अकर्म के संबंध में अनेक प्रकार के मत प्रचलित हैं यथा (क) कर्त्तव्य कर्म के अनुष्ठान ही कर्म हैं और वेदनिषिद्ध अकरणीय कर्म के अनुष्ठान ही अकर्म हैं, (ख) देहेन्द्रियादि की चेष्टा ही कर्म है और कुछ न कर संन्यासी के रूप में रहना (चुप चाप रहना) अकर्म है, (ग) भगवान् की आराधना ही कर्म है और उसके अतिरिक्त सब अकर्म है, (घ) कामना सहित शास्त्रीय या लौकिक कर्म ही कर्म है और परमात्मा के स्वरूप का परोक्ष ज्ञान गुरुमुख से लाभ कर उस ज्ञान के साथ निष्काम रूप से अनुष्ठित कर्म अकर्म है। किन्तु श्रीभगवान् कह रहे हैं कि कौन कर्म है और कौन अकर्म है यह (अर्थात् कर्म अकर्म का स्वरूप) जानने से संसार से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। यदि कर्म द्वारा कर्मफल उत्पन्न होता है तो वही कर्म संसार-बन्धन का हेतु होता है अर्थात् कर्म में कर्त्तृत्व अभिमान और कर्मफल की कामना रहने पर वही कर्म जन्म मृत्यु का कारण बनकर संसार-गति प्राप्त कराता है और यदि कर्त्तृत्व-अभिमान को त्याग कर अर्थात्

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

प्रकृति से सम्भूत (उत्पन्न) देहादि ही कर्म कर रहा है—मैं केवल मात्र उसका द्रष्टा हूँ, इस प्रकार की बुद्धि से आत्मस्वरूप में स्थित होकर कर्मफल में स्पृहाशून्य होकर देहेन्द्रियों के द्वारा कर्म करने पर भी कर्म संसार के बीज (कर्मफल) उत्पन्न नहीं कर सकता है। इस प्रकार का कर्म अकर्म ही हो जाता है। जो लोग इस प्रकार कर्म तथा अकर्म के स्वरूप (तत्त्व) को जानकर कर्म करते हैं उनका कर्म अकर्म हो जाता है और उसी कारण से वे लोग संसार-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

[देहादि अर्थात् देहेन्द्रियों की चेष्टा कर्म है और देहादि को अक्रिया अर्थात् कुछ न कर चुपचाप बैठे रहना ही अकर्म है, यह तो सर्व लोक प्रसिद्ध होने के कारण मैं भी ऐसा ही जानता हूँ; अतः इस विषय में और विशेष क्या जानना आवश्यक है अर्जुन के मन में ऐसी आशंका हो सकती है इसे सोचकर श्रीभगवान् द्वारा पूर्ववर्त्ती श्लोक में जो कुछ कहा गया है उसे अब स्पष्ट कर रहे हैं—]

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

अन्वयः—हि कर्मणः अपि बोद्धव्यं, विकर्मणः च बोद्धव्यम्, अकर्मणः च बोद्धव्यं, कर्मणः गतिः गहना ।

अनुवाद—जिस कारण से कर्म का (शास्त्रविहित कर्म का) रहस्य जानना होगा उस कारण से विकर्म अर्थात् शास्त्र द्वारा निषिद्ध कर्मों को भी जानना उचित होगा फिर अकर्म अर्थात् कर्म त्याग कर चुपचाप बैठे रहने का रहस्य भी जानना होगा। कारण कर्म की (अर्थात् कर्म अकर्म और विकर्म की) गति (यथार्थ तत्त्व) बड़ा ही गहन है अर्थात् उनको तत्त्व बुद्धि से धारण करना अत्यन्त कठिन है।

भाष्यदीपिका—हि—जिस हेतु [अर्थात् क्यों पूर्व श्लोक में वैसा कहा गया है उसका कारण यह है कि] **कर्मणः अपि**—शास्त्रविहित कर्म के संबंध में **बोद्धव्यम्**—ज्ञातव्य है। अर्थात् उस कर्म का रहस्य जानना होगा। **विकर्मणः**—शास्त्र के द्वारा प्रतिषिद्ध (निषिद्ध) कर्म का विषय भी **बोद्धव्यम्**—ज्ञातव्य है अर्थात् उसके भी तत्त्व को जानना होगा। **अकर्मणः च**—अकर्म अर्थात् कर्मानुष्ठान का त्याग कर चुपचाप निश्चेष्ट (क्रियारहित) होकर बैठे रहनारूप अकर्म के संबंध में भी अर्थात् उसका रहस्य भी **बोद्धव्यम्**—जानना होगा कारण **कर्मणः गतिः गहना**—कर्म की गति (यथार्थ तत्त्व)

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

गहन अर्थात् विषम या दुर्ज्ञेय है (जानना अत्यन्त कठिन है)। इस स्थान पर 'कर्म' शब्द उपलक्षण मात्र है। इसके द्वारा विकर्म तथा अकर्म भी ग्रहण करना होगा। इस कारण 'कर्मणः गतिः गहना' इस वाक्य का अर्थ कर्म, विकर्म तथा अकर्म का तत्त्व (स्वरूप) बहुत ही गहन है अर्थात् कर्म, अकर्म और विकर्म का तत्त्व जानना अत्यन्त कठिन है।

[जो मुमुक्षु योगारूढ़ होने को इच्छा करते हैं उन्हें अपने-अपने वर्णाश्रम में विहित जो-जो कर्म अनुष्ठित करने होंगे उन सबको जानना होगा कारण उन कर्मों के स्वरूप का ज्ञान रहने पर ही शास्त्र के अनुसार ठीक-ठीक कर्म किये जा सकते हैं—किन्तु उनके संबंध में ज्ञान न रहने से यह संभव नहीं है। शास्त्र अनेक हैं और शास्त्र के व्याख्याकारों में भी अनेक मतभेद हैं। फिर देश, काल, युग, वर्ण आश्रम और वय (उम्र) की अवस्था भेद से शास्त्रविधि का भी संकोच (संक्षेप) और विस्तार अनेक प्रकार का होता है। कौन कर्म करना उचित है और कौन कर्म करना उचित नहीं है इसे भली भाँति जान लेना प्रत्येक कल्याणकामी पुरुष का कर्तव्य है। और जो विकर्म हैं अर्थात् शास्त्रविरुद्ध हैं अर्थात् शास्त्र द्वारा प्रतिषिद्ध या निन्दित कर्म हैं ऐसे भी अनेक प्रकार के कर्म हैं। अतः उनके भी तत्त्व को जानना प्रयोजन है कारण उनके स्वरूप को न जानने पर उन निषिद्ध कर्मों का परित्याग करने में मुमुक्षु समर्थ नहीं होते हैं। इसी प्रकार से अकर्म [अर्थात् कर्म के अभाव (कर्म न कर चुपचाप रहना) अथवा कर्म का संन्यास] भी अनेक प्रकार का है यथा—काम्य कर्मत्याग, निषिद्ध कर्मत्याग, कर्मफल त्याग, सर्वकर्मपरित्याग, कर्ममात्र का ही परित्याग इत्यादि अनेक प्रकार के भेद हैं। इस कारण अकर्म के स्वरूप या तत्त्व को भी जानना होगा जिससे कर्मत्याग का यथार्थ अधिकारी होकर विधिपूर्वक कर्मत्याग कर योगारूढ़–अवस्था प्राप्त करने में समर्थ हो सके किन्तु कर्म, अकर्म तथा विकर्म—इन तीनों का तत्त्व अत्यन्त गहन है अर्थात् अपनी बुद्धि से समझना प्रायः असम्भव है। इस कारण इनके तत्त्व या स्वरूप शास्त्र और आचार्य से (गुरु से) सम्यक् प्रकार से जानकर उसी के अनुसार चलने पर इस अशुभ संसार से मुक्तिलाभ करना सम्भव है, और दूसरा कोई उपाय नहीं है–यही कहने का अभिप्राय है। (शंकरानन्द की टीका का तात्पर्य भी ऐसा ही है)।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[अच्छा, देहादि के व्यापार ही कर्म हैं यह तो लोक–प्रसिद्ध है और देहादि का अव्यापार अकर्म है यह भी लोक–

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

प्रसिद्ध है। अतः कविगण भी (विवेकी जन भी) इस विषय पर मोहप्राप्त होते हैं यह क्यों कहा ? इसके उत्तर में कहते हैं—]

कर्मणः अपि बोद्धव्यम्—कर्म की अर्थात् शास्त्रविहित व्यापार (क्रिया) का भी तत्त्व बोद्धव्यम् (ज्ञातव्य—जानने योग्य) है। [अर्थात् किस प्रकार से करने पर उसके द्वारा कल्याण प्राप्त हो सकता है और किस प्रकार करने पर वह संसारबन्धन का कारण होता है इसे जानना होगा। वह लोक-प्रसिद्ध मात्र नहीं है, अतः उसे शास्त्र से तथा गुरुमुख से जानना होगा—यही कहने का अभिप्राय है]।

अकर्मणः च बोद्धव्यम्—अकर्म का अर्थात् अविहित कर्म का तत्त्व ज्ञातव्य है अर्थात् वह जानना होगा। फिर विकर्मणः च बोद्धव्यम्—विकर्म अर्थात् निषिद्ध कर्म का तत्त्व भी ज्ञातव्य है अर्थात् जानना आवश्यक है। [ऐसा कौन विशेष कारण है जिसके लिये इसका स्वरूप जानना होगा ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है—] कर्मणः गतिः गहना—कर्म की गति गहना अर्थात् दुर्विज्ञेय (जानना कठिन) है। यहाँ कर्म शब्द उपलक्षण के रूप में व्यवहृत हुआ है अर्थात् "कर्मणः गतिः गहना" कहने से कर्म, अकर्म तथा विकर्म इन तीनों के ही तत्त्व दुर्विज्ञेय हैं, ऐसा कहा गया है।

(२) शंकरानन्द—कर्म और अकर्म इन दोनों के तत्त्व का परिज्ञान आरुरुक्षु को करना चाहिए या आरूढ़ को करना चाहिए ? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि आरुरुक्षु को ही कर्म अकर्म तथा विकर्म के तत्त्व सम्यक् रूप से जानना उचित होगा कारण इनका तत्त्व आरुरुक्षु के लिये बोधगम्य होना कठिन है। अतः उन्हें हो इन तत्त्वों को प्रयत्न के साथ समझना होगा। आरुरुक्षु का ही इन कर्म, अकर्म और विकर्म के तत्त्व-परिज्ञान में अधिकार है—दूसरे का नहीं, इस अभिप्राय से श्रीभगवान् अत्र कह रहे हैं—

कर्मणः अपि बोद्धव्यम्—आरूढ़ होने की इच्छा वाले मुमुक्षु को वर्ण और आश्रमादि के अनुष्ठान योग्य कर्म जानने होंगे। कर्म के स्वरूप को जानने से हो शास्त्रानुसार कर्म करने में समर्थ होता है, जाने बिना यथाशास्त्र अनुष्ठान करना असम्भव है क्योंकि शास्त्र अनेक हैं और शास्त्र के प्रवर्तक भी अनेक प्रकार के हैं। इसलिए देश, काल, युग, अधिकारी, वर्ण, आश्रम, आयु, अवस्थादि के भेद से संक्षेप और विस्तारपूर्वक कर्म विधि का अनेक प्रकार से निरूपण होने के कारण जो कर्म जिसके लिए कर्त्तव्य है उस कर्म के तत्त्व को उसको ठीक-ठीक जानना आवश्यक है।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

विकर्मणः च बोध्यव्यम्—कर्मविधि अनन्त (अनेक) संबंध से युक्त होती है, अतः जो कर्म विहित कर्म के विपरीत संबंध से युक्त है अर्थात् प्रतिषिद्ध और निन्दित कर्म है उसे विकर्म कहा जाता है। उस विकर्म को जानना होगा। कर्म के निषिद्ध अंश को जानने से जो निषिद्ध है उसका त्याग करना सहज और संभव है। पूर्वोक्त देशकाल आदि के भेद-वश निषिद्ध कर्म भी अनेक प्रकार के होते हैं। अतः उनको जानना आवश्यक होता है—यही भावार्थ है।

अकर्मणः च बोद्धव्यम्—उसी प्रकार अकर्म के भी तत्त्व जानने होंगे। न + कर्म = अकर्म (कर्माभाव) अथवा जो होने पर कर्म करना संभव नहीं होता है वही अकर्म है अर्थात् कर्मसंन्यास (कर्मत्याग), उसको भी जानना चाहिए क्योंकि काम्य कर्म का त्याग, निषिद्ध कर्म का त्याग, कर्म के फल का त्याग, सर्व कर्मों का परित्याग और कर्ममात्र का ही परित्याग इत्यादि भेद से संन्यास भी अनेक प्रकार के होते हैं—उनको भी जानना होगा। **हि**–जिस कारण **कर्मणः गतिः गहना**—यहाँ कर्म शब्द विकर्म और अकर्म के उपलक्षण के रूप में व्यवहृत हुआ है। कर्म, अकर्म और विकर्म इन तीनों की भी गति (अर्थात् इसे यों करना चाहिए इस प्रकार कर्त्तव्यता का निर्णय) गहन है अर्थात् विद्वानों के लिये भी दुर्ज्ञेय है (विद्वान् व्यक्ति भी निर्णय करने में असमर्थ हैं)। अतः कर्म, अकर्म और विकर्म के स्वरूप को, शास्त्र और आचार्य (गुरु) से उनके लक्षण तथा रहस्य के साथ आरुरुक्षु को पूर्णरूप से जानना चाहिए। [अथवा इस प्रकार का अर्थ भी हो सकता है। "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" (उस परमात्मा को जानकर मृत्यु को अतिक्रम करते हैं) इस प्रकार के श्रुति वाक्य से जाना जाता है कि आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है किन्तु कर्म और अकर्म के तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है, ऐसा नहीं सुना जाता है। यदि इस प्रकार की शंका करते हो तो मैं कहूँगा कि तुम जो कह रहे हो वह ठीक ही है। यद्यपि, आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है तथापि "तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय" (तब विद्वान् पुण्य और पाप उभय को नष्ट कर) इत्यादि श्रुति वाक्य से ज्ञात होता है कि पुण्यपाप उभय को ही जिन्होंने नष्ट किया है इस प्रकार के विद्वान् की ही मुक्ति होती है। अतएव मुमुक्षु के जन्मादि के हेतुभूत (पुण्यपाप रूप) कर्मादि का तत्त्वज्ञान द्वारा ही मोक्षलाभ करना होगा—और इसलिए कर्मादि के तत्त्व को जानना होगा। यही श्रीभगवान् "कर्मणो ह्यपि" इत्यादि के द्वारा अब कह रहे हैं—**कर्मणः अपि बोद्धव्यम्**—शास्त्रद्वारा कर्त्तव्य रूप में जो सब कर्म विहित हुए हैं, वे

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

स्वर्गादि की प्राप्ति के हेतु होते हैं। अतः (संसार गति से मुक्ति प्राप्त करने के लिए) उन कर्मों के तत्त्व मुमुक्षु को जानना कर्त्तव्य है। विकर्मणः च बोद्धव्यम्—विहित कर्म के विपरीत और दुर्गति के हेतु विकर्म के अर्थात् निषिद्ध कर्म के तत्त्व को भी जानना आवश्यक है। उसी प्रकार अकर्मणः च बोद्धव्यम्–अनर्थ के हेतु अकर्म के अर्थात् अश्रद्धापूर्वक (शास्त्र वाक्य में श्रद्धा न रहने पर) विहित कर्म न करना रूप अकर्म के तत्त्व को भी सद्गुरु से जानना चाहिए। यदि शंका हो कि—"चलनात्मकं हि कर्म" (चलन क्रिया ही कर्म के स्वरूप हैं), अतः कर्म के स्वरूप के संबंध में और क्या ज्ञातव्य है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—नहीं ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है—हि कर्मणः गतिः गहना—क्योंकि कर्म के तत्त्व अर्थात् कर्म, अकर्म तथा विकर्म के तत्त्व मूढ़ पुरुष जान नहीं सकते। [यहाँ पर कर्म शब्द के द्वारा अकर्म और विकर्म को भी समझा जा रहा है अर्थात् कर्मशब्द विकर्म और अकर्म का भी उपलक्षण है। इनकी (कर्म, विकर्म और अकर्म की) गति (तत्त्वज्ञान या ठीक-ठीक ज्ञान) सद्गुरु के उपदेश के बिना जानना गहन अर्थात् दुर्घट (दुर्लभ) है [१८ श्लोक के अन्त में इस श्लोक की व्याख्या स्वामी शंकरानन्दजी ने इस प्रकार की है]।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

(३) नारायणी टीका—कर्म, अकर्म और विकर्म के संबंध में भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किया है। प्रसिद्ध टीकाकारों की व्याख्या नीचे दी गई है :—

(क) कर्म	(ख) विकर्म	(ग) अकर्म
(१) शंकर—शास्त्रविहित कर्म	प्रतिषिद्ध कर्म	तूष्णीभाव [कर्म न करना अर्थात् कर्म का संन्यास (कर्मत्याग)]
(२) मधुसूदन—वही	वही	वही
(३) नीलकण्ठ—वही	वही	वही
(४) श्रीधर—विहित व्यापार	निषिद्ध व्यापार	अविहित व्यापार (विहित कर्म न करना)
(५) हनुमान—शरीर तथा इन्द्रियों के व्यापार	प्रतिषिद्ध व्यापार	कर्माभाव
(६) बलदेव—मुमुक्षु के कर्तव्य कर्म	ज्ञान के विरुद्ध काम्य कर्म	कर्म से विलक्षण ज्ञान
(७) रामानुज—वही	नित्य नैमित्तिक काम्य कर्म	ज्ञान
(८) विश्वनाथ—विहित कर्म (विहित कर्म कामना के साथ करने पर वह कैसा बन्धन का कारण बन जाता है वह जानना होगा।	निषिद्धाचरण (निषिद्धाचरण किस प्रकार दुर्गति का कारण बन जाता है वह जानना होगा।)	संन्यासी के कर्मत्याग अर्थात् कर्म के अकरण संन्यासी के कर्माकरण किस प्रकार का शुभ फलप्रद होता है अथवा मोक्षप्राप्ति का हेतु होता है वह भी जानना होगा।
(९) शंकरानन्द—योगारूढ होने को इच्छुक मुमुक्षु के वर्ण, आश्रमादि के अनुकूल योग्य कर्म अथवा शास्त्र द्वारा कर्तव्य के रूप में विहित कर्म जो स्वर्गादि प्राप्ति के हेतु होता है।	विहित कर्म के विपरीत अर्थात् शास्त्र द्वारा प्रतिषिद्ध और निन्दित कर्म (जो दुर्गति का कारण होता है)।	कर्माभाव अर्थात् जिस अवस्था में कर्म करना संभव नहीं होता है अर्थात् कर्म संन्यास अथवा शास्त्रवाक्य में श्रद्धा का अभाव रहने के कारण विहित कर्म न करना।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

सारांश यह है—शास्त्र अनुकूल देहेन्द्रियों के व्यापार को कर्म कहा जाता है। कर्म को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। आहार-विहारादि लौकिक कर्म शास्त्रविहित होने पर उसे भी कर्म कहा जाता है फिर संध्या, पूजा, उपासना, दान, यज्ञ, तपस्यादि वैदिक कर्मों को भी कर्म कहा जाता है। देहेन्द्रियादि के व्यापार के समान मानसिक व्यापार भी कर्म हो हैं। वे ही सब कर्म जब शास्त्रविरुद्ध होते हैं अर्थात् यथेच्छाचार जब होता है तब उन्हें अकर्म कहते हैं। जब तक देहात्मबुद्धि रहने के कारण प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुण के अधीन (सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के अधीन) जीव रहता है तब तक वह एकक्षण भी कर्म न कर रह नहीं सकता है (गीता ३।५)। अतः प्रकृति से उत्पन्न देहेन्द्रियादि में जब तक आत्मबुद्धि रहती है तब तक यदि कोई हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों को विषय से संयत कर तूष्णीभाव से कर्म-हीन की तरह अवस्थान करे तो उस अकर्म को तामसिक अकर्म कहा जाता है कारण बाहरी दृष्टि में वह अकर्म की तरह प्रतीत होने पर भी भीतर (अन्तर हृदय में) विषय की चिन्ता रहने के कारण उसका मानसिक कर्म चलता रहता है। अतः वह भी कर्म ही है (गीता ३।६)। निर्गुण (गुणातीत) निष्क्रिय आत्मा में स्थिति न होने तक कोई भी निष्क्रिय नहीं हो सकता है। अतः अकर्म उनके लिये ही संभव होता है जिसने विहित कर्म के अनुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धि लाभ कर मुमुक्षु (जिज्ञासु या आरुरुक्षु) होकर निर्गुण निष्क्रिय आत्मा का साक्षात्कार कर उसी में स्थितिलाभ करने के लिये सर्व कर्म संन्यास (विहित और अविहित सर्व कर्म का त्याग) किया है।

बोद्धव्यम्—कर्म, अकर्म और विकर्म के तत्त्व को सम्यक् रूप से जानना होगा। कारण किस प्रकार से कर्म करने पर वह कर्म होगा, या विकर्म होगा अथवा अकर्म होगा यदि उसे न जान सके तथा उसी प्रकार कर्म का, विकर्म का, और अकर्म का फल क्या होगा वह यदि ज्ञात न रहे तो फिर मुमुक्षु की मोक्ष के पथ पर अग्रगति हो रही है या मोक्ष के विपरीत पथ पर गति हो रही है—यह भी समझने का कोई उपाय नहीं रहेगा। कोई भी कर्म फलाकांक्षा और कर्तृत्वाभिमान के साथ अनुष्ठित होने पर उसके द्वारा संसार-गति प्राप्त होती है अर्थात् वही कर्म बन्धन का हेतु होता है। वही कर्म यदि कोई कर्मफलाकांक्षा और कर्तृत्वाभिमानरहित होकर भगवदर्पण-बुद्धि से तथा निष्काम भाव से अनुष्ठान करे तब वह कर्म चित्तशुद्धि उत्पादन करके तत्त्वज्ञानलाभ और मोक्ष प्राप्ति का हेतु होता है। वही कर्म ही तब यथार्थरूप से अकर्म बन जाता है। इसलिये कर्म की गति गहना अर्थात

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अत्यन्त विषम और दुर्ज्ञेय है अर्थात् एक ही कर्म विशेष विशेष भाव द्वारा अनुष्ठित होने पर विशेष-विशेष फलप्रसव कर सकता है और कब कैसा फल देगा वह बुद्धि के द्वारा निर्णय करना भी कठिन है। इसी कारण शास्त्र-वाक्य और गुरु के उपदेश से कर्म, विकर्म तथा अकर्म के तत्त्व मुमुक्षु को जानना चाहिए। उसे विहित कर्मों को करते हुए भी कर्म को अकर्म में परिणत कर परमपुरुषार्थ (मोक्ष) लाभ करना होगा यहाँ यही कहने का अभिप्राय है।

[कर्म, अकर्म प्रभृति जो तत्त्व ज्ञातव्य (जानने के योग्य) हैं और भगवान् ने अर्जुन का जिस तत्त्व को कहने के लिए १६ श्लोक में प्रतिज्ञा की है वह क्या है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं–]

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

अन्वयः—यः कर्मणि अकर्म पश्येत् (तथा) यः अकर्मणि कर्म च पश्येत् सः (एव) मनुष्येषु बुद्धिमान् सः (एव) युक्तः, सः (एव) कृत्स्नकर्मकृत्।

अनुवाद—जो कर्म में अकर्म देखता है और अकर्म में कर्म देखता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही योगी तथा वही सब प्रकार के शुभकर्म का अनुष्ठाता है। [अथवा वही सब कर्मों का छेदन कर (नाश कर) इस अशुभ संसार से मोक्ष लाभ करता है]।

भाष्यदीपिका—यः-जो व्यक्ति कर्मणि-जो किया जाता है वह कर्म है अर्थात् देहेन्द्रियादि के व्यापारमात्र को (चेष्टामात्र को) कर्म कहा जाता है वही कर्म में अकर्म पश्येत्–कर्म का अभाव देखता है [देहेन्द्रियादि के कर्म आत्मा पर आरोपित होने के कारण "मैं कर रहा हूँ" ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में आत्मा का कोई कर्म नहीं है (मधुसूदन) कारण आत्मा निष्क्रिय है तथा निर्विकार है इस तत्त्व को] जो विवेकी पुरुष देखता है (जानता है) अर्थात् आत्मरूप अधिष्ठान में माया या प्रकृति के अधीन इन्द्रियादि के कर्म चलते रहने पर जो अकर्म स्वरूप (निष्क्रिय, निर्विकार) आत्मा को ही एक मात्र नित्य सत्य वस्तु रूप से जानता है तथा यः—जो विवेकी अकर्मणि—कर्म के अभाव में अर्थात् शरीरादि को चेष्टा न रहने पर भी [निवृत्ति नामक प्रयत्न रूप व्यापार में (मधुसूदन)] कर्म पश्येत्—कर्म देखता है [देहेन्द्रियादि त्रिगुणात्मिका माया का परिणाम होने के कारण वे सर्वदा

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

व्यापार (क्रिया) विशिष्ट रहते हैं तथापि देहेन्द्रियादि की उदासीन (व्यापार-हीन) अवस्था में "मैं उदासीन (निष्क्रिय) होकर बैठा हूँ" इस प्रकार जो अभिमान होता है वह भी एक प्रकार का कर्म ही है, अर्थात् वह भी निवृत्ति नामक प्रयत्न रूप व्यापार ही है—ऐसा जो समझता है (मधुसूदन)। अभिप्राय यह है कि कर्म में प्रवृत्ति और कर्म से निवृत्ति अर्थात् कर्म करना ओर न करना ये दोनों ही कर्ता के अधीन हैं अर्थात् कर्ता के ही व्यापार हैं। अतः अहंकार-पूर्वक कर्म त्याग (कर्म से निवृत्ति भी) वस्तुतः कर्म ही है। आत्मतत्त्व का साक्षात्कार न हाने तक अज्ञान अवस्था में हो क्रिया, कारक आदि सर्व व्यवहार चलते रहते हैं। इसी कारण से कहे गये अकर्म में अर्थात् कर्म-त्याग में (प्रवृत्ति को तरह निवृत्ति में भी) कर्म को जो देखता है (अर्थात् अन्तरिन्द्रियों का (मन-बुद्धि का) कर्म चल रहा है, ऐसा जानता है) सः बुद्धिमान् मनुष्येषु—वही व्यक्ति मनुष्यों में बुद्धिमान् है (परमार्थदर्शी है), सः युक्तः—वही योगी है अर्थात् वह जानता है कि "आत्मा निष्क्रिय है" अतः उसमें किसी प्रकार का कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमान न रहने के कारण उसके विक्षेप का कोई कारण नहीं रहता है, इसलिये वह चित्तशुद्धि लाभकर आत्मा में ही युक्त अर्थात् एकाग्रचित्त रहता है।

कृत्स्नकर्मकृत्—वही सब कर्मों का कर्ता बना रहता है अर्थात् वह तत्त्वज्ञानी होने के कारण सब (शुभ) कर्मों का फल प्राप्त करता है [अथवा ज्ञानरूप असि (खड्ग) द्वारा भविष्यत् जन्म के बीजरूप सकल कर्मों को वह छेदन कर देता है]। इसी प्रकार कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म-दर्शनकारी की स्तुति की गई है। पूर्वपक्ष—यहाँ यह प्रश्न हो सकता है "जो कर्म में अकर्म देखता है ओर अकर्म में कर्म देखता है" ऐसा विरुद्ध वाक्य तुम किस उद्देश्य से कह रहे हो ? कर्म कभी अकर्म नहीं होता है अथवा अकर्म भी कर्म नहीं हो सकता। अतः जो उनको देखने वाला है वह इस प्रकार को विरुद्ध वस्तु किस प्रकार से देखे ? उत्तरपक्ष—वस्तुतः जो अकर्म है (क्रियारहित ब्रह्म) वही मूढ़मति अविवेकी को कर्म की तरह (क्रियाशील की) तरह अवभासित होता है और उसी प्रकार कर्म (सक्रिय द्वैत प्रपंच) अक्रिय ब्रह्मरूप अधिष्ठान में संस्पृष्ट (संलग्न) रहने के कारण अकर्म के समान प्रतीयमान होता है। [इस प्रकार के कर्म और अकर्म के इतरेतराध्यास होने के कारण सम्यक् दर्शन की सिद्धि के लिए] अर्थात् कर्म ओर अकर्म के यथार्थ तत्त्व को देखने (जानने) के लिए, भगवान् ने "कर्म में अकर्म जो देखता है" इत्यादि वाक्य कहा। अतः भगवान् का कहना विरुद्ध नहीं है। इसके सिवाय यथार्थ ज्ञान को

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

ही बोद्धव्यम् अर्थात् जानने योग्य कहा जा सकता है (मिथ्या ज्ञान को नहीं) और जो यह जानता है वह बुद्धिमान् है। कारण बुद्धिमत्त्वादि विशेषण उसी प्रकार की दृष्टि में ही युक्तियुक्त होता है। [निष्क्रिय ब्रह्मसत्ता में सब कर्म (और कर्त्तृत्व अर्थात् मैं ही कर्ता हूँ इत्यादि) आरोपित होते हैं। वही आरोपित कर्मों को अनुवाद कर कर्म के अधिष्ठान स्वरूप अकर्म (निष्क्रिय) निर्विशेष ब्रह्म को ही बोद्धव्य (ज्ञातव्य) कह रहे हैं। अतः इसमें कर्म और अकर्म में कोई विरोध की आशंका नहीं रह सकती है, कारण कूटस्थ ब्रह्म को छोड़ और सभी मायामात्र (मिथ्या) ही हैं। इस कारण ब्रह्म को छोड़ और किसी का जानने से बुद्धिमत्त्व युक्तत्व तथा सर्वकृतत्वादि सिद्ध नहीं हो सकता है। एकमात्र सर्वक्रियारहित ब्रह्म को जानने से ही उक्त प्रकार के विशेषणों से (बुद्धिमत्वादि, सर्वकृतत्वादि) युक्तियुक्त होते हैं। अतः कूटस्थ ब्रह्म को ही यहाँ बोद्धव्य (जानने के योग्य) कहा गया है कारण बोध शब्द का प्रसिद्ध अर्थ है सम्यग् ज्ञान और कर्म। अकर्म और विकर्म के यथार्थ स्वरूप ही बोद्धव्य हैं (जानने योग्य हैं) इस प्रकार कहने से सम्यग् ज्ञान का उपदेश देना ही भगवान् का यहाँ अभिप्राय है। अतः कूटस्थ ब्रह्म ही ज्ञातव्य है।] पहले और भी कहा गया है कि "जिन्हें जानकर अशुभ से मुक्त हो जायेंगे" किन्तु विपरीत ज्ञान द्वारा (अर्थात् अज्ञानजनित कर्म, अकर्म तथा विकर्म के ज्ञान द्वारा) जन्ममरण रूप अशुभ संसार से कोई भी मुक्तिलाभ नहीं कर सकता है। [अतः ज्ञान के फल की (ज्ञान से मोक्षरूप फल प्राप्त होता है इसी बात की) विवेचना करने पर भी यह सिद्ध होता है कि कूटस्थ ब्रह्म ही एकमात्र ज्ञातव्य है]। अतः अविद्याग्रस्त सब प्राणी ही कर्म और अकर्म को विपरीत भाव से ग्रहण कर रखे हैं। उस विपरीत ज्ञान को निवृत्त करने के लिए "कर्मणि अकर्म यः" इत्यादि वचन कहे हैं। कुण्ड में बदरिका फल को तरह कर्म का आधार अकर्म है, ऐसा नहीं कहा गया है और अकर्म का आधार कर्म है, ऐसा भी नहीं कहा गया है, कारण कर्म के अभाव को ही अकर्म कहा जाता है। इसी कारण से यह सिद्ध होता है कि मृगतृष्णा में (मरीचिका में) जिस प्रकार जल की भ्रान्ति होती है अथवा शुक्ति में रजत (चाँदी) की भ्रान्ति होती है उसी तरह लोगों का भी कर्म और अकर्म विषय में विपरीत ज्ञान देखा जाता है [सक्रिय विश्व प्रपंचरूप कर्म कोई वस्तु नहीं है अतः अकर्म (ब्रह्म) और कर्म (प्रपंच) में कोई आधार-आधेय-भाव सम्भव नहीं है। जो अवस्तु (असत्) है उसका अधिकरण कभी भी वस्तु (सत्) नहीं हो

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

सकता है, अतः भगवान् ने केवल अध्यारोप और अपवाद करने के हेतु कर्म तथा अकर्म शब्द का व्यवहार किया है। इसी कारण से भगवान् की उक्ति में कोई विरोध नहीं है। सकल कर्म अर्थात् विश्वप्रपंच मिथ्या होने पर भी अकर्म ब्रह्मरूप अधिष्ठान में ही भ्रान्तिवश प्रतीत होता है इस तत्त्व को जानना होगा यह भी कहने का अभिप्राय है।]

पूर्वपक्ष—किन्तु कर्म कर्म ही है (एवं अकर्म अकर्म ही है) इसका व्यभिचार (फेरफार) तो कहीं नहीं होता है ?

उत्तरपक्ष—यह बात ठीक नहीं है क्योंकि जिस समय नाव चलती रहती है उस समय नाव में जो बैठा रहता है उसकी दृष्टि में नदी के तट पर स्थित अचल (स्थिर) वृक्षादि में प्रतिकूल गति प्रतीत होती है (अर्थात् वृक्षादि तट पर स्थिर रहने पर भी वे उलटे चलते हुए दीखते हैं)। और नक्षत्रादि वस्तु नेत्रों के सन्निकृष्ट (निकट) न रहकर बहुत दूर होती है अतः उन चलते हुए पदार्थों में गति का अभाव दीख पड़ता है वे अचल दीखते हैं। इस प्रकार यहाँ भी अकर्म में अर्थात् क्रिया-रहित आत्मा में "मैं कर रहा हूँ" इस प्रकार (अज्ञानी) कर्म दर्शन करता है फिर (अहंकारपूर्वक) कर्मत्याग रूप कर्म में "मैं कुछ नहीं करता हूँ" इस प्रकार का अकर्म दर्शन करता है। यही (भ्रान्तिवश) विपरीत दर्शन है। इस भ्रान्ति दर्शन का निवारण करने के लिए ही "कर्म में अकर्म जो दर्शन करता है इत्यादि" वचन भगवान् ने कहा। यद्यपि यह विषय (अर्थात् इस प्रकार के जो विपरीत दर्शन सब अज्ञानियों को होता है वह) बार-बार शंका-समाधान पूर्वक सिद्ध हुआ है तथापि (वही विपरीत ज्ञान के संस्कार अत्यन्त प्रबल होने के कारण) अत्यन्त विपरीत ज्ञान की भावनाओं के द्वारा अज्ञानी व्यक्ति गण अत्यन्त मोहित (मूढ़ अर्थात् विवेकहीन) हो जाते हैं, और इसी कारण से अनेक बार सुनकर भी इस तत्त्व को भूलकर बार-बार मिथ्या प्रसंग का अवतरण कर शंका करने लग जाते हैं। इसलिये तथा आत्मतत्त्व दुर्विज्ञेय है (अर्थात् आत्मतत्त्व को बुद्धि में धारण कर रखना अत्यन्त कठिन है) ऐसा समझकर भगवान् पुनः पुनः शंका के समाधान के द्वारा (भ्रान्ति दूर करने के लिए) उत्तर दे रहे हैं। गीता में पहले ही यह "आत्मा अव्यक्त है, अचिन्त्य है, आत्मा जन्म ग्रहण नहीं करती है और न मरती ही है (गीता २।२०)" ऐसा कहकर आत्मा में जो कर्म का अभाव है यह कहा गया है। ऐसी उक्ति श्रुति, स्मृति और न्यायशास्त्र में भी प्रसिद्ध है। आगे भी श्रीभगवान् इस प्रकार कहेंगे। [यथा-'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

वशी' (गीता ५।१३) इत्यादि] उसी अकर्म स्वरूप (क्रियारहित) आत्मा में जो कर्म 'देखना रूप' विपरीत दर्शन यह सब (अज्ञानी) लोगों में अत्यन्त निरूढ़ (दृढ़ भाव से स्वाभाविक सा) हो गया है कारण कर्म और अकर्म क्या है ? उस संबंध में बुद्धिमान् व्यक्ति भी मोहित हो जाता है (गीता ४।१६)। [सकल कर्म देहेन्द्रियों के द्वारा अनुष्ठित होते हैं और सत्त्वादि तीन गुणों से मिश्रित रहते हैं किन्तु कूटस्थ स्वभाववाली आत्मा असंग और निष्क्रिय है,अतः उसमें कर्म संभव नहीं हो सकता है। तथापि उस अकर्म (निष्क्रिय) आत्मा में अज्ञान से कर्म को देखा जाता है। उसे ही विपरीत दर्शन अर्थात् मिथ्याज्ञान कहा जाता है]। अभिप्राय यह है कि देहेन्द्रियों का आश्रय कर जो कर्म होता है वह आत्मा में अध्यारोप कर "मैं कर्ता हूँ" "मेरा यह कर्म है" "मुझे इसका फल भोग करना होगा" ऐसा ही अज्ञानी लोग सोचते हैं। 'मैं कर्मरहित होकर चुपचाप बैठा हूँ जिसके द्वारा परिश्रम से रहित होकर मैं सुखी हूँगा', इस प्रकार देहेन्द्रियों के व्यापार में उपरमता और उससे उत्पन्न सुख को आत्मा में अध्यारोप कर 'मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ' 'चुपचाप सुख से बैठा हूँ' ऐसा भी वे अज्ञानी लोग ही सोचते हैं। लोगों के इस विपरीत दर्शन को (ज्ञान को) दूर करने के लिए भगवान् ने कहा 'कर्मणि अकर्म यः पश्येत्' इत्यादि। देहेन्द्रियों को आश्रय किया हुआ (अर्थात् देहेन्द्रियों के द्वारा अनुष्ठित) कर्म यद्यपि क्रियारूप ही है तथापि साधारण लोग उस कर्म को कर्मरहित अविक्रिय आत्मा में अध्यारोप करते हैं। यहाँ तक कि शास्त्रज्ञ पण्डित भी "मैं कर रहा हूँ" इस प्रकार मन में चिन्ता करते हैं (सोचते हैं)। अतः नदी के तट पर स्थित वृक्षों की जिस प्रकार भ्रान्तिवश प्रतिकूल गति प्रतीत होती है उसी प्रकार आत्मा के साथ कर्म का नित्य संबंध है इस प्रकार का विपरीत दर्शन ही लोक में प्रसिद्ध है। किन्तु नदी के तट पर वृक्षों की गति का अभाव दर्शन करने पर जैसे उसे प्रकृत (यथार्थ) दर्शन कहा जाता है उस प्रकार विपरीत दर्शन रूप लाकप्रसिद्ध कर्म में जो अकर्म (निष्क्रिय आत्मा का) का दर्शन करता है वही बुद्धिमान् या यथार्थदर्शी है ऐसा कहा गया है। अर्थात् आत्मा में अज्ञान दृष्टि से कर्म प्रतीत होने पर भी यथार्थ ज्ञान द्वारा विद्वान् पुरुष उसी कर्म में क्रियारहित आत्मा को ही देखता है। यही "कर्मणि अकर्म यः पश्येत्" वाक्य का तात्पर्य है। [अतः अकर्म-दर्शन का अर्थ है निष्क्रिय आत्मा का यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना]। इसी प्रकार कर्म के समान कार्यरूप शरीर और कारणरूप इन्द्रियादि को व्यापार की (क्रिया की) उपरमतारूप अकर्म को अर्थात् क्रियात्याग को

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अज्ञानी लोग आत्मा में आरोपित कर सोचते हैं 'मैं कुछ नहीं करता हूँ, चुपचाप सुखपूर्वक बैठा हूँ"—इस प्रकार कर्मत्याग अहंपूर्वक ही (अहंकार का आश्रय करके ही) होता है। अतः यह कर्मत्याग भी कर्म ही है। इसप्रकार से कहा गया—

अकर्मणि च कर्म यः पश्येत्—अर्थात् अहंकारपूर्वक अकर्म में (क्रिया के अभाव में) जो कर्म देखता है। इस प्रकार जो कर्म और अकर्म के विभाग को तत्त्व द्वारा जानता है वही सब कर्म काट कर (छेदन कर) अशुभ संसार से मुक्त होकर कृतकृत्य हो जाता है। इसी कारण से कहा गया है—'स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् [अज्ञानी कार्यकारण संघात को (देहेन्द्रियों को) आत्मा समझते हैं और उनके कार्यों को आत्मा का ही कर्म समझते हैं। फिर देहेन्द्रियरूप संघात द्वारा जब कार्य नहीं होता है तब उसे (अर्थात् कर्माभावरूप उपराम का) अकर्म ("मैं कुछ नहीं करता हूँ" इस प्रकार) समझते हैं अर्थात् उस कर्म के अभाव को (अर्थात् उपराम को) अकर्म समझ कर आत्मा में आरोपित करते हैं। वस्तुतः उस कर्म का अभाव (निश्चेष्टता) भी अहंकारपूर्वक ही होता है, इस कारण वह भी एक प्रकार का कर्म ही है। इस प्रकार देहेन्द्रियों के संघात द्वारा कृतकर्म या देहेन्द्रियों के कर्म का अभाव (अकर्म), ये दोनों ही ज्ञानी की दृष्टि से कर्म ही हैं। किन्तु देहेन्द्रियादि कोई वस्तु नहीं है, वे अज्ञानवश प्रतीतिमात्र होते हैं। अतः उनके कर्म और अकर्म सब मिथ्या ही हैं। आत्मा में ही वे आरोपित होकर सत्तालाभ करते हैं। आत्मा सदा ही निष्क्रिय, निर्विकार और कूटस्थ है। इस कारण उसे (आत्मा को) अकर्म कहा जाता है। मिथ्या वस्तु की सत्ता अधिष्ठान सत्ता से पृथक् (भिन्न) नहीं है, अतः कर्म और कर्म का अभाव दोनों की सत्ता अकर्म से अर्थात् निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूप आत्मा से, पृथक् नहीं होने के कारण सभी कर्म और अकर्म को इस प्रकार ब्रह्मरूप से जो देखते हैं वे ही सम्यग्दर्शी पण्डित (तत्त्वविद्) हैं और वे ही इस अशुभ संसार से मुक्तिलाभ कर सकते हैं—यही यहाँ कहने का अभिप्राय है]। कोई कोई टीकाकार (वार्त्तिककार प्रभृति) इस श्लोक की व्याख्या दूसरी तरह से करते हैं। उनके मत में ईश्वर के लिए जिन पंचमहायज्ञादि नित्यकर्म अनुष्ठित होते हैं उनका कोई फल नहीं होता है। अतः ऐसे कर्म को गौणवृत्ति से अकर्म कहा जाता है और उन सब नित्यकर्म के अकरण को भी अकर्म कहा जाता है। किन्तु वही अकरण पापरूप फल देता है और इसी कारण से उस अकर्म को गौण रूप से कर्म कहा जाता है। जिस प्रकार कोई धेनु अर्थात्

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

गाभिन प्रसव करने के बाद यदि दूध न देती है तब उसे 'अगौ' कहा जाता है, उसी प्रकार नित्य कर्म के अनुष्ठान से कोई फल नहीं होता है उसे अकर्म कहा जा सकता है। फिर नित्य कर्म के अकरणरूप जो अकर्म है उससे नरकादि फल प्राप्त होता है, इस कारण उसमें (अकर्म में) (बुद्धिमान् व्यक्ति) कर्म देखते हैं। किन्तु ऐसी व्याख्या युक्तिसंगत नहीं क्योंकि इस प्रकार जानने से इस अशुभ संसार से मुक्तिलाभ नहीं किया जा सकता। अतः इस प्रकार अर्थ मान लेने से भगवान् द्वारा कहे हुए ये वचन कि 'यज् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' (जिसको जानकर तुम अशुभ से मुक्त हो जायेगा) व्यर्थ हो जायँगे। यदि कहते हो क्यों ? तो इसके उत्तर में कहा जायगा कि नित्यकर्म के अनुष्ठान द्वारा अशुभ जन्म मरणादिरूप संसार से शायद मुक्तिलाभ हो सकता है परन्तु नित्यकर्म का कोई फल नहीं होता है इस ज्ञान से तो मोक्ष कभी हो नहीं सकता क्योंकि नित्य कर्मों का फलाभाव के ज्ञान अथवा नित्य कर्मों का ज्ञान इस अशुभ संसार से मुक्ति दे सकता है। इस प्रकार की उक्ति शास्त्र में कहीं नहीं कही गई है और भगवान् ने भी गीताशास्त्र में कहीं भी ऐसा नहीं कहा है। इस प्रकार की युक्ति द्वारा उपरोक्त टीकाकारों ने अकर्म में कर्मदर्शन की व्याख्या जिस प्रकार से की है उसका भी खण्डन हो जाता है। क्योंकि गीता में केवल नित्यकर्म की कर्त्तव्यता का ही विधान किया है किन्तु नित्यकर्म के अभाव-रूप अकर्म में कर्म को (पापरूप फलोत्पादक जो कर्म होता है उसको) देखने को कर्त्तव्यरूप से विधान 'गीता में कहीं भी नहीं किया। इसके अतिरिक्त "नित्यकर्म न करने से पाप होता है" केवल यह जानने से ही कोई फल लाभ नहीं हो सकता। फिर वही नित्यकर्म के अकरणरूप अकर्म शास्त्र में कहीं भी ज्ञातव्य (जानने के योग्य) विषय है ऐसा विधान नहीं है। और इस प्रकार दूसरे टीकाकारों के माने हुए कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म दर्शनरूप मिथ्या दर्शन से अशुभ संसार से मुक्ति, बुद्धिमत्ता, युक्तता, सर्व-कर्म-कृत्वादि संभव नहीं और ऐसे मिथ्याज्ञान की स्तुति की गई है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार अंधकार कभी अन्धकार का नाशक नहीं हो सकता उसी प्रकार मिथ्याज्ञान जब स्वयं ही अशुभरूप है तब वह दूसरे को अशुभ (संसार बन्धन) से मुक्त कैसे कर सकेगा ?

पूर्वपक्ष—किन्तु उन सब टीकाकारों ने इस श्लोक की जिस प्रकार व्याख्या द्वारा कर्म में अकर्म देखने को और अकर्म में कर्म देखने को कहा है उसे मिथ्याज्ञान नहीं कहा जा सकता। नित्यकर्म से फल नहीं होता है किन्तु अकरण से पापरूप फल होता है, इसलिए फल के होने और न होने के

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

कारण से गौणरूप से अकर्म में कर्म और कर्म में अकर्म देखने की बात कहे हैं।

उत्तर पक्ष—इस प्रकार कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि गौणरूप से कर्म को अकर्म और अकर्म को कर्म जान लेने से भी कोई लाभ सुना नहीं गया है। [श्रुति में कहा गया है 'धर्मेण पापमपनुदतीति" अर्थात् नित्यकर्म के अनुष्ठान द्वारा पाप की निवृत्ति होती है किन्तु दूसरा कोई फल (आत्यन्तिक अशुभक्षय अर्थात् मोक्ष) होता है ऐसी कोई उक्ति श्रुति में कहीं नहीं प्राप्त होती है। परमात्मा व जीवात्मा के ऐक्यज्ञान द्वारा ही मोक्ष संभव है—यही परमविशुद्धि है। क्षेत्रज्ञ-ईश्वरज्ञानादविशुद्धिः परमा मता (आनन्दगिरि)] (१) श्रुतिसिद्ध बात को छोड़ कर (उन सब टीकाकारों की तरह) श्रुति विरूद्ध कोई बात की कल्पना करने में कोई विशेषता भी प्राप्त नहीं होती है [अर्थात् नित्यकर्म का फलाभाव जानने से विशेष लाभ नहीं होता है]। (२) यदि श्रीभगवान् को ऐसा ही अभीष्ट होता तो फिर वह अपने शब्दों के द्वारा भी स्पष्ट कह सकते थे कि नित्यकर्म का कोई फल नहीं होता है और उनके अनुष्ठान न करने पर नरकप्राप्ति होती है। किन्तु इस प्रकार 'कर्म में जो अकर्म देखता है' इत्यादि मायायुक्त वचन दूसरों को मोहित करने के लिए कहने की उनको क्या आवश्यकता थी ? अतः जिन-जिन टीकाकारों ने उपर्युक्त अर्थ किया उनका तो स्पष्ट रूप से अर्थ मानना होगा कि भगवान् द्वारा कथित वचन संसारियों को मोहित करने के लिए ही है। (३) इसके सिवा यह कहना भी उचित नहीं है कि नित्यकर्म अनुष्ठानरूप विषय अत्यन्त गुप्त है, अतः उस गुप्त विषय की मायायुक्त वचन द्वारा रक्षा करना उचित है। और यह कहना भी ठीक नहीं हागा कि (नित्य कर्म के अनुष्ठान रूप विषय अत्यन्त गहन है अतः) वारम्वार भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा उसके सम्बन्ध में कहने से उस विषय में सुबोध होगा अर्थात् वह अनायास ही बोधगम्य होगा। नित्य कर्म के अनुष्ठान के सम्बन्ध में तो "कर्मण्येवाधिकारस्ते" अर्थात् तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है, ऐसा कहने से ही यह विषय स्पष्ट हो गया है। उसके सम्बन्ध में फिर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं होती। (४) सर्वत्र जो करने योग्य है वही प्रशंसनीय और ज्ञातव्य है ऐसा कहा जा सकता है। निरर्थक विषय का बोधव्य (ज्ञातव्य) नहीं कहा जा सकता है। फिर मिथ्याज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान द्वारा आँखों के सामने स्थापित हुई आभासमात्र वस्तु ज्ञातव्य (जानने योग्य) नहीं हो सकती। (५) नित्यकर्म न करना एक अभाव वस्तु

६

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

(असत् वस्तु) है। उससे (अर्थात् अभाव से या असत् वस्तु से) प्रत्यवाय (पाप) रूप भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती है कारण भगवान् स्वयं ही कहे हैं "नासतो विद्यते भावः" (गीता २।१६) अर्थात् असत् वस्तु से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। श्रुति में भी दिखाया गया है—"कथमसतः सज्जायते" (६।३।६।२।२) अर्थात् असत् से सत् वस्तु की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है ? इसी प्रकार असत् से सत् की उत्पत्ति निषेध करने पर भी जो, असत् से सत् की उत्पत्ति होती है, ऐसा कहते हैं वे यह भी कहेंगे कि असत् सत् होता है और सत् वस्तु असत् होती है। किन्तु इस प्रकार की युक्ति सर्व प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण अयुक्त अर्थात् असंगत है। (६) फिर निरर्थक कर्म का विधान शास्त्र नहीं कर सकता है ! संसार के सभी कर्म ही (परिश्रमसाध्य होने के कारण) दुःख के रूप होते हैं। अतः यदि नित्य कर्म का कोई फल न हो तो बुद्धिपूर्वक (जानबूझ कर) किसी का उस दुःखरूपी कर्म में प्रवृत्त होना सम्भव नहीं है। (७) नित्यकर्मों को न करने पर नरक प्राप्ति होती है, यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो फिर यह भी मानना होगा कि जब शास्त्रविहित कर्म करने से कर्मरूप बीज से संसार प्राप्ति होती और कर्म न करने से पाप की उत्पत्ति और नरक भोग होगा तब दोनों प्रकार से ही शास्त्र अनर्थ का कारण होने पर वह स्वयं निष्फल है (व्यर्थ है), ऐसी कल्पना स्वतः ही होगी। (८) उन सब टीकाकारों ने अपने-अपने मत का भी विरोध अपने आप ही किया है। कारण वे एक तरफ तो स्वीकार करते हैं कि नित्य कर्म का कोई फल नहीं होता और साथ-साथ ही यह भी कहते हैं कि नित्यकर्म मोक्षरूप फल देता है।

इसी कारण "कर्मणि अकर्म यः पश्येत्" इत्यादि श्लोक के अर्थ गुरु परम्परा क्रम से जिस प्रकार सुना गया है, उसी के अनुसार हमने भी इस श्लोक की व्याख्या की है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[कर्मादि के दुर्विज्ञेयत्व निर्देशकर कह रहे हैं—]

कर्मणि—परमेश्वराराधनारूप कर्म में (कर्म विषय में) अकर्म यः पश्येत्—यह कर्म नहीं है अर्थात् यह कर्म ज्ञान प्राप्ति का हेतु होने के कारण इससे संसार बन्धन नहीं हो सकता है ऐसा जो समझता है तथा अकर्मणि—विहित कर्म के अकरण में कर्म पश्येत्—जो कर्म देखता है अर्थात् विहित कर्म न करने में विपरीत फलस्वरूप प्रत्यवाय (पाप) होता है, और वही पाप हो

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

संसारवन्धन का हेतु होने से वह भी कर्म ही है, ऐसा जो देखता है सः मनुष्येषु—कर्म करने वाले मनुष्यों में वह बुद्धिमान्—बुद्धिमान् है अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि से युक्त होने के कारण वह श्रेष्ठ है। सः युक्तः—वह युक्त (योगी) भी है अर्थात् उस प्रकार के कर्म द्वारा वह ज्ञानयोगलाभ कर परमात्मा के साथ युक्त रहता है इस कारण वह योगी है। सः कृत्स्नकर्मकृत्—वह ही सब कर्मों का कर्ता (अनुष्ठाता) होता है कारण वही संप्लुतोदक रूप (सर्वत्र परिपूर्ण जलाशय रूप) कर्मों में ही सब कर्मों के फलों का अन्तर्भाव है अर्थात् उस प्रकार के कर्म कर्ता चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञान में ही प्रतिष्ठित रहता है, अतः सर्वकर्म के फल उसके उस कर्म में अन्तर्भूत रहते हैं—[अर्थात् अन्त में ज्ञानी होने के कारण सर्व कर्म का फल वह लाभ करता है—गीता २ । ४६]। इस प्रकार कर्माधिकारी आरुरुक्षु (योगरूढ़ होने की इच्छा वाले) योगी को कर्मयोग अवश्य कर्त्तव्य है उसे स्पष्ट किया गया। गीता में भी इसी कारण कहा गया है कि न कर्मणामनारम्भात् (गीता ३।४) इत्यादि। इसी का ही यहाँ विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है, इस कारण इस प्रकरण में पुनरुक्ति का दोष नहीं है। [मधुसूदन सरस्वती ने इस प्रकार की व्याख्या को युक्ति द्वारा असंगत प्रमाणित करने की चेष्टा की है। उनके मतानुसार परमेश्वराराधनारूप नित्य कर्म में अकर्म दर्शन (अकर्म बुद्धि) कभी भी मोक्ष का हेतु नहीं हो सकता है। वह मिथ्याज्ञान होने के कारण स्वयं अशुभ है अत वह बोद्धव्य (ज्ञातव्य) नहीं हो सकता है। और जिनका इस प्रकार का भ्रान्तज्ञान है उन्हें बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता है। फिर नित्यकर्म के अकरण से प्रत्यवाय (पाप) नहीं हो सकता कारण अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती है। तथापि शास्त्र में जो "अकुर्वन् विहितं कर्म" इत्यादि से नित्य कर्म के अकरण से जो प्रत्यवाय होता है ऐसा कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि, जिस समय नित्यकर्म का अनुष्ठान करना उचित है उस समय उस नित्य कर्म के विरुद्ध जो वृथा बात-चीत, घुमना फिरना इत्यादि प्रतिषिद्ध कर्म हैं वही नित्यकर्म न करने के द्वारा उपलक्षित होकर प्रत्यवाय का हेतु होता है, ऐसा ही वेदज्ञ मीमांसकों ने सिद्धान्त किया है। भाष्य में भी श्लोक की इस प्रकार की व्याख्या युक्ति द्वारा प्रत्याख्यात (खण्डित) हुई है]। और योगारूढ़ अवस्था में जो योगी आत्मरति तथा आत्मतृप्त हुए हैं और जिनका उसी अवस्था में कोई कार्य (कर्तव्य) नहीं रहता है उनके संबंध में भी इस श्लोक में विस्तारपूर्वक कहा गया है ऐसा समझना होगा। जब आरुरुक्षु मुनि का कर्म बन्धन का हेतु नहीं होता है तब

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

योगारूढ़ का और उससे किस प्रकार का बन्धन होगा ? अथवा योगारूढ़ योगी को उद्देश्य कर इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

कर्मणि अकर्म—चैतन्यस्वरूप आत्मा देहेन्द्रियों के व्यापारों (कार्यों)में वर्तमान रहने पर भी आत्मा को देहादि से व्यतिरिक्त (देहादि से पृथक्) अनुभव कर आत्मा में अकर्म अर्थात् स्वभावतः नैष्कर्म्य (कर्मशून्यता) जो देखने में समर्थ होता है फिर **अकर्मणि च**—यथार्थ ज्ञान के अभाव के कारण दुःख बुद्धिपूर्वक कर्म के त्याग में **कर्म पश्येत्**—जो कर्म देखता है। कारण ऐसा कर्मत्याग कर्तृत्वाभिमान से होने के कारण वह प्रयत्नसाध्य होता है, इस कारण यह कर्म ही है। फिर बाहर का कर्मत्याग होने पर भी अन्दर में मन, बुद्धि तथा अहंकार के कर्म चलते रहने के कारण वह मिथ्याचार भी है (गीता ३।६)। अतः उभय प्रकार से इस तरह का कर्मत्याग संसार बन्धन के हेतु होने के कारण वह भी कर्म ही है ऐसा जो देखता है (जानता है) **सः मनुष्येषु**—वह सभी मनुष्यों में **बुद्धिमान्**—पण्डित है। (किस कारण से उन्हें विशेषकर बुद्धिमान् कहा जाता है ?) जिस कारण से—**सः कृत्स्नकर्मकृत्** (सन् अपि युक्तः)—वह यथेच्छाप्राप्त आहारादि सर्व कर्म करता हुआ भी युक्त ही रहता है [अर्थात् देहेन्द्रियादियों के द्वारा कर्म होते रहने पर भी—देहेन्द्रियादियों से पृथक् (व्यतिरिक्त)] आत्मा को अकर्ता जानकर आत्मज्ञान द्वारा वह आत्मा में ही स्थित रहता है। इससे सिद्ध हुआ कि स्वभावतः प्राप्त (अनायासलब्ध) कलञ्जादिका (दूषित मांसादि अथवा तम्बाकु प्रभृति का भक्षण) भी ज्ञानी के लिए दोषणीय नहीं है किन्तु अज्ञ व्यक्ति आसक्ति के वशीभूत होकर जो कुछ भी करता है वे सभी दोषयुक्त होते हैं अर्थात् वे सब कर्म ही उसके लिए संसार बन्धन के हेतु होते हैं। इसके द्वारा विकर्म के तत्त्व भी निरूपित हुए हैं अर्थात् अज्ञ व्यक्ति के लिये विहित कर्म का त्याग विकर्म होता है—यहाँ यह भी सूचित किया गया है।

(२) **शंकरानन्द**—कर्म, विकर्मादि के तत्त्व आरूढ़ योगी के लिए जानना आवश्यक नहीं होता है किन्तु आरुरुक्षु को ही अशुभ संसार से मुक्त होने के लिए कर्म और अकर्म आदि का तत्त्व जानना प्रयोजन है ऐसा सूचित कर पहले (१६ श्लोक में) "वक्ष्यामि" कहकर श्रीभगवान् ने जो प्रतिज्ञा की अब उसी का उपदेश दे रहे हैं—

कर्मणि—देह तथा इन्द्रिय द्वारा जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहा जाता है अर्थात् लौकिक और वैदिक सभी कार्य ही (व्यापार) कर्म है

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

इस कर्म में अर्थात् देहेन्द्रियरूप उपाधि द्वारा किये गए चेष्टामात्र में यः—जो आत्मयाथात्म्य (आत्मा का यथार्थ स्वरूप) जानते हैं ऐसा विद्वान् अकर्म—कर्म का अभाव पश्येत्—देखता है। उसी प्रकार अकर्मणि—देह और इन्द्रियों की व्यापार रहित (चुप चाप) अवस्था में यः—जो कर्म को (क्रिया को) पश्येत्—देखता है—

शंका—कर्म में अकर्म दर्शन और अकर्म में कर्म दर्शन ये दोनों ही संभव नहीं होते हैं कारण यह प्रत्यक्ष से विरोध है कर्म अकर्म नहीं हो सकता है क्योंकि व्यापार (क्रिया) तो प्रत्यक्ष देखा जाता है फिर अकर्म भी कर्म नहीं हो सकता कारण (क्रियारहित पुरुष) स्थाणु की तरह चुप-चाप दिखाई देता है अतः भाव में अभाव को देखना और अभाव में भाव का देखना अत्यन्त विरुद्ध और अप्रमाणिक होगा क्योंकि भाव में अभावत्व और अभाव में भावत्व असंभव है।

समाधान—नहीं, ऐसी शंका युक्तियुक्त नहीं है कारण सद्बुद्धि द्वारा (सूक्ष्म बुद्धि द्वारा) विचार करने से उक्त प्रकार के दोनों दर्शन युक्ति-युक्त ही हैं। यदि कहते हो वैसा कैसे होता है ? तो इसके उत्तर में कहूँगा पुरुष स्वयं कर्म रहित होने पर भी दूसरे के कर्म से कर्मी होता है। जैसे मेघ की क्रिया द्वारा क्रियारहित चन्द्र क्रियावान् प्रतीत होता है और अग्नि की क्रिया द्वारा निष्क्रिय आतप (ताप) क्रियावान् होता है उसी प्रकार देहादि के साथ तादात्म्य होने के कारण देहादि की क्रिया द्वारा स्वयं (स्वरूपतः) अक्रिय होने पर भी सभी प्राणी क्रियावान् (क्रियावाले) होते हैं। तथापि ब्रह्मवेत्ता "मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकार ब्रह्म में ही आत्मत्व विज्ञान (आत्मबुद्धि) द्वारा देहादि के साथ अपना कोई संबंध न रखने के कारण देहादि द्वारा किए गए कर्मों को अपने के लिये अकर्म ही (क्रियाहीनता ही) देखता है क्योंकि देहादि में "अहं मम" अर्थात् "मैं" 'मेरा' ऐसा उसका स्वत्त्व (आत्म-भाव) नहीं है। अन्य द्वारा कृत कर्म में अन्य का स्वत्व (आत्मभाव) नहीं हो सकता। स्वत्त्व का अभाव ('मैं, मेरा' इस प्रकार की बुद्धि न रहने के कारण) देहादि के द्वारा किया हुआ कर्म ज्ञानी पुरुष का अकर्म ही होता है कारण वैसे कर्म द्वारा ज्ञानी को बन्धन नहीं होता अतः वह अकर्म के समान ही है। इस कारण उस कर्म को ज्ञानी अकर्म ही दर्शन करता है। वह स्वगत (अपने में रहने वाला) कर्म को अकर्म देखता है यह नहीं [अर्थात् अपने स्वरूप में कर्म का अभाव सदा ही रहता है इसलिये वह ज्ञानी अकर्म देखता है] कारण वह स्वयं (स्वरूप में) निरवयव है, इसलिए आत्मा में

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

क्रिया का समवाय (संबंध) नहीं हो सकता है। जैसे वृक्ष (वायु द्वारा) चलते रहने पर भी वृक्ष पर स्थित आकाश को निष्क्रिय देखता है, जैसे मेघ धावमान होने पर भी (दौड़ने पर भी) चन्द्र का निष्क्रिय देखता है उसी प्रकार देहेन्द्रियादि विषयों में स्वच्छन्द प्रवृत्त होने पर भी विद्वान् अपनी आत्मा को निष्क्रिय ही देखता है अत एव "निष्कलं निष्क्रियम्" इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से कूटस्थ, असंग, चिद्रूप आत्मा को ही आत्मरूप से जो विद्वान् जानता है उसकी देहादि द्वारा कृत कर्म में अकर्म दृष्टि युक्तियुक्त ही है। इस प्रकार का विज्ञान (अनुभव) विद्वान् को प्रत्यक्ष होता है। इसके अतिरिक्त "अकर्तारं स पश्यति" (गीता ४।१३, १३।२९) अर्थात् अपने आप को वह अकर्ता ही देखता है, इस प्रकार के स्मृतिवाक्य द्वारा भी उक्त अनुभव सिद्ध होता है। अत एव उक्त दर्शन (अनुभव) का प्रामाण्य स्वीकार करना ही होगा। दूसरे पक्ष में मूढ़ पुरुष देहादि में अध्यास कर (आत्मबुद्धि कर) देहादि के व्यापार बन्द होने पर "मैं चुपचाप सुख से बैठा हूँ, कुछ भी नहीं करता हूँ, कर्म दुःखदायक है" इस प्रकार सोचकर असुख रूप देहेन्द्रियों के निरोध में सुखबुद्धि करके देहेन्द्रियों की अक्रिया में अपने को ही अक्रिया का दर्शन करता है। जिस प्रकार अश्वारोही (घुड़सवार) अश्व की स्थिति से (अश्व के गतिरोध से) अपने को भी स्थित (ठहरा हुआ) समझता है, जिस प्रकार चलनशील सूर्य अचल देखा जाता है, विद्वान् व्यक्ति वैसा दर्शन नहीं करता है किन्तु देहादि के व्यापार के उपरामरूप अकर्म होने पर भी वह उसमें कर्म को ही देखता है। जिस प्रकार बद्धमुष्टि में अङ्गुलियाँ छिप जाने पर अङ्गुलियों के बाहर की कोई क्रिया नहीं रहती है तथापि मुष्टि के भीतर अङ्गुलियों के मुकुलीभाव रहने पर उसके कारणभूत अङ्गुलियों की निरोध रूप क्रिया रहती है अथवा जिस प्रकार आँखें बन्द करने से बाहरी (बाह्य) दर्शन रूप क्रिया न होने पर भी आँखों के पलक-मोचन की क्रिया विद्यमान रहती है, उसी प्रकार "मैं कुछ नहीं करता हूँ" इस प्रकार चुपचाप अवस्था में भी देहेन्द्रियों के बाहर चलने की क्रिया में अभाव रहने पर भी "मैं कुछ नहीं करता हूँ" इस प्रकार कर्ता के आग्रह रूप मानसी क्रिया भीतर विद्यमान रहती है। भीतर आग्रहरूप क्रिया न रहने से बाहर हाथ इत्यादि का निरोध नहीं हो सकता और सर्वार्थसिद्धि के लिए (सकल प्रयोजन सिद्धि के लिए) मन के व्यापार के अधीन इन्द्रियों की क्रिया भी नहीं हो सकती। [मन के व्यापार विना (कार्य विना) इन्द्रियों की क्रिया असंभव

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

है। अतः आग्रह रूप मानसी क्रिया विना इन्द्रिय निरोध संभव नहीं होता है।] इन्द्रिय के निरोध रूप क्रिया द्वारा ही देह निश्चल रहता है। इन्द्रिय-निग्रह के अभाव से देह का चलना और इन्द्रियों का चलना अवश्य रहेगा। अतः मूढ़ व्यक्ति की दृष्टि से चुपचाप अवस्थिति में अकर्म दर्शन होने पर भी, विद्वान् को उसमें जो कर्म दर्शन होता है वह न्याय, दृष्टान्त और अनुभव के द्वारा सिद्ध होता है। अतः अकर्म में कर्मदर्शन अविरुद्ध (विरोधशून्य) तथा प्रामाणिक है और तुम जो कह रहे हो भाव में अभाव दर्शन और अभाव में भावदर्शन युक्तियुक्त नहीं है वह बात ठीक नहीं है क्योंकि देह की चेष्टा में भावत्व रहने पर भी वह ज्ञानी के लिये बन्धन का कारण (हेतु) नहीं होता है। इसलिए वह अभाव के समान ही है। अतः उस प्रकार देहादि की चेष्टा में कर्म के अभाव का दर्शन उपयोगी होने के कारण भाव में अभाव-दर्शन युक्तियुक्त होता है। चुपचाप अवस्थान रूप अकर्म में भी उक्त रीति के अनुसार कर्म दर्शन हो सकता है। अतः अकर्म में भी कर्मदर्शन युक्तियुक्त ही होता है। और इस कारण उसमें कोई भी विरोध नहीं है।

यदि शंका हो कि विद्वान् का कर्म में अकर्म देखना भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान सर्व कर्मों से मुक्ति-लाभ करने में हेतु होता है, अतः जन्मादि बन्धन-निवर्त्तक होने के कारण उस प्रकार का दर्शन तो विद्वान् को करना चाहिये परन्तु विद्वान् के लिए अकर्म में कर्म दर्शन का प्रयोजन नहीं होता है। इस कारण "अकर्मणि च कर्म यः पश्येत्" (अकर्म में कर्म को जो देखता है) इस प्रकार की विधि निरर्थक ही होती है। इसके उत्तर में कहा जायगा कि ऐसी शंका युक्तियुक्त नहीं है कारण वह भी अकर्म से भिन्न आत्मा के दर्शन का साधन है, इसीलिए यह सफल है अर्थात् इसकी सार्थकता है। "निष्क्रियं शान्तम्" इत्यादि श्रुति वाक्य से ब्रह्म का निष्क्रियत्व और शान्तत्व ये दोनों ब्रह्म के लक्षण सुनने में आते हैं। अतः निष्क्रियत्व-शान्तत्व धर्मविशिष्ट देहेन्द्रियों के व्यापार के उपरामरूप चुपचाप स्थिति में (निष्क्रियत्व तथा शान्तत्व धर्म देखकर उसी में) आत्मस्वरूप का भ्रम होना संभव है जिससे वह भ्रम न हो उसी कारण "अकर्मणि च कर्म यः पश्येत्" (जो देहादि के अकर्म में कर्म देखते हैं) ऐसा कहते हैं। कर्म की तरह अकर्म भी औपाधिक, पुरुषतन्त्रपुरुष की इच्छा के अधीन और दृश्य है एवं विचार करने से वह सक्रिय है, अतः वह (अर्थात् अकर्म) स्वयं अनात्मा ही है। उनके जो द्रष्टा है वह ही आत्मा है, ऐसा जानना चाहिए। यह सूचित करने के लिए उपदेश दिया गया है "अकर्मणि च कर्म यः"। पुनः अकर्म में भी कर्म के समान

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

कर्मत्व को जानने से कर्म और अकर्म दोनों ही अनात्मा है यह सिद्ध होता है। अतः चुपचाप अवस्था में जो अकर्म प्रतीत होता है वह विद्वान् के लिए निष्फल होने के कारण (केवल देहेन्द्रियों के व्यापार उपरत कर) चुपचाप रहने की अपेक्षा लोगों का उपकार हो सकता है इस प्रकार के कर्म में विद्वान् की प्रवृत्ति होने से वह सफल होती है, यही श्रीभगवान् "अकर्मणि च कर्म यः" इस वाक्य द्वारा सूचित कर रहे हैं। अतः "अकर्म में कर्म को देखे" यह विधि सर्वथा सफल है।

शंका—कर्म में अकर्मदर्शन और अकर्म में कर्मदर्शन इन दोनों को एक ही पुरुष कर नहीं सकता क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध हैं। अतः उन दोनों का एक ही आश्रय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, 'विकल्पो न हि वस्तु' (विकल्प कोई वस्तु नहीं है) इस प्रकार सब द्वैत को मिथ्या समझकर जो विद्वान् दर्शन करते हैं, उनकी दृष्टि में देह, इन्द्रियादि मिथ्या होने के कारण उन देहेन्द्रियों का आश्रय कर जो कर्म अनुष्ठित होते हैं उनको भी मिथ्या देखना विद्वान के लिए युक्त है। परन्तु अकर्म में कर्म देखना विद्वान् के लिए युक्त नहीं होता है क्योंकि वह तो केवल देहादि में सत्यत्वज्ञान रहने पर ही संभव होता है। देहादि में सत्यत्वबुद्धि रहने पर ही देहादि के आश्रित अकर्म में भी सत्यत्व और उसमें कर्मत्वज्ञान सिद्ध होगा किन्तु ऐसा सिद्ध होने पर तो कर्म में अकर्मदर्शन सिद्ध नहीं हो सकता है। कारण कर्म में अकर्म दर्शन तो तभी संभव है जब कर्म में मिथ्यात्व ज्ञान हो। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध मिथ्यात्व और सत्यत्व ज्ञान का (दोनों का) एक ही पुरुष अधिकरण (आश्रय) नहीं हो सकता। किन्तु श्लोक में कहा गया है 'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः'। यहाँ 'यत्' शब्द का दो बार प्रयोग होने पर उनका आश्रय एक न होकर भिन्न भिन्न पुरुष ही होने चाहिएँ, ऐसा ही कहना उचित है।

समाधान—नहीं, ऐसी शंका युक्तियुक्त नहीं है कारण विद्वान को दोनों में ही मिथ्यात्व दर्शन है ऐसा विवक्षित (कहने का उद्देश्य) है। जिस प्रकार देहेन्द्रियों में और देहेन्द्रियों के व्यापार में (कर्म में) मिथ्यात्वदर्शन करना होगा उसी प्रकार देहेन्द्रियों के अव्यापार में भी (उपराम या अकर्म में भी) मिथ्यात्व ही दर्शन करना होगा कारण कर्म और अकर्म दोनों ही अविद्या के कार्यरूप देह के आश्रित होने के कारण दोनों ही तुल्यरूप से अवस्तु हैं। यदि ऐसा न हो तो भेददृष्टि रहने के कारण अशुभ संसार से मोक्ष असंभव होता। जो कर्म तथा अकर्म दोनों में और उनके आश्रय में भी

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

मिथ्यात्व का ही निश्चय करके उनके अधिष्ठानभूत निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अनन्त, अखण्डानन्दैकरस परब्रह्म को 'यही मैं हूँ' एक प्रकार अपना आत्मरूप से जानकर उसी स्वरूप से स्थित रहता है वही अशुभ संसार से मुक्त हो सकता है, इससे अन्य प्रकार में जो आत्मा को देखता है उसको मुक्ति नहीं होती है। इससे सिद्ध होता है कि कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखना एक ही पुरुष को आश्रय कर रहता है—भिन्न भिन्न पुरुषों को नहीं। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' अर्थात् जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं इत्यादि श्रुतिवाक्य में जिस प्रकार 'यत्' शब्द का बोध की सुविधा के लिए अनेक बार प्रयोग हुआ है उसी प्रकार इस श्लोक में भी समझने की सुविधा के लिए दो बार 'यत्' शब्द का प्रयोग हुआ है, ग्रहीता के (अर्थात् कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म दर्शनकारी के) भेद की सिद्धि के लिए उसका दो बार प्रयोग नहीं किया गया है। सः बुद्धिमान् मनुष्येषु—वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है। 'यत्' शब्द का प्रयोग एक ही पुरुष के लिए किया गया है क्योंकि यहाँ एक ही 'तत्' शब्द से उपसंहार किया गया है। इस प्रकार जो शास्त्र से, आचार्य से, युक्ति से और अपने अनुभव से कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म दर्शन करता है वही मनुष्यों में सर्वशास्त्रों में अधिकृत बुद्धिमान् पुरुष है अर्थात् आत्मतत्त्वज्ञ है। सः युक्तः—वही युक्त अर्थात् योगी है, सः कृत्स्नकर्मकृत्—सब श्रौत, स्मार्त ओर अन्य पुण्यकर्मों का कर्ता भी वही है। श्रुति में कहा गया है–'यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत् किं च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत् स वेद' अर्थात् जिस प्रकार कृत नामक चार अङ्कवाले पासे के (चौपड़ के) जीत लेने पर अन्य एक, दो, तीन अङ्कवाले विशिष्ट पासे (चौपड़) भी अपने आप ही विजित हो जाते हैं उसी प्रकार प्रजा सकल (प्राणी सकल) जो कुछ कर्म करते हैं वे सब उसको प्राप्त हो जाते हैं, जो परमात्मा को जानता है और जिसको वह जानता है। उक्त प्रकार के श्रुतिवचन के अनुसार सबलोगों के द्वारा अनुष्ठित सम्पूर्ण पुण्य कर्म वही बुद्धिमान् (आत्मतत्त्वज्ञ) पुरुष के द्वारा किये जाते हैं अर्थात् सकल लोगों के द्वारा कृत सभी पुण्य-कर्मों के फल विद्वान् को प्राप्त होते हैं यही 'कृत्स्नकर्मकृत्' शब्द का तात्पर्य है। अथवा श्लोक का इस प्रकार का अर्थ भी किया जा सकता है। अर्जुन कह सकते हैं—जब तुम ही जगद्गुरु हो तब तुम्हें ही मुझे कर्म, विकर्म और अकर्म के तत्त्व का उपदेश देना उचित है। इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि कर्म, अकर्म और विकर्म और आकाशादि सर्वप्रपञ्च का तत्त्व ब्रह्म ही है। उस ब्रह्म को जानने

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

से ही सब वस्तु का तत्त्वज्ञान हो जाता है। इसलिए "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मानि" (सर्वभूतों में स्थित आत्मा को और आत्मा में स्थित सर्वभूतों को) 'संपश्यन् ब्रह्म परमम्' (परब्रह्म को ठीक ठीक देखकर) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से प्रमाणित होता है कि पर और अवर का (परब्रह्म व जीव का) एकत्व दर्शन निःशेष (सम्पूर्ण रूप से) संसाररूप भ्रम का नाशक होता है। यही 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' इत्यादि कहकर उपदेश दे रहे हैं। जो किया जाता है अर्थात् उत्पन्न किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। अतः कर्म शब्द का अर्थ है ब्रह्म का कार्यभूत अर्थात् महत् (महत्तत्त्व) से लेकर स्थूलपदार्थ तक सम्पूर्ण जगत्। कर्मणि—उस कर्म में अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म जागतिक सकल वस्तु में (अर्थात् सारे जगत् में) अकर्म—जहाँ कर्म नहीं रहता है उस अकर्म को अर्थात् 'निष्कलं निष्क्रियम्' इस प्रकार श्रुतिसिद्ध निष्क्रिय परब्रह्म को यः पश्येत्—जो देखता है अर्थात् जो प्रपंच मिथ्या होकर भी प्रतीत हो रहा है वही प्रपञ्च को (अर्थात् सकल वस्तु को) जो ब्रह्मरूप से ही देखता है।

शंका—जगत् सविशेष और परम ब्रह्म निर्विशेष है अर्थात् वे दोनों गौ और अश्व की तरह (गाय और घोड़े के) समान विलक्षण हैं। गौ (गाय) को जिस प्रकार अश्व के रूप में देखना असम्भव है उसी प्रकार ब्रह्म से विलक्षण विश्व को विद्वान् पुरुष ब्रह्मरूप कैसे देखेगा ?

समाधान—नहीं, उक्त शंका युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जगत् और ब्रह्म का कार्य-कारणभाव रहने पर उन दोनों का वैलक्षण्य (पार्थक्य) कल्पना करना युक्तियुक्त नहीं होता है। गौ और अश्व के (गाय और घोड़े के) ता कार्य-कारण भाव न होने से और जाति का भेद रहने से परस्पर विलक्षणता हो सकती है। किन्तु जगत् और ब्रह्म की विलक्षणता नहीं हो सकती है। यदि यह कहते हो कि नाम, रूप, गुण और जाति से जगत् की सकल वस्तु ही परस्पर भिन्न है और वही भेद प्रत्यक्ष है, अतः असंख्य भेदों से भिन्न जगत् को ब्रह्मस्वरूप किस प्रकार विद्वान् पुरुष देखेगा ? इसके उत्तर में कहा गया है—नहीं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, कारण नामरूप आदि भेद अधिष्ठान के अज्ञान से (अधिष्ठान को न जानने पर) कल्पित है। जिस प्रकार एक ही भूमि पर घर, क्षेत्र (खेत) आदि की कल्पना होता है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म में नाम रूप आदि भेद को कल्पना भ्रम के कारण होता है। वास्तव में उनमें कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार द्रवत्व, शीतत्व, शुक्लत्व, मधुरत्व आदि जल के धर्म तरंग आदि मे बाहर भीतर सर्वत्र अनुस्यूत

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

(व्याप्त) है और जल की सत्ता से व्यतिरिक्त तरंग आदि की पृथक् कोई सत्ता नहीं है अर्थात् तरंगादि (सर्वावस्था में) जलमात्र ही है। उसी प्रकार जगत् के बाहर और भीतर सर्वत्र सत्व, चित् आदि [अस्ति अर्थात् 'है', भाति अर्थात् 'प्रकाश हो रहा है' इस प्रकार] ब्रह्म के धर्म अविच्छिन्न भाव से (पूर्णरूप से) अनुस्यूत देखे जाते हैं। अतः ब्रह्मसत्ता से व्यतिरिक्त (भिन्न) जगत् की दूसरी सत्ता का अभाव है एवं श्रुतियों से भी यह ही सिद्ध होता है, यथा—'चिद्धीदं सर्वम्, सद्धीदं सर्वम्' (जो कुछ प्रतीत होता है वे सब चित् ही है, वे सब सत् ही है)—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म ही है) 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (यह सब ब्रह्म ही है)। फिर युक्ति द्वारा भी यह सिद्ध होता है यथा—मृत्तिका के कार्यभूत घट में जिस प्रकार बाहर भीतर मृत्तिका हो (मिट्टी हो) है, उसी प्रकार ब्रह्म के कार्य होने के कारण यह सब कुछ ब्रह्म ही है। 'यह सब ब्रह्म ही है, ब्रह्म पर आरोपित होने से शुक्ति में (सीप में) आरोपित रजत (चाँदी) के समान' इस प्रकार की युक्तियों से और मृत्तिकादि के दृष्टान्तों से सम्यक् प्रकार से (भली भाँति) विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि सब जगत् ब्रह्म ही है। अतः शुद्धात्मा ब्रह्मविद् सम्पूर्ण जगत् का ब्रह्म ही देखता है। यद्यपि श्रुति, युक्ति, दृष्टान्त और अनुभव से 'जगत् ब्रह्मरूप है' ऐसा सिद्ध होने पर जगत् के कार्यत्व निवृत्त हो जाता है और यही कार्यत्व निवृत्त होने पर निमित्त के नाश होने पर नैमित्तिक का भी नाश होता है, इस न्यायानुसार ब्रह्म का भी कारणत्व निवृत्त हो जाता है—क्योंकि कारण कार्य की अपेक्षा से होता है। अतः कार्य की निवृत्ति होने पर कारण की भी निवृत्ति होगी और उन दोनों की निवृत्ति से कार्यकारणभावरहित अद्वितीय ब्रह्म ही है–यह सिद्ध हुआ। तथापि विचार करने के अनन्तर ही अब ब्रह्म का अद्वितीयत्व सिद्ध हुआ किन्तु विचार के पहले तो "जगत् है और ब्रह्म है", इस प्रकार की द्वैतबुद्धि रहती है, यदि ऐसी आशंका—कोई करें तो वह भी युक्त नहीं होगी कारण कि जैसा (रज्जु में सर्प भ्रान्ति से) पहले भी रज्जु (रस्सी) हो सर्प, उसके सिर तथा पुच्छ आदि के रूप से प्रतीत हो रही थी अथवा जिस प्रकार मरीचिका भ्रान्ति से मरुभूमि ही जल, तरंग, फेनादि रूप में प्रतीत हो रही थी वैसे ही ब्रह्म ही भ्रान्ति से द्रव्य, गुण, कर्मादि के भेद से भिन्न जगत् के रूप में प्रतीत हो रहा था। वस्तुतः जगत् कभी भी नहीं है (पूर्व में, मध्य में और अन्त में सभी ब्रह्म ही हैं)। इस प्रकार मुमुक्षु का तीनों काल में (भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् काल में) ब्रह्म का अद्वितीयत्व सिद्ध करने के लिए ब्रह्म में ब्रह्म के विवर्त रूप से जगत्

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

स्थित है, इस प्रकार दर्शन करना कर्त्तव्य है। जगत् को ब्रह्ममात्रता में निःसंशय होने के लिए व्यतिरेक मुख से उक्त दर्शन को ही पुनः दृढ़ कर रहे हैं—अकर्मणि च कर्म यः—अकर्म में अर्थात् उक्तलक्षणविशिष्ट ब्रह्म में कर्म अर्थात् पूर्वोक्त लक्षणविशिष्ट जगत् का जो देखता है [अर्थात् जगत् ब्रह्म के विवर्तरूप होने के कारण स्वतः (वस्तुतः) जगत् का कोई सत्ता नहीं है—ऐसा देखता है]। जैसे (भ्रान्ति दूर होने से) चाँदी को सीप और जल को मरु देखता है वैसे हो जो सब जगत् को ब्रह्म ही देखता है, सः मनुष्येषु बुद्धिमान्—वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है। श्रुति में कहा गया है—"सर्वं तं परादन्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" अर्थात् जो सबको आत्मा से भिन्न (अन्य) जानता है, सब लोग उसका अनादर करते हैं। इस प्रकार श्रुति नाम रूपादि भेद से भिन्न तथा ब्रह्म की सत्ता से अतिरिक्त सत्तावाले जगत् को देखनेवाले का अनर्थ होता है, ऐसा बतलाती है। अतएव प्रत्येक कल्याणकामी पुरुष को भ्रम से कल्पित नामरूपादि द्वैतदर्शन का त्याग कर एकमात्र मोक्षकामी होकर जिससे विपरीत ज्ञान निःशेष निवृत्त (विनष्ट) हो जाय उसी प्रकार नाम, रूप, गुण और कर्म सब ब्रह्म ही है, ऐसा देखना चाहिए। इस प्रकार संशय व विपर्ययरहित होकर सब को प्रत्यग् दृष्टि से जो ब्रह्म ही देखता है, वही बुद्धिमान् अर्थात् ब्रह्मवेत्ता है, सः युक्तः—वही युक्त है अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ है सः कृत्स्नकर्मकृत्—वही कृत्स्नकर्मकृत् है [कृत्स्नकर्मकृत—अर्थात् अनेक कल्पों में अर्जित संचित कर्म और इस जन्म में किए गए कर्म, जो फल देने के लिए प्रवृत्त नहीं हुए हैं किन्तु पश्चात् अनेक योनियों को प्राप्त करनेवाला है, उन सब कर्मों को अपनी आत्मा के यथार्थ विज्ञान रूप खड्ग द्वारा काट देता है अर्थात् छिन्न-भिन्न कर देता है। [कृत्स्नानि कर्माणि स्वयाथात्म्यविज्ञानखड्गेन कृन्तति छिनत्तीति कृत्स्नकर्मकृत्]। "सर्वं पाप्मानं तरतीति" अर्थात् सर्व पापों से उत्तीर्ण होता है (तर जाता है), इत्यर्थक श्रुति के अनुसार यह सिद्ध होता है कि जो इस प्रकार दर्शन करता है वही अशुभ संसार से मुक्त हो जाता है।

(३) नारायणी टीका—भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने इस श्लोक की नाना प्रकार की व्याख्या की है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार पारमार्थिकतत्त्व की आलोचना करने पर यह सिद्ध होता है कि एक सर्वव्यापी अकर्म (निष्क्रिय) ब्रह्म (आत्मा) ही भ्रान्तिवश जगत् प्रपञ्च के नाम, रूप और क्रिया (कर्म) के रूप में प्रकाशित हो रहा है। अतः अकर्म ही (अर्थात् परमार्थ सत् ब्रह्म ही) है। मूढ़ लोगों की दृष्टि में कर्म (अर्थात् जगत् प्रपंच) रूप में

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

भासमान होता है, जिस प्रकार अज्ञानाच्छन्न पुरुष भ्रान्तिवश मृगतृष्णा में जल और शुक्ति में रजत (चाँदी) देखता है। किन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति सर्वत्र एक परब्रह्म स्वरूप आत्मा को ही देखता है। अतः प्रपंचरूप कर्म में अर्थात् ज्ञान के कर्मभूत (विषयीभूत) दृश्य जड़ पदार्थों में अकर्म को अर्थात् जो सत रूप और स्फुरण रूप से सर्ववस्तु में अनुगत (व्याप्त) है और जो सकल भ्रम का अधिष्ठान है वही अकर्म अर्थात् परमार्थ सत् ब्रह्म को ही देखता है और अकर्म में, परब्रह्म में विवर्त्तरूप में प्रतिभात कर्म (जगत् प्रपंच) देखता है। यह मायामय प्रपंच दृश्य परमार्थतः असत् है क्योंकि यह सब स्वप्रकाश (द्रष्टा स्वरूप) आत्मा में कल्पितमात्र है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' अर्थात् यह सब ही ब्रह्म है—इस प्रकार के श्रुतिवाक्य का तात्पर्य अवधारण कर जगत् प्रपंच की ब्रह्मसत्ता से भिन्न अन्य कोई पृथक् सत्ता नहीं है, इस प्रकार जो जानता है वह विवेकी व्यक्ति शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही कर्म और अकर्म में समानभाव से देखने के कारण मनुष्यों में बुद्धिमान् है क्योंकि वह परमार्थदर्शी अर्थात् ब्रह्मविद् है। फिर उसका अन्तःकरण (चित्त) शुद्ध रहने के कारण वह एकाग्र होकर परब्रह्म के साथ युक्त रहता है अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होता है और इसी कारण सकल श्रौत, स्मार्त्त और अन्य दूसरे पुण्य कर्मों का भी कर्ता होता है कारण श्रुति में कहा गया है—'यथा कृतार्थविंजितायाधरेयाः संयत्येनमेनं सर्वं तदभिसमेति यत् किं च प्रजाः साधु कुर्वन्ति' (छा० उ०) अर्थात् जैसा जो कृत नामक चार अंक वाले पासे (चौपड़) को जय किया है वही एक, दो और तीन अंकयुक्त पासे को भी जय करते हैं, वैसे ही प्रजा (प्राणिवर्ग) जो कुछ भी साधु कर्म करते हैं वे सभी उक्त परमार्थदर्शी पुरुष को प्राप्त होते हैं। इस श्रुति के अनुसार सर्व लोगों के द्वारा किए हुए पुण्यकर्म के फल उस प्रकार के परमार्थदर्शी को प्राप्त होने के कारण यह कहा जा सकता है कि वही परमार्थदर्शी के (तत्त्वज्ञ के) द्वारा सब पुण्य कर्म कृत (अनुष्ठित) हुआ है। इस प्रकार भावार्थ प्रकाश करने के लिए कहा गया—"कृत्स्नकर्मकृत्" [इन सब प्रशंसा वाक्यों के द्वारा कर्म और अकर्म के विवेकदर्शी की स्तुति की गई है]।

अथवा कर्म—अज्ञानकल्पित नामरूप क्रियात्मक जगत् प्रपंच अकर्म—निष्कल निष्क्रिय ब्रह्मसत्त्व स्वरूप आत्मा जिसकी सत्ता से सब कुछ सत्तावान् है और जिसके प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित होता है। सारांश यह है कि अज्ञान से ही कर्म अर्थात् विश्वप्रपञ्च दिखाई देता है और ज्ञान होने पर अज्ञान के कार्य (कर्म) निवृत्त हो जाने से सब अकर्म हो जाते हैं। तत्त्व-

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

ज्ञान में स्थित होकर कर्म करने पर भी वह अकर्म (ब्रह्मस्वरूप) ही होता है किन्तु अज्ञान जब तक रहता है तब तक देहेन्द्रियों के व्यापार रोककर कर्म न करने पर भी वह अकर्म न होकर कर्म या विकर्म ही होता है—यही कहने का अभिप्राय है। पारमार्थिक दृष्टि में कर्म और अकर्म सब ब्रह्म ही है। जो इस प्रकार देखता है अर्थात् सर्वत्र ब्रह्म को जो देखता है वही युक्त—है (ब्रह्म में समाहित चित्त या स्थित बुद्धि है) और वही कृत्स्नकर्मकृत्—है अर्थात् समस्त कर्मबन्धन को छेदन करने में समर्थ है। इस प्रकार की अवस्था प्राप्त करने के लिये मुमुक्षु की, जिससे भ्रम द्वारा कल्पित नाम रूपादि रूप द्वैतदर्शन का त्याग तथा विपरीत ज्ञान की निःशेष निवृत्ति हो, इसलिए नाम, रूप, गुण, कर्म सभी ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही है ऐसे ज्ञान में निरन्तर स्थितिलाभ करने के लिए दृढ़ अभ्यास करना कर्तव्य है, यह ही कहने का अभिप्राय है।

[पूर्व श्लोक में उक्त अकर्म में कर्मदर्शन की और कर्म में अकर्म दर्शन की स्तुति अब की जा रही है। अर्थात् परमार्थदर्शी को कर्तृत्वाभिमान न रहने से (अतः काम और संकल्प न रहने से) कर्म द्वारा वह किसी प्रकार से लिप्त नहीं होता है (मधुसूदन)]। श्रुति में कहा गया है—"यथा पुष्करपलाशम् आपो न क्लिष्यन्ते" अर्थात् जिस प्रकार कमल पत्र को जल स्पर्श (अर्थात् सिक्त) नहीं कर सकता है उसी प्रकार परमार्थदर्शी को कर्तृत्वाभिमान न रहने के कारण कोई भी कर्म उन्हें लिप्त नहीं कर सकता है, अब यही कहा जा रहा है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डित बुधाः ॥ १९ ॥

अन्वयः—यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः (सन्ति) बुधाः तं ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं पण्डितम् आहुः।

अनुवाद—जिसके सकल कर्म काम और संकल्परहित हैं और ज्ञानरूप अग्नि द्वारा जिसके सकल कर्म दग्ध हो गए हैं, उसी पुरुष को ज्ञानी पण्डित कहते हैं।

भाष्यदीपिका—**यस्य**—जिसका (पूर्व श्लोक में जिस परमार्थदर्शी का उल्लेख किया गया है) वही व्यक्ति का **समारम्भाः**—जो सम्यग् रूप से आरब्ध होता है, वही "समारम्भ" है—ऐसी व्युत्पत्ति के अनुसार "समारम्भाः"

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

शब्द का अर्थ है—सकल कर्म [और "सर्वे" शब्द का अर्थ है लौकिक और वैदिक सर्वप्रकार (मधुसूदन)]। अतः "सर्वे समारम्भाः" पद का अर्थ है—सर्वप्रकार के लौकिक तथा वैदिक कर्म कामसंकल्पवर्जिताः—काम अर्थात् फलतृष्णा और उसके कारण जो संकल्प है।

["मैं करूँगा" इस प्रकार के कर्तृत्वाभिमान (मधुसूदन)] उन दोनों से वर्जित अर्थात् जो वासना और संकल्पहीन है वही व्यक्ति जो कुछ कर्म करता है वह अपनी कोई प्रयोजन सिद्धि के उद्देश्य से नहीं करता है। उसके कर्म का अनुष्ठान केवल वृथा चेष्टामात्र ही है [अर्थात् प्रारब्ध कर्म के वेग से ही उन सब कर्मों को वह करता है किन्तु फलकामना और संकल्प (कर्तृत्वाभिमान) न रहने पर उन कर्मों से कोई फल उत्पन्न नहीं होता है अतः वे वृथा चेष्टामात्र ही होते हैं (मधुसूदन)]। यदि वह यदृच्छा प्राप्त सांसारिक कार्य में प्रवृत्त हो तो फिर उसका फल लोकसंग्रह के व्यतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता है और यदि निवृत्तिपरायण (संन्यासी) हो तो फिर उनकी जो कुछ चेष्टा दिखाई पड़ती है वह केवल जीवनधारण के लिये ही होती है। अतः कामना या संकल्प द्वारा प्रेरित होकर वह कोई कर्म नहीं करता है एवं इस कारण उसका सकल कर्म काम और संकल्पवर्जित है, ऐसा कहा जाता है।

बुधाः—पण्डितगण अर्थात् ब्रह्मविद् गण।

तम् – उस पुरुष को (जिसका) ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्—सभी कर्म ज्ञानरूप अग्नि से दग्ध हो गए हैं।

[सर्वकर्म में सर्वत्र एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप का ही अनुभव करने को ज्ञान कहा जाता है। वह ज्ञान ही अग्नि है—इस ज्ञानरूप अग्नि द्वारा जिसका शुभाशुभ सकल कर्म दग्ध होकर फिर सुख-दुःख, जन्म-मरण रूप फल प्रसव करने में समर्थ नहीं होते हैं, वही "ज्ञानाग्निदग्धकर्मा" है। ब्रह्मसूत्र में भी कहा गया है—"तदधिगमे उत्तरपूर्वार्धयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्" अर्थात् ब्रह्मज्ञान होने के उत्तरकाल में (ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होने के बाद) जो सब शुभाशुभ कर्मरूप पाप अनुष्ठित होते हैं वे चित्त में वासना संस्कार रूप से संश्लिष्ट नहीं होते हैं और ज्ञानलाभ से पहले जो कुछ भी शुभाशुभ कर्मरूप पाप अनुष्ठित हुए थे उनका भी विनाश हो जाता है क्योंकि श्रुति में उसी प्रकार व्यपदेश अर्थात् उक्ति है। इस प्रकार ज्ञानाग्निदग्धकर्मा योगी को पण्डितम् आहुः—पण्डित अर्थात् परमार्थतः सम्यग्दर्शी कहते हैं। [वैशेषिकादि दार्शनिकगण सम्यग्दर्शी (ब्रह्मज्ञानी) न होने पर भी उन्हें

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

जनगण पण्डित कहकर अभिहित करते हैं किन्तु उनमें केवल 'पण्डिताभासत्व' है परन्तु वे प्रकृत पण्डित नहीं हैं—यही कहने के अभिप्राय से भाष्यकार ने कहा कि पण्डित शब्द का अर्थ है—परमार्थतः सम्यग्दर्शी (आनन्दगिरि)]। [जो सम्यग्दर्शी है वह पण्डित है, भ्रान्त (अज्ञानी) व्यक्ति को कोई पण्डित नहीं कहते हैं, यही कहने का अभिप्राय है (मधुसूदन)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर–['कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' इस वाक्य का तात्पर्य श्रुति वाक्य और अर्थापत्ति द्वारा जिस प्रकार पूर्व श्लोक की व्याख्या में निर्णीत हुआ है, वही पाँच श्लोक द्वारा (१९-२३ श्लोक में) स्पष्ट करके कह रहे हैं—]

यस्य—जिसका **सर्वे समारम्भाः**—सभी कर्म [भली भाँति जिनका आरम्भ किया जाय वे समारम्भ हैं) अर्थात् कर्म को समारम्भ कहा जाता है। जिसके वे कर्म **कामसंकल्पवर्जिताः**—काम और संकल्पशून्य हैं [जिसकी कामना की जाय वह काम है, अतः काम शब्द का अर्थ है फल, कामसंकल्प पद का अर्थ है काम के (फल के) संकल्प अर्थात् फल के लिए वासना। भाव यह है कि जिसके सारे कर्म फल के संकल्प से रहित होते हैं **तं बुधाः पण्डितम् आहुः**—उसे विवेकी गण पण्डित कहते हैं उसमें कारण यह है कि **ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्**—उन कर्मों के द्वारा चित्तशुद्धि हो जाने पर उसी से उत्पन्न हुई ज्ञानाग्नि द्वारा उसके सकल कर्म दग्ध होकर अकर्मता (पूर्व श्लोक में कही गई ब्रह्मस्वरूपता) प्राप्त होती है। [इस प्रकार आरुरुक्षु के लिए श्लोक की व्याख्या कर अब आरूढ़ को लक्ष्य कर श्लोक की व्याख्या की जा रही है।]

आरूढ़ावस्था में फलविषयक काम और 'उसके लिए यह कर्म कर्त्तव्य है' इस प्रकार कर्मविषयक संकल्प—इन दोनों से जो रहित होता है उसे पण्डित कहते हैं [अर्थात् आरूढ़ योगी सदा ही काम संकल्प वर्जित रहने के कारण (उनका फललाभ करने का विषय न रहने के कारण) उनका कोई भी कार्य (कर्त्तव्य) नहीं रहता है (गीता ३।१७), क्योंकि उनके ज्ञानाग्नि के द्वारा सर्व कर्म दग्ध हो गये हैं। अतः वे ही प्रकृत पण्डित (यथार्थ तत्त्वदर्शी) हैं]।

(२) शंकरानन्द—["यथा पुष्करपलाशम् आपो न क्लिष्यन्ते" अर्थात् जिस प्रकार कमल के पत्र का जलस्पर्श नहीं करता (नहीं छूता है), इस श्रुति वाक्य के अनुसार जो कर्म में अकर्मत्व के दर्शन करते हुए शरीर की

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

यात्रा के उपयोगी (अनुकूल) ज्ञान के समकालीन सभी कर्मों का विश्लेषण करते हैं (अर्थात् ज्ञाननिष्ठ होकर शरीरयात्रा के निर्वाह के अनुकूल कर्म जब जैसा उपस्थित होता है केवल वही उस समय शरीरादि से असंग रहकर करते हैं)] वे ही पण्डित हैं, यही अब श्री भगवान् कह रहे हैं।

यस्य—जिस ब्रह्मवित् पुरुष के **सर्वे समारम्भाः**—सम्यग् प्रकार से देहेन्द्रियों के द्वारा जिसका आरम्भ (अनुष्ठान) किया जाता है उसको समारम्भ कहा जाता है अर्थात् प्राणरक्षा के उपयोगी देह एवं इन्द्रियों आदि के सम्पूर्ण व्यापार को "समारम्भ" कहते हैं। ये व्यापार (समारम्भ) जो ब्रह्मविद् के **कामसंकल्पवर्जिताः**—काम और संकल्प से रहित है। "यह मुझे मिलना चाहिए" इस प्रकार की इच्छा के वेग को काम कहते हैं एवं इस काम के हेतुभूत जो सम्यक्त्वबुद्धि है (अर्थात् यह इच्छा ठीक है एवं इसे पूरा करना होगा—इस प्रकार की बुद्धि है) उसी को संकल्प कहते हैं। ऐसे काम व संकल्प दोनों से वर्जित (रहित) [अर्थात् क्षुधापिपासा आदि जैसे काम व संकल्प के विना ही स्वाभाविक रूप से उपस्थित होती है उसी प्रकार ब्रह्मविद् का भी सभी समारम्भ (देहेन्द्रियादि के कार्यों) काम व संकल्प के विना तात्कालिक होते हैं]। **तं ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं बुधाः पण्डितम् आहुः**—ऐसे पुरुष की ज्ञानरूप अग्निद्वारा सभी कर्म दग्ध हो जाते हैं, अतः उसको शास्त्रज्ञ लोग पण्डित कहते हैं। "मैं कूटस्थ, असंग, चिद्रूप ही हूँ—कर्ता, भोक्ता, श्रोता, द्रष्टा और वक्ता मैं नहीं हूँ", इस प्रकार (शुद्ध चैतन्यस्वरूप) आत्मा में ही आत्मभाव प्राप्त करके देह, देह के धर्म एवं देह के सभी कर्मों में अपना असंगत्व दर्शन ही ज्ञानरूप अग्नि है। उसी अग्नि द्वारा जल गए हैं (निर्मूलित हो गए हैं) विहित, अविहित आदि रूप सभी औपाधिक कर्म जिसके, उसी जीवनमुक्त महापुरुष को ही बुध अर्थात् विद्वान् (शास्त्रज्ञ) लोग पण्डित कहते हैं। पण्डा शब्द का अर्थ है कल्याणी—सर्वत्र ब्रह्ममात्रत्व दर्शनकारिणी अखण्डरूपा वृत्ति। इस प्रकार की वृत्ति जिसके सम्यग् रूप से प्राप्त हुई है उनको 'पण्डित' कहा जाता है—अन्य किसी को (दूसरे को) पण्डित नहीं कहते। यह यहाँ कहने का अभिप्राय है। श्लोक में 'कामसंकल्पवर्जित' इस प्रकार के शब्द द्वारा 'यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत् कामस्य चेष्टितम्' (जो-जो कार्य प्राणीमात्र करते हैं वही काम की ही चेष्टा है) इसी न्यायानुसार कोई भी कर्म में प्रवृत्ति का कारण काम और काम का कारण संकल्प ही है। आरम्भ में अर्थात् देहेन्द्रियों के कार्य में ये काम व संकल्प को छोड़ देनेपर स्वार्थ में या परमार्थ में विद्वानों की प्रवृत्ति न होने के कारण शरीर-

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

यात्रा ही अवशिष्ट रह जाती है एवं यह भी तात्कालिक ही होती है। शरीर-यात्रा के लिए जो कर्म में प्रवृत्ति होती है उसमें भी कामादि के अभाव रहने के कारण वह प्रवृत्ति वेग से रहित और ज्ञानरूप अग्नि से जली हुई रहती है—यह सूचित किया गया। [आत्मज्ञान द्वारा सभी विषयों का मिथ्यात्व निश्चय जबतक नहीं होता है तबतक कोई काम संकल्प से वर्जित नहीं हो सकता। अतः जिसने आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया है उसके सभी कर्मों में केवल काम व संकल्प का अभाव रहता है यही नहीं, परन्तु उसके सभी कर्मों उस ज्ञानरूप अग्नि द्वारा दग्ध होता है, यही 'कामसंकल्पवर्जित' इत्यादि शब्द से सूचित किया गया है]।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में कहा गया है कि जो व्यक्ति अकर्म का दर्शन करता है वही बुद्धिमान् अर्थात् ज्ञानी है। कर्म में अकर्म का दर्शन करना ही प्रकृत ज्ञान है। अब कहा जा रहा है कि जिसका काम (अर्थात् कर्मफल की आकांक्षा) एवं संकल्प (अर्थात् कर्तृत्वाभिमान) नहीं है एवं जिसका कर्म में अकर्मदर्शनरूप ज्ञान प्राप्त हुआ है तथा उसी ज्ञानरूप अग्नि द्वारा उसके सभी कर्म दग्ध हुए हैं ऐसे व्यक्ति को शास्त्रज्ञ लोग पण्डित अर्थात् समदर्शी कहते हैं। अतः जो पण्डित हैं या सम्यग्दर्शी हैं वे लोक-संग्रहार्थ अथवा जीवन यात्रा के लिए अथवा प्रारब्धवश जिस प्रकार कर्म ही क्यों न करें (अर्थात् लौकिक या वैदिक कोई कर्म भी क्यों न करें) उसके काम (फलतृष्णा) एवं संकल्प ('मैं कर्ता हूँ' ऐसा अभिमान) नहीं रहेंगे। प्रकृति ही शक्ति है एवं शक्ति की व्यक्तावस्था कर्म है। शक्ति तीन प्रकार से व्यक्त होती है—(क) मन की इच्छाशक्ति (ख) प्राण की क्रियाशक्ति व (ग) बुद्धि की ज्ञान शक्ति। अतः प्रत्येक कर्म के मूल में इन तीन प्रकार की शक्ति स्फूरित (प्रकट) रहती है। चैतन्यस्वरूप आत्मा सदा ही स्थिर और शान्त रहती है, इस आत्मचैतन्य के उपर ही (आत्मा को ही अधिष्ठान कर) प्रकृति या शक्ति के तरंग नाना प्रकार के कर्म के रूप में डूबते व उतराते हैं। तरंग की समुद्र से भिन्न (पृथक्) सत्ता नहीं है, किन्तु समुद्र तरंग के बिना अपने स्वरूप में (स्थिर रूप में) विद्यमान रहता है। 'मैं एक स्थिर, अचल, चित्समुद्र हूँ—शक्ति के तरंगादि अर्थात् कर्मादि प्रकृति या माया द्वारा मेरे उपर उठ रहे हैं और लीन हो रहे हैं। मेरा कोई भी कर्म नहीं है, मैं सभी कर्मों का अधिष्ठान व द्रष्टा हूँ'। इस प्रकार वह अविकारी आत्मस्वरूप से जो विचलित नहीं होते एवं इन कर्मों को माया को, जो प्रहेलिकामात्र (अर्थात् लीला रूप) मानते हैं उसके फल की तृष्णा अथवा कर्म में कर्तृत्वाभिमान किस

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

प्रकार सम्भव है ? सभी दृश्य प्रपंच के समान सभी कर्मों को भी वह मिथ्या ही जानते हैं एवं अकर्म अर्थात् शुद्धचैतन्यस्वरूप निष्क्रिय आत्मा ही शक्ति का तरंग सदृश कर्म के रूप में प्रतिभात (प्रकाशित) हो रही है; यह ज्ञान उसका कभी लुप्त नहीं होता।

इस प्रकार कर्म को अकर्म रूपमें जानने को ही ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञानरूप अग्नि द्वारा सभी कर्म दग्ध होने पर कर्म व कर्म के फल ज्ञानी को संसार में वद्ध नहीं कर सकते। सर्वत्र एक अखण्ड चैतन्याकारा चित्तवृत्ति को अर्थात् सर्वत्र समदर्शन को 'पण्डा' कहते हैं। समदर्शन होने से आत्मा के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु का अनुभव नहीं होता अर्थात् कर्ता, कर्म, करण और कर्मफल की भिन्नत्वबुद्धि लुप्त हो जाती है। इस प्रकार के समदर्शी को ही 'वुधाः' अर्थात् ब्रह्मवित् पुरुषगण 'पण्डित' कहते हैं।

[जो कर्म में अकर्मदर्शी है अर्थात् ब्रह्मविद् है वह ज्ञानलाभ करने के पहले ही यदि कर्म में प्रवृत्त हो तो भी अकर्मादि दर्शन हेतु (अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मदर्शन होने के पश्चात्) निष्क्रिय और संन्यासी (सर्व कर्मत्यागी) हो जाता है एवं उस अवस्था में केवल जीवनमात्र की रक्षा के लिए चेष्टा करता हुआ भी किसी विहित कर्म में प्रवृत्त होना उसके लिए संभव नहीं होता है। अर्थात् जो पहले कर्म में प्रवृत्त था एवं बाद में सम्यग् रूप में आत्मदर्शन लाभ करने में समर्थ हुआ है, उसका कोई कर्म में किसी प्रकार का प्रयोजन न रहने के कारण वह कर्म का परित्याग करता है। यदि किसी कारणवश कर्म का त्याग उसके लिए असंभव हो तब कर्म व कर्मफल में आसक्तिरहित होकर (अपना कोई प्रयोजन न रहने पर भी) लोकसंग्रहार्थ वह पूर्ववत् कर्म में ही प्रवृत्त रहता है, परन्तु वास्तव में वह कुछ भी नहीं करता है क्योंकि ज्ञानरूप अग्नि द्वारा उसके सभी कर्म दग्ध होने के कारण उसके सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं, यही समझाने के लिए भगवान् यहाँ कहते हैं−]

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥

अन्वयः—सः कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वा नित्यतृप्तः निराश्रयः (सन्) कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि किञ्चित् न एव करोति।

अनुवाद—जो कर्म में अभिमान एवं कर्मफल में आसक्ति त्याग (विषय-कामनारहित होकर) नित्य (सदा ही) तृप्त रहते हैं एवं निराश्रय होते हैं (अर्थात्

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

दृष्ट या अदृष्टफल लाभ करने के लिए किसी भी साधन का अवलम्बन नहीं करता) वह कर्म में सर्व प्रकार से प्रवृत्त होकर भी कुछ भी नहीं करता ।

भाष्यदीपिका—सः—जो कर्मसङ्गम्—कर्म में आसक्ति अर्थात् कर्तृत्वाभिमान तथा कर्मफल में आसक्ति (भोग की अभिलाषा) त्यक्त्वा—त्याग करके (अर्थात् आत्मा अकर्ता व अभोक्ता है इस प्रकार सम्यग् दर्शन द्वारा कर्तृत्वाभिमान एवं भोगाभिलाषा त्याग कर (मधुसूदन)] ।

नित्यतृप्तः—[ज्ञान द्वारा परमानन्दस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार होने पर (मधुसूदन)] सभी विषयों की आकांक्षासे शून्य होने के कारण जब वह नित्य अर्थात् सदा ही तृप्त अथवा नित्य अर्थात् परमानन्द में तृप्त रहता है एवं निराश्रयः—आश्रय रहित होता है । जिसे अवलम्बन करके लोग पुरुषार्थ साधन करने की इच्छा करते हैं उसी का नाम आश्रय है । जो नित्यतृप्त है अर्थात् परमानन्द प्राप्त है वह दृष्ट (ऐहिक) या अदृष्ट (पारलौकिक) फल का लाभ करने के लिए किसी साधन का आश्रय (अवलम्बन) नहीं करता । [देहेन्द्रियादि ही कर्म करने का साधन है अतः अद्वैत दर्शन होने पर निराश्रय शब्द का अर्थ उस देहेन्द्रियादि रूप आश्रय जिसका नष्ट हो गया है अर्थात् जिसकी देहेन्द्रियों में आत्मबुद्धि विनष्ट हो गई है उसका निराश्रय कहा जाता है । [नित्यतृप्त व निराश्रय ये दोनों पद फल की कामना व कर्म में कर्तृत्वाभिमान की निवृत्ति के हेतु गर्भ विशेषण हैं अर्थात् जिस हेतु वह नित्यतृप्त है उस हेतु फल की आसक्ति (कामना) त्याग कर दिया है एवं जिस हेतु वह निराश्रय है उस हेतु उसने कर्म में कर्तृत्वाभिमान त्याग कर दिया है । इस प्रकार से वह 'कर्मफलासङ्ग' से निवृत्त हो गया है । ऐसा जीवनमुक्त पुरुष (मधुसूदन)] ।

कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि—[ज्ञान लाभ की पूर्वावस्था में जैसा कर्म करते थे उसी प्रकार व्युत्थानदशा में (समाधिभंग; अवस्था में) प्रारब्ध कर्म के वश लोकदृष्टि के अनुसार उसकी वैदिक व लौकिक कर्म की प्रवृत्ति होने पर भी [अभितः] (सर्व प्रकार से) अर्थात् सांगोपांग कर्म के अनुष्ठान करने के लिए अभिमुख होकर प्रवृत्त होने पर भी (मधुसूदन)] ।

नैव किञ्चित् करोति सः—अपनी दृष्टि में वह कुछ भी नहीं करता है अर्थात् निष्क्रिय आत्मा के दर्शन के पश्चात् समस्त द्वैत बुद्धि नष्ट होने के कारण कर्म करते रहने पर भी 'मैं कर रहा हूँ' इस प्रकार का अभिमान तत्त्वज्ञानी का नहीं रहता है अतः परमार्थतः अर्थात् तात्त्विक दृष्टि से उसका सकल कर्म अकर्म ही हो जाते हैं । अतः कर्म करते हुए भी वह कोई कर्म नहीं

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

करता। अब शंका हो सकती है कि इस प्रकार नित्यतृप्त व निराश्रय आत्मतत्त्वज्ञ पुरुष को अपना कोई प्रयोजन न रहने के कारण साधनों सहित सकल कर्मों का परित्याग करना ही उचित है। उसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि जबतक जीवन है (प्राणी की रक्षा करना है) तबतक कर्म से निर्गत (निवृत्त) होना अर्थात् कर्मशून्य होना असम्भव है। इसलिए लोकसंग्रहार्थ (लोक के हित के लिये) अथवा शिष्टजनों की निन्दा का परिहार करने की इच्छा कर पहले की तरह कर्मों में प्रवृत्त होते हुए भी (चुँकि उसको निष्क्रिय आत्मा का दर्शन हुआ है एवं आत्मानन्द में वह सदा तृप्त रहता है) अतः वह कुछ भी नही करता है अर्थात् अज्ञानी व्यक्तियों की दृष्टि में यद्यपि वह कर्म में ही प्रवृत्त है—ऐसा प्रतीत होता है परन्तु अपनी दृष्टि से वह (निष्क्रिय आत्माके ज्ञान से सम्पन्न होने के कारण वास्तव में) कुछ भी नहीं करता है—यही यहाँ कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पूर्व श्लोक में जो कहा गया है वही स्पष्ट करते है—]।

कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वा—कर्मों में और कर्मों के फल में आसक्ति का त्याग करके नित्यतृप्तः—अपने अन्तर के नित्य अर्थात् निजानन्द से (सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा से ही) सर्वदा तृप्त है। अतः निराश्रयः—जो योगक्षेमरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए आश्रय रहित है [योगः—अप्राप्त विषय के लिए चेष्टा, क्षेम—प्राप्त विषय की रक्षा, उनके लिए जो आश्रय से रहित है अर्थात् जो किसी की अपेक्षा नहीं करता है। ऐसा विद्वान् कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि—कर्म में अर्थात् स्वाभाविक (लौकिक) अथवा शास्त्रविहित (वैदिक) कर्म में प्रवृत्त होने से भी नैव किंचित् करोति सः—वह कुछ भी नहीं करता है अर्थात् उसके कर्म अकर्म भाव को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् कर्म करते हुए भी तत्त्वज्ञानी उससे आबद्ध नहीं होते हैं। [नित्यस्वरूपानन्द में तृप्त पुरुष निराश्रयी होता है कारण आत्मातिरिक्त किसी भी वस्तु के संबंध में योग व क्षेम का प्रयोजन उसका नहीं रहता। इसी कारण उसका कोई कर्तव्य कर्म भी नहीं रहता। प्रारब्धवश यदि उसकी किसी कर्म में प्रवृत्ति हो तो भी उसका सदा ही "मैं (आत्मा) असंग व निष्क्रिय हूँ" ऐसा ज्ञान विद्यमान रहने के कारण उसके सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं, यही कहने का अभिप्राय है]।

(२) शंकरानन्द—'सभी ब्रह्म' इस प्रकार के अनुभूतिसम्पन्न विद्वान् की स्वार्थ या परमार्थ के लिए (अपने लिए या दूसरे के लिये) प्रवृत्ति नहीं हो सकती। किसी स्थान में यदि वासना द्वारा आहारादि कर्म में वह

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

प्रवृत्त हो तो भी वह स्वयं अकर्म ही (अकर्ता ही) रहता है, ऐसा कहते हैं— नित्यतृप्तः—ब्रह्मविद् स्वयं नित्यतृप्त है। नित्य अर्थात् नित्यानन्दैकरस आत्म-रूप ब्रह्म का साक्षात्कार जो तृप्ति को अर्थात् अपने स्वरूपभूत सुख को प्राप्त हुआ है वह नित्यतृप्त है। इसलिए वह निराश्रयः—जिसके द्वारा प्रेरित होकर पुरुष साधन सहित कर्म का आश्रय करता है उसे आश्रय कहा जाता है। काम द्वारा प्रवृत्त होकर कर्म का आश्रय लिया जाता है इसलिये आश्रयशब्द का अर्थ है काम। इस आश्रय या काम से जो मुक्त है वह निराश्रय अर्थात् निष्काम हैं। इसलिए वह किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है कारण प्रवृत्ति के मूल में काम रहता है एवं काम के अभाव से कर्म की प्रवृत्ति का अभाव अवश्यंभावी है।

कर्मण्यभिप्रवृत्तः अपि—यदि वासना द्वारा प्रेरित होकर कहीं भिक्षाटनादि में प्रवृत्त होता है तो **कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वा**—कर्मफल के आसंग (संग) का त्याग कर कर्म जिसमें फलते हैं अथवा जो (वासना से) कर्म का फल उत्पन्न करता है अथवा जो स्वयं कर्म का फल है वह कर्मफल है। देह ही कर्मफल है। इस देह में आसंग (आसक्ति) अर्थात् 'मैं कर्ता, भोक्ता, वक्ता, श्रोता, द्रष्टा हूँ इस' प्रकार की देह के साथ तादात्म्यबुद्धि (एकत्वबुद्धि) का त्यागकर अपने उचित (स्वाभाविक) कर्म में अभिप्रवृत्त होकर भी [अर्थात् उन कर्मों का सर्वांग के साथ सुचारू रूप से तथा पूरा (पूर्णरूप से) अनुष्ठान करने पर भी] **सः न एव किंचित् करोति**—वह विद्वान् दूसरों की दृष्टि से कर्म करते हुए भी अपनी दृष्टि से कुछ नहीं करता अर्थात् कर्म में अकर्म का दर्शन करने के कारण देहेन्द्रियरूप उपाधि द्वारा किये गये कोई भी कर्म से वह लिप्त नहीं होता। यही कहने का तात्पर्य है।

(३) नारायणी टीका—अज्ञानी पुरुषों में अर्थात् जिनके देहेन्द्रि-यादि में आत्मबुद्धि है वे जो कुछ भी करते हैं उसमें "मैं कर्ता हूँ" इस प्रकार का कर्तृत्वाभिमान रहता है एवं कर्म व अकर्मफल में आसक्ति भी रहती है। एक विषय के बाद दूसरे विषय में अनवरत उनकी आकांक्षा बढ़ती ही जाती है, इसी कारण से किसी प्रकार भी उन्हें तृप्ति लाभ नहीं होती। साथ ही विषयाकांक्षा द्वारा प्रेरित होकर वे दृष्टा-दृष्ट (इहलोक में तथा पर-लोक में) इष्टफल लाभ करने के उपयोगी सभी साधनों का आश्रय (अव-लम्बन) करते हैं। इस प्रकार के कर्तृत्वाभिमान व फलाकांक्षा से कर्म करने वाले अज्ञानी व्यक्ति दूसरों की दृष्टि में एवं अपनी दृष्टि में भी कर्म ही करते हैं। किन्तु कर्म में (विश्वप्रपंच में) जो अकर्म का (विकाररहित आत्मा का)

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

दर्शन करते हैं वे उक्त प्रकार के अज्ञानी से सम्पूर्ण भिन्न (विलक्षण) होते हैं। ज्ञानियों का सर्वत्र समदर्शन रहने से किसी भी कर्म में उनके कर्तृत्वाभिमान अथवा फल की आकांक्षा नहीं रहती कारण नित्यानन्दस्वरूप आत्मा में ही रमण कर वे तृप्त होते हैं। अतः उनको इहलोक या परलोक की किसी भी वस्तु को प्राप्त करने के लिए साधन को आश्रय करने की आवश्यकता नहीं रहती। प्रारब्धवश यदि लोक के संग्रह (हित) के लिए या केवल जीविका के निर्वाह के लिए दूसरों की दृष्टि से कर्म करते हुए भी स्वयं अर्थात् (अपनी दृष्टि से) वह कर्म नहीं करता है; कारण वे जानते हैं कि प्रकृति से उत्पन्न देहेन्द्रियाँ ही प्रकृति के (प्रारब्ध संस्कार के) वशीभूत होकर कर्म करते हैं (गीता ३।२७), असंग आत्मा किसी प्रकार से भी कर्ता नहीं हो सकता। यही पण्डित (तत्त्वज्ञानी) एवं अज्ञानी का अन्तर है।

[जो व्यक्ति पूर्व श्लोक में कहे गए पुरुष से भिन्न है अर्थात् जो उपरोक्त प्रकार से कर्म नहीं करता अर्थात् जो कर्मारम्भ के पूर्व ही (गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पहले ब्रह्मचर्य आश्रम में ही) सभी वस्तुओं में अन्तर्निहित निष्क्रिय व सर्वात्मभूत परब्रह्म रूप आत्मा का दर्शन ("मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकार का प्रत्यक्ष अनुभव) करने में समर्थ हुआ है ऐसे व्यक्ति को दृष्ट तथा अदृष्ट विषयों में आकांक्षा न रहने के कारण इहलौकिक एवं पारलौकिक किसी भी विषय का प्रयोजन नहीं रहता। अतः उसके साधन सहित सभी कर्मों का त्याग हो जाता है। केवल शरीरयात्रा-निर्वाह के लिए उसकी बाह्य चेष्टा मात्र रहती है। इस प्रकार यति ही ज्ञाननिष्ठ होकर मोक्षलाभ करता है यही समझाने के लिए भगवान् ने कहा है "निराशीर्यत चित्तात्मा" इत्यादि। (अथवा पूर्वश्लोक में कहा गया है कि आत्मज्ञान लाभ करने के पश्चात् जीवनमुक्त पुरुष द्वारा किए हुए वैदिक कर्मादि (अत्यन्त विक्षेपकर ज्योतिष्टोमादि कर्म भी) कर्तृत्वाभिमान और फलासक्तिशून्य पुरुष से अनुष्ठित होने पर स्वर्गादि रूप किसी फल को उत्पन्न नहीं कर सकते)। अतः वे कर्म उस जीवन मुक्त पुरुष के लिए कोई बन्धन का कारण नहीं बन सकते ऐसी अवस्था में यदि वह ज्ञानी केवल शरीर धारण के लिए, जो कर्म चित्त में विक्षेप उत्पन्न नहीं करते ऐसे भिक्षाटनादि (भिक्षा के लिए भ्रमण आदि) कर्म करे तो ये कर्म उसके बन्धन का हेतु नहीं होंगे। इस विषय को अब भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं (मधुसूदन)]:—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अन्वयः—निराशीः यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः (सन्) केवलं शारीरं कर्म कुर्वन् किल्बिषं न आप्नोति ।

अनुवाद—जो कामनाहीन है, जिसका चित्त व देहादि संयत हुए हैं, जिसने सब प्रकार के परिग्रह का त्याग किया है (अर्थात् सब विषयों को आसक्ति से वर्जित है) वह यदि केवल देहयात्रा के निर्वाह के लिए कर्म का अनुष्ठान करे तो उसका किसी प्रकार का अनिष्ट (अर्थात् संसार बन्धन के हेतु पाप या पुण्य) नहीं हो सकता ।

भाष्यदीपिका-निराशीः-जिसके हृदय से भोगतृष्णा की सभी आशाएँ निकल गयी है (निवृत्त हो चुकी है) वह यतचित्तात्मा-चित्त (अन्तःकरण) एवं (अर्थात् बाह्य इन्द्रियों के सहित स्थूल देह भी) ये दोनों जिसके द्वारा संयत हुए हैं [अर्थात् प्रत्याहार से विषयों से विमुख कर निगृहीत किए हुए हैं (मधुसूदन)] वह यतचित्तात्मा (जितेन्द्रिय) है चुँकि वह जितेन्द्रिय है इसलिए वह निराशी (विषयतृष्णारहित) है, अतः वह त्यक्तसर्व-परिग्रहः—सर्वपरिग्रह अर्थात् समस्त वस्तु का परिग्रह [अर्थात् भोग का उपकरण (सामग्री)] का त्याग करता है । तथापि प्रारब्ध कर्म के वशीभूत होकर शारीरं कर्म—केवल मात्र शरीर रक्षा के लिए जैसा आवश्यक होता है केवल ऐसा कर्म [अर्थात् कौपीन-आच्छादनादि का ग्रहण एवं भिक्षाटन प्रभृति जो संन्यासी के लिए शास्त्रविहित है ऐसा कायिक, वाचिक व मानसिक कर्म (मधुसूदन)] केवलम्—उसे सिर्फ भाव से अर्थात् कर्त्तृत्वाभिमान-शून्य होकर कुर्वन्—करने पर भी अर्थात् चुँकि उसने अकर्ता-आत्मा के स्वरूप का दर्शन किया है अतः वह किसी कर्म का कर्ता नहीं हो सकता । परन्तु अन्य अज्ञानी व्यक्ति उसके देह तथा इन्द्रियों को कर्म करते हुए देखकर उस पर कर्त्तृत्व का आरोप करते हैं । इन अज्ञानी व्यक्तियों की दृष्टि के अनुसार अर्थात् इस प्रकार के आरोपित कर्त्तृत्व से मुक्त महात्मा सभी कम को करते हुए भी किल्बिषं न आप्नोति—अनिष्टरूप पाप या पुण्य प्राप्त नहीं करता। अर्थात् उसको धर्माधर्म फल रूप अनिष्ट संसार गति की प्राप्ति नहीं होती । कर्त्तृत्वा-भिमान व फलाकांक्षा सहित कर्म करने पर ही उससे धर्म व अधर्मरूप अदृष्ट की उत्पत्ति होती है एवं अदृष्ट से जन्ममरणरूप संसार गति चलती रहती है । पाप जिस प्रकार अनिष्ट फल प्रदान करता है, पुण्य भी उसी प्रकार मुमुक्षु का अनिष्ट (अनभिप्रेत अर्थात् अवाञ्छित) स्वर्गादि रूप फल की प्राप्ति के हेतु होता है । इसलिए पुण्य को भी पारमार्थिक दृष्टि से पाप ही कहा जाता है । "किल्बिष" शब्द का यथार्थ अर्थ है पाप किन्तु पाप व पुण्य अथवा धर्म व अधर्म दोनों

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

ही संसार बन्धन का हेतु होने के कारण मुमुक्षु के लिये वे किल्विष रूप से परिगणित होते हैं (अर्थात् पाप ही माने जाते हैं)।

यहाँ "केवलं शारीरं कर्म" इस पद द्वारा क्या शरीर द्वारा जो सब कर्म निष्पन्न होते हैं उसे समझा रहे हैं ? कि शरीरयात्रा निर्वाह मात्र के लिए जो कर्म किया जाता उसे समझा रहे हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—

(क) यदि शरीर द्वारा किए गए कर्म को 'शारीर' कर्म मान लिया जाय तो दृष्टादृष्ट के (इह लोक व परलोक के) प्रयोजन की सिद्धि के लिए शरीर द्वारा कृत निषिद्ध कर्म द्वारा मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं करेगा ऐसा यहाँ समझाया जायगा। ऐसा होने से सभी शास्त्रों द्वारा निषिद्ध कर्मों से विरत रहने का जो विधान है यह सब प्रतिषेध (निषिद्ध कर्मों को निषेध करने वाले) शास्त्रों के साथ भगवान् के इस प्रकार की उक्ति का विरोध हो जायगा।

(ख) फिर यदि इह लोक के प्रयोजन अथवा परलोक (स्वर्गादि) की प्रयोजन सिद्धि के लिए मनुष्य शास्त्रविहित कर्म करने पर पाप को नहीं प्राप्त करते ऐसा कहने से तो अप्राप्त प्रतिषेध का प्रसंग उपस्थित होता है [अर्थात् विहित कर्मानुष्ठान द्वारा किसी को भी पाप नहीं होता, शास्त्रविहित कर्म करने से पाप को नहीं प्राप्त करता] ऐसा कहने से जो पाप स्वतः ही प्राप्त न हो सकता है उसी पाप का प्रतिषेध किया गया, इस प्रकार समझना होगा [फलतः ऐसी उक्ति वृथा (निष्फल) होती है]।

(ग) "शारीरिक कर्म करके" इस पद के सहित "केवल" शब्द विशेषण रूप में प्रयुक्त होने से ऐसा प्रतीत होता है कि केवल शरीर द्वारा निष्पादित (किए हुए) कर्म करके पाप नहीं होगा किन्तु शरीर से अतिरिक्त मन तथा वाणी द्वारा अनुष्ठित विहित कर्म अथवा प्रतिषिद्ध कर्म (जिसको अधर्म शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है ऐसे कर्म) करके मनुष्य को पाप प्राप्त होता है। तव तो मन व वाणी द्वारा विहित कर्म का (जप ध्यानादिका) अनुष्ठान द्वारा भी पाप प्राप्त होता है, ऐसा कहना होगा। ऐसी उक्ति शास्त्र विरुद्ध है (कारण विहित कर्म के अनुष्ठान से कोई पाप नहीं हो सकता) फिर यदि कहने का अभिप्राय यह है कि वाणी व मन द्वारा निषिद्ध कर्ममात्र के अनुष्ठान द्वारा मनुष्य को पाप प्राप्त होता है तव ऐसी उक्ति अनुवादमात्र है, अर्थात् इस प्रकार की उक्ति व्यर्थ होगी (कारण यह सर्वजनविदित है कि प्रतिषिद्ध कर्म करने से अवश्य ही पाप होता है)।

(घ) और यदि शरीरयात्रा निर्वाह के लिए अनुष्ठित कर्म को शारीर

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

(शारीरिक) कर्म माना जाय तो श्लोक का अर्थ होगा जिस कर्म का प्रयोजन है इह लोक व परलोक में भोग सुख की प्राप्ति एवं जो विधि-निषेधात्मक शास्त्रों के अनुकूल (अर्थात् जो कर्म शास्त्र द्वारा निषिद्ध नहीं है परन्तु उनसे विहित है) एवं जो शरीर, मन व वाणी द्वारा अनुष्ठित होते हैं इस प्रकार के कोई कर्म को न करता हुआ शरीर, मन व वाणी द्वारा केवल शरीर यात्रा के निर्वाह करने के लिए आवश्यक कर्म लोकदृष्टि से करता हुआ ज्ञानी किसी प्रकार से किल्विष अर्थात् अनिष्ट पाप व पुण्य) प्राप्त नहीं होता। श्लोक में "केवलम्" शब्द का तात्पर्य यह है कि "मैं कर्ता हूँ" ऐसा अभिमानरहित होकर ज्ञानी केवल लोक दृष्टि से ही शरीर, वाणी व मन द्वारा चेष्टामात्र करता है [अतः ऐसे पुरुष के लिए पापरूप किल्विष (अर्थात् जन्म मरणरूप संसार को) प्राप्त होना संभव नहीं है। ज्ञानरूप अग्नि द्वारा उसके समस्त कर्म दग्ध (नष्ट) होने के कारण ऐसा संन्यासी किसी प्रकार प्रतिबन्ध (विघ्न) के विना ही मुक्त हो जाता है]।

इस श्लोक में जो कहा गया है वह पहले कहे हुए यथार्थ आत्मज्ञान के फल का अनुवाद मात्र है "केवलं शारीरं कर्म" इस वाक्य में कर्म शब्द का "शारीर" तथा "केवल" ये दोनों ही विशेषण हैं, ऐसा मानकर अर्थ करने से निर्दोष होगा (आनन्दगिरि)।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[एवम्] निराशीः–जिसकी आशा (कामना) सर्व प्रकार से निवृत्त हो चुकी है यतचित्तात्मा—जिसका चित्त व आत्मा (शरीर) संयत (वश में) किया हुआ है त्यक्तसर्वपरिग्रहः—जिसने सब विषयों के परिग्रह का त्याग किया सः—वह केवलम्—कर्तृत्वाभिनिवेश (कर्तृत्वाभिमान से) रहित होकर शारीरं कर्म—शरीर मात्र से निर्वाह होने वाले कर्मों को कुर्वन् अपि—करता हुआ भी किल्विषम् न आप्नोति–किल्विष (पाप) अर्थात् कर्म बन्धन को (अथवा संसार बन्धन को) प्राप्त नहीं होता है। जो योगारूढ़ हैं उनके पक्ष में इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार होगा। योगारूढ़ व्यक्ति शरीर निर्वाह मात्र के लिए उपयोगी स्वाभाविक भिक्षाटन आदि (भिक्षा माँगने के लिए विचरण आदि) कर्म करता हुआ भी किल्विष अर्थात् विहित कर्म न करने के निमित्त से होने वाले पाप को (दोष को) नहीं प्राप्त होता।

(२) शंकरानन्द—परन्तु जो मति, विवेक, वैराग्य, शमदमादि-साधन सम्पन्न होकर सर्वकर्म परित्याग कर श्रवण-मनन द्वारा आत्मतत्त्व को विशेषरूप से जानकर निदिध्यासनपरायण होता है, वह शरीरयात्रा मात्र के लिए कर्म करता हुआ भी ब्रह्मनिष्ठा द्वारा संसार बन्धन को निर्मूल करके

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

मुक्त हो जाता है। यही अब कहा जा रहा है—निराशीः—जिसमें से आशीष अर्थात् सभी विषयों की कामना पूर्णरूप से निर्गत हो गई हों उसको निराशी अर्थात् विनष्ट सर्वकाम कहा जाता है। इसलिये त्यक्तसर्वपरिग्रहः—कौपिन व कन्हा को छोड़कर सब प्रकार के परिग्रह का जिसने त्याग कर दिया है वह त्यक्तसर्वपरिग्रह अर्थात् योगनिष्ठापरायण है। अतः यतचित्तात्मा—जिसने आत्मा (देह) एवं चित्त दोनों को संयत अर्थात् निरुद्ध कर लिया है वह यतचित्तात्मा है। अथवा जो चित्त को सर्वदा आत्मा में ही (अनात्मा में कभी नहीं) यत अर्थात् संस्थापित करने में समर्थ हुआ है वह यतचित्तात्मा है। ऐसे निराशी, त्यक्तसर्वपरिग्रह एवं यतचित्तात्मा होकर यति शारीरम्—शरीर की स्थिति के कारण अर्थात् प्राणरक्षामात्र प्रयोजन के लिए केवलम्—किन्तु उसमें भी यतित्व, ज्ञानित्व एवं कर्तृत्व के अभिमान से निर्मुक्त (रहित) होकर कर्म कुर्वन्—कर्म करता हुआ किल्बिषम् न आप्नोति—पाप को प्राप्त नहीं होता (पाप से लिप्त नहीं होता है)।

शंका—"व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" (विरक्त होकर भिक्षाचर्या करते हैं) इस श्रुतिवाक्य द्वारा यति के लिए प्राणरक्षा के कारण भिक्षाचरण का विधान है। विहित कर्म के अनुष्ठान से पाप होना असम्भव है। अतः जहाँ पाप नहीं होता वहाँ 'नाप्नोति किल्बिषम्" ऐसा कहकर पाप प्राप्ति के अभाव का प्रतिपादन करना युक्तियुक्त नहीं है।

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि कहीं पाप की प्राप्ति की संभावना (प्रसंग) यति को भी हो सकती है। 'यतचित्तात्मा' इस शब्द का प्रयोग करने से वाणी के भी निरोध होने से मौनी (यति) का भी किसी किसी स्थान में (किसी से भी प्रश्न करके संवाद लेना संभव न होने के कारण अभिशप्त गृह से भी भिक्षाग्रहण का प्रसंग हो सकता है। परन्तु श्रुति में कहा गया है 'अभिशप्तपतितवर्ज्यम्' अर्थात् अभिशप्त व पतित का त्याग करके भिक्षाग्रहण करना चाहिए। अतः श्रुतियों से निषिद्ध भिक्षाग्रहण रूप कर्म का अनुष्ठान करने से यति को भी पाप ही होगा एवं यह पाप सम्यग्-ज्ञान का प्रतिबन्धक (बाधक) होगा। किन्तु ब्रह्मविद् यति कर्म में अकर्मत्व-दर्शन कर ज्ञानरूपी अग्नि द्वारा पाप को पूर्णरूप से दग्ध करके मुक्तिलाभ करता है। इस अभिप्राय से श्लोक में कहा गया है 'कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' (अर्थात् करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता)। अथवा—शास्त्र में वर्णित है—'मधु मांसं च मध्यं च ताम्बूलं तैलमौषधम्। त्याज्यान्यष्टौ यतेर्दुरात्तथा कान्ता च कांचनम्।' अर्थात् मधु, मांस, मद, ताम्बूल, तेल, औषध,

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

कान्ता (स्त्री) व कांचन (सोना) इन आठों को यति दूर से ही त्याग करें। इस प्रकार के अति निषिद्ध शरीर की स्थिति के कारण कर्म को अर्थात् जिसके न करने से शरीर चला जाता है, श्रवण आदि नहीं सिद्ध होते उस 'शारीर' कर्म को यथा—'औषधवदाशमनादाचरेत्' (औषध के समान उपद्रव के शान्त होने तक करें) ऐसे श्रुति वाक्यानुसार सर्पदंश, नेत्ररोग, उदरशूलादि महान् उपद्रव उपस्थित होने पर औषधसेवारूप 'केवलं शारीरं कर्म' अर्थात् प्रयत्न के बिना प्राप्त (अयत्नसिद्ध) शारीर (शरीर के रक्षार्थ) कर्म का करता हुआ भी श्रवणादि से सम्पन्न यति पाप को प्राप्त नहीं होता। अथवा—

निराशीः—नित्यानित्य वस्तु विवेक, वैराग्य तथा तीव्र मुमुक्षुत्व द्वारा सभी आशाओं से अर्थात् इहकाल व परकाल के तुच्छ विषयभोगजनित सुख को आशाओं से जो निर्गत (मुक्त) हुआ है वह निराशी है। ऐसा निराशी होने से त्यक्तसर्वपरिग्रहः—जो सब परिग्रह त्याग करता है या किया है। धर्म एव प्रजा (सन्तान) प्राप्ति के लिए जिनको ग्रहण किया जाता है उनको परिग्रह कहा जाता है अर्थात् दारा (स्त्री) प्रभृति। जिसने मोक्ष की इच्छा से इन सब का त्याग किया है उसको त्यक्तसर्वपरिग्रह कहा जाता है अर्थात् सर्व कर्म एवं कर्म के साधनों का जिसने त्याग किया है ऐसा यति यतचित्तात्मा—जो स्वयं यत हो गया है अर्थात् बाह्य (बाहर की) वृत्ति से (व्यापार से) जिसने आत्मा (देहेन्द्रियादि रूप कार्य कारण संघात) को निवृत्त कर दिया है वह यतचित्तात्मा है। ऐसा होकर शारीरं कर्म—शरीररूप उपाधिविशिष्ट होने से आत्मा को 'शारीर' कहा जाता है। ऐसी आत्मा को प्राप्त करानेवाला श्रवणमननादि कर्म को भी 'शारीर' ही कहा जाता है। केवलम्—बाहर का जपादि सभी कर्म का त्याग करके केवल श्रवणादिरूप आन्तर शारीर कर्म को ही कुर्वन् अपि—करता हुआ किल्बिषं न आप्नोति—किल्बिष को अर्थात् दुःखप्रद संसाररूप बन्धन को नहीं प्राप्त होता। 'कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' भगवान् के इस वचन द्वारा यही सूचित होता है कि जपादि कर्म सह श्रवणादि कर्म करता हुआ अथवा श्रवणादि का त्याग कर अन्य कर्म को करता हुआ यति किल्बिष को ही अर्थात् दुःखप्रद संसार की गति ही प्राप्त होता है। अतः यति को सर्वदा श्रवणादि कर्म ही करना कर्त्तव्य है, अन्य स्तोत्र, मन्त्र, जपादि कर्म करना उचित नहीं है—ऐसा सिद्ध होता है। स्मृति में भी ऐसा कहा गया है—'यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परस्त्यजेत्। जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाऽद्रियेत् कर्मचोदनाम्'। अर्थात् (यति) यम का सदा सेवन करे, मत्परायण होकर नियमों का त्याग करे, ब्रह्म विचार में संप्रवृत्त होकर कर्म

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

विधि का आदर न करे। फिर कहा गया है—'संन्यस्य श्रवणं कुर्यान्नाऽन्यत् कुर्याद् यतिः क्वचित्' अर्थात् सन्यास ग्रहण करके (सर्व कर्म त्याग करके) यति श्रवण करे (वेदान्त शास्त्रादि का श्रवण एवं तत्पश्चात् मनन एवं निदिध्यासन करे) और अन्य कुछ भी कहीं न करे।

(३) नारायणी टीका—जागतिक विषय के प्रति जिनकी कोई तृष्णा नहीं है, जिनका चित्त व आत्मा (देह) संयत अर्थात् अपने वशीभूत है एवं जो विषय के दुःखत्व, अनित्यत्व तथा मिथ्यात्व का निश्चय करके सर्व प्रकार से परिग्रह (भोग का उपकरण) का त्याग करते हैं ऐसे महात्मा इहलोक एवं परलोक में किसी इष्टवस्तु की अपेक्षा नहीं करते। अतः उनकी अपनी इच्छा से किसी कर्म करने का प्रयोजन नहीं होता है। तथापि यदि प्रारब्धवश कोई कर्म आ जाय अथवा जीवन यात्रा के निर्वाहमात्र के लिए भिक्षाटनादि कर्म करते हुए उनको देखा जाता है तब ये कर्म केवल शारीर कर्म—ही होता है। कर्म करते हुए साधारण व्यक्ति को फलाभिसन्धि (फलाकांक्षा) व कर्तृत्वाभिमान रहते हैं। किन्तु ज्ञानी का कर्म में उन दोनों का अभाव रहने के कारण उनका कर्म कर्ममात्र ही रह जाता है एवं उस कर्म को तब 'केवल कर्म' कहा जाता है। और जब "(प्रकृति से उत्पन्न हुआ) शरीर, मन, वचन द्वारा ही कर्म हो रहा है अर्थात् मुझमें (आत्मा में) कोई कर्म नहीं है अतः मैं तो कर्म का विज्ञाता या द्रष्टा हूँ—कर्ता या भोक्ता नहीं हूँ" ऐसा दृढ़बोध जिनका रहता है तब उनके कर्म को 'केवल शारीर कर्म' कहा जाता है। ऐसी बुद्धि से केवल शरीरादि द्वारा कर्म करने से वह कर्म अकर्म ही होता है। अतः ऐसे ज्ञाननिष्ठ पुरुष बाहर से कर्म करते हुए भी अन्तर में अकर्म आत्मा में ही स्थिर रहने के कारण किल्बिष अर्थात् पुण्य व पापजनित अनिष्ट रूप संसार-बन्धन को नहीं प्राप्त करते।

[पूर्वश्लोक में जो कहा गया है उससे यही प्रतिपन्न होता है कि जो संन्यासी सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग कर चुके हैं उनका शरीर रक्षार्थ अन्नादि का संग्रह न रहने के कारण भिक्षाटनादि द्वारा शरीर यात्रा का निर्वाह करना चाहिए। [शास्त्र में कहा गया है कि संन्यासी के लिए पाँच प्रकार की भिक्षा की व्यवस्था है,—'माधुकरमसंक्लिप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम्। तात्कालिकोपपन्नञ्च भैक्ष्यं पंचविधं स्मृतम्"—(१) माधुकरी भिक्षा—मधुकर जिस प्रकार फूल फूल में मधु के लिए घूमता फिरता है वैसे संन्यासी भी यदि घर-घर घूमकर प्रयोजनीय भिक्षा का संग्रह करें तो वह माधुकरी भिक्षा है। (२) असंक्लिप्त भिक्षा—अभिशप्त पापिओं के गृह वर्जन करके संकल्प न कर

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

तीन, पाँच अथवा सात गृहों से भिक्षा ग्रहण करना (३) प्राक् प्रणीत भिक्षा—पहले ही यदि कोई भक्त भिक्षा के लिए अनुरोध करे तो उसको स्वीकार करने से उसी भिक्षा को प्राक्प्रणीत भिक्षा कहते हैं। (४) अयाचितभिक्षा—याचना या प्रयत्न के विना हो जो भिक्षा स्वतः लब्ध है उसे अयाचितभिक्षा कहते हैं। (५) तात्कालिकोपपन्नभिक्षा—भिक्षा के समय यदि कोई भक्त संन्यासी के समीप भिक्षा लाकर उपस्थित हो ता उसे तात्कालिकोपपन्न भिक्षा कहा जाता है।] इस प्रकार की भिक्षा के विधान से यही प्रतिपन्न होता है कि अन्न एवं आच्छादनादि न होने से शरीर धारण असंभव है। अतः शरीर-यात्रा के लिए यदि आवश्यक हो तो संन्यासी को याचनादि द्वारा भी अन्न प्रभृति का संग्रह करना चाहिए। परन्तु वोधायन स्मृति शास्त्र में कहा गया है कि 'अयाचितमसंक्लिप्तमुपपन्नं यदृच्छया' अर्थात् संन्यासी को याचना न कर, संकल्प न कर, एवं इच्छा न कर, अपने आप प्राप्त हुए अन्न से जीवन यात्रा का निर्वाह करना चाहिए। इस प्रकार याचना, संकल्प प्रभृति का प्रयत्न परित्याग करके किन उपायों से संन्यासियों की शरीर स्थिति का कारणरूप अन्नादि का संग्रह हो सकता है उनके नियम (व्यवस्था) का निर्देश करके श्रीभगवान् कहते हैं—]

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निवध्यते ॥ २२ ॥

अन्वयः—यदृच्छालाभसन्तुष्टः, द्वन्द्वातीतः, विमत्सरः, सिद्धौ असिद्धौ च समः (सन्) कृत्वा अपि न निबद्धयते।

अनुवाद—विना प्रार्थना से जो वस्तु प्राप्त हो जाय, उसमें ही जो सन्तुष्ट रहता है, शीत-उष्ण—सुख दुःखरूपी द्वन्द्व को सहन करने में जो समर्थ है तथा वैरभाव रहित (अर्थात् समदर्शी) है, यदृच्छालाभ में सिद्धि (अयाचित वस्तु की प्राप्ति में) अथवा असिद्धि में (अर्थात् उसकी अप्राप्ति में) सम अर्थात् तुल्यबुद्धि (हर्षविषादरहित) रहता है ऐसा ज्ञानी पुरुष कर्म करके भी संसार के वन्धन से लिप्त नही होता।

भाष्यदीपिका—यदृच्छालाभसन्तुष्टः—जिसकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना नहीं की गई तथापि जो स्वयं ही उपस्थित होता है उस लाभ को 'यदृच्छालाभ' कहा जाता है। उसी से जो व्यक्ति सन्तुष्ट है अर्थात् "यही पर्याप्त है" इस प्रकार का प्रत्यय (मनोभाव) जिस व्यक्ति का है उसको "यदृच्छालाभ-सन्तुष्टः" कहा जाता है। ["यदृच्छा" शब्द के द्वारा शरीर यात्रा के लिए

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

संन्यासी की किसी प्रकार की प्रार्थना (मांगना) संकल्पादि रूप प्रयत्न करना उचित नहीं है यही सूचित किया गया है। मनुने भी कहा है "नोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया। नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित्" अर्थात् कोई उत्पात एवं कोई निमित्त उपलब्ध कर नक्षत्रविद्या (ज्योतिष विद्या) द्वारा या अंगविद्या द्वारा अथवा अनुशासन वाद अवलम्बन कर कभी भिक्षा लाभ करने की इच्छा करना उचित नहीं है किन्तु "यतयो भिक्षार्थं ग्रामं विशन्ति" (अर्थात् संन्यासीगण भिक्षा के निमित्त ग्राम में प्रवेश करें) इस तरह के शास्त्र वाक्यानुसार भिक्षा के लिए प्रयत्न संन्यासी को अवश्य ही करना उचित है किन्तु कोई वस्तु की प्राप्ति के लिए याचना करना अथवा संकल्प (कामना) उनको नहीं करना चाहिए। "सन्तुष्टः" शब्द द्वारा यह सूचित किया गया है कि प्रयोजन के अतिरिक्त वस्तुलाभ होने से भी उनका संग्रह करना उचित नहीं होगा कारण प्रयोजन से अतिरिक्त वस्तु के संग्रह से परिग्रहरूप दोष होता है एवं उनकी रक्षा के लिए संकल्प रहने से सन्तोष की हानि होती है। इसलिए मनु ने कहा है "कौपीनयुगलं वासः कन्थां शीतनिवारणीम्। पादुके चापि गृह्णीयात् कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम्" अर्थात् संन्यासी दो कौपीन के उपयोगी वस्त्र, शीत की निवारणी कन्था एवं पादुकाओं का ग्रहण कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त कोई भी वस्तु का संग्रह उनके लिए उचित नहीं होगा। अब प्रश्न होगा कि यदि शीत से पीड़ित संन्यासी का शीत निवारकी वस्त्र यथेष्ट नहीं हो तो वे शीतकाल में जीवन रक्षा कैसे करेंगे? इसके उत्तर में कह रहे हैं—] द्वन्द्वातीतः—द्वन्द्व अर्थात् शीत-उष्ण, मान-अपमान इत्यादि द्वारा आक्रान्त होकर भी जिसका चित्त विषादग्रस्त नहीं होता वह द्वन्द्वातीत हैं। [क्षुधा-तृष्णा, शीत-ग्रीष्म प्रभृति सभी द्वन्द्व समाधि की अवस्था में स्फूरित नहीं होते हैं कारण उस समय चित्त की समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध रहती हैं। व्युत्थानदशा में ये सब स्फूरित होने से भी 'परमानन्दस्वरूप अद्वितीय अकर्ता अभोक्ता आत्मा ही मेरा यथार्थ स्वरूप है' ऐसी दृढ़ बुद्धि रहने के कारण तथा शीतोष्णादि सभी द्वन्द्व का मिथ्यात्व निश्चय होने के कारण वे सब बाधित होने से शरीर को पीड़ा देते हुए भी उस ज्ञानी के चित्त को क्षुब्ध या विषण्ण (विचलित) नहीं कर सकते। चुँकि वे द्वन्द्वातीत है इसलिए वे दूसरों के लाभ में व अपने अलाभ में (मधुसूदन)]।

विमत्सरः—निर्वैरबुद्धि। दूसरे के उत्कर्ष को सहन न कर अपने उत्कर्ष की अभिलाषा (आशा) करने को मत्सर कहते हैं। अद्वैतस्वरूप आत्मा के साक्षात्कार के बाद अर्थात् सर्वत्र आत्मबुद्धि रहने के कारण

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

आत्मा के द्वारा आत्मा के प्रति वैरीभाव सम्भव नहीं है। इसी कारण वह (ज्ञानी) सर्वभूतों में वैरभावशून्य होता है। चुँकि इस प्रकार संन्यासी विमत्सर (निर्वैर) है इसलिए वह—(मधुसूदन)]।

सिद्धौ असिद्धौ च समः—यदृच्छालाभ की (अपने-आप प्राप्त हुए लाभ की) सिद्धि में (प्राप्ति में) एवं असिद्धि में (अप्राप्ति में) सम अर्थात् तुल्यबुद्धि (हर्षविषादरहित) होता है। शरीर की स्थिति के हेतु अन्नादि के प्राप्त होने से वह हृष्ट (हर्षप्राप्त) नहीं होता एवं उनकी प्राप्ति न होने पर भी वह विषण्ण नहीं होता। इस प्रकार जो लाभ तथा अलाभ में समदर्शी (हर्ष-विषादरहित) होता है और कर्मादि में अकर्मादि देखने वाला है एवं यथार्थ आत्म-दर्शननिष्ठ होकर शरीर की स्थितिमात्र के लिए शरीरादि द्वारा होनेवाले भिक्षाट-नादि कर्मों में भी (भिक्षा के लिए भ्रमणादि कर्मों में भी) 'मैं कुछ नहीं करता—गुण ही गुणों में वर्तते हैं," (गीता ३।२८) इस प्रकार सदा देखनेवाला है वह याते (निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा) अपने में कर्तापन का अभाव देखने से (अर्थात् अपने को अकर्ता समझ लेने से) शरीर के द्वारा भिक्षाटन आदि कार्य लोक-दृष्टि से करता हुआ भी वास्तव में वह कुछ नहीं करता। किन्तु ऐसा पुरुष लोक व्यवहार को साधारण दृष्टि से अज्ञानी तथा ज्ञानी में विशेष कोई भेद न देखने के कारण [अर्थात् स्नान, भोजन, आचमनादि व्यवहार में विद्वान् व अविवेकी के समान (एक ही प्रकार का) व्यवहार देखा जाता है इसलिए]. अज्ञानी व्यक्ति इस प्रकार के ब्रह्मनिष्ठ संन्यासीयों में भी भिक्षाटन आदि कर्मों का कर्तृत्व आरोपित करते हैं। परन्तु शास्त्रप्रमाण आदि से उत्पन्न अपने अनुभव से वस्तुतः ज्ञानी (सभी कर्मों में) अकर्ता ही रहता है। इस प्रकार जिस पर दूसरों के द्वारा कर्तृत्व का (कर्तापन का) अध्यारोप किया गया है वह ब्रह्मज्ञाननिष्ठ यति **कृत्वा अपि**—शरीरनिर्वाहमात्र के लिए (शरीर को जीवित रखने के लिए) भिक्षाटनादि कर्मों को करता हुआ भी **न निबध्यते**—संसार में बद्ध नहीं होता है क्योंकि अविद्या द्वारा कृत सभी कर्म संसारबन्धन के हेतु होते हैं, किन्तु ज्ञानरूप अग्नि द्वारा (मूल अविद्या एवं अविद्या द्वारा आरोपित कर्तृत्व भोक्तृत्व के अभिमान के साथ) ज्ञानी के सभी कर्म दग्ध हो जाते हैं (गीता ४।१९)। यह पहले ही कहा गया है। अतः यह उसका ही अनुवाद मात्र है। [अनुवाद शब्द का अर्थ है कहे हुए विषय को अच्छी तरह से समझाने के लिए दूसरे प्रकार से पूर्णरूप से बताना अर्थात् पुनरुक्ति]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—यदृच्छालाभसन्तुष्टः—प्रार्थना (याचना)

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

विना जो लाभ उपस्थित होता है उसे यदृच्छालाभ कहा जाता है। उसके द्वारा जो सन्तुष्ट है, **द्वन्द्वातीतः**—शीतोष्णादि द्वन्द्वों से जो अतीत हो गया है। अर्थात् शीतोष्णादि द्वारा जो विक्षुब्ध (विषादप्राप्त) नहीं होता है (शीतोष्णादि को सहन करना जिसका स्वभाव हो गया है), **विमत्सरः**—जो निर्वैर है (अर्थात् वैरभाव से रहित है) **सिद्धौ असिद्धौ च समः**—जो अपने आप प्राप्त हुए लाभ की भी सिद्धि में एवं असिद्धि में सम है अर्थात् हर्ष विषादरहित है [सिद्धि—इच्छा की पूर्ति और असिद्धि—इच्छा की अपूर्ति]। जो इस प्रकार है वह यदि आरुरुक्षु योगी हो तब **कृत्वा अपि न निबध्यते**—शास्त्रविहित कर्म को नियमानुसार करने पर भी बन्धन को प्राप्त नहीं होता और यदि वह आरूढ़ योगी हो तब वह स्वाभाविक कर्म (शौचभोजनादि कर्म) करके भी आबद्ध नहीं होता।

(२) **शंकरानन्द**—परापरैकत्वविज्ञानरूप (ब्रह्म और जीव का एकत्व अनुभवरूप) अग्निद्वारा जिसकी अविद्या एवं अविद्या की कार्यरूप ग्रन्थि निःशेषतया दग्ध हो गई है ऐसे जीवन्मुक्त यति को जीवनयात्रा-निर्वाह के अतिरिक्त अन्य कोई कर्त्तव्य कर्म नहीं है, ऐसा प्रतिपादन कर निदिध्यासन करनेवाले मौनी यति को भी (जो कि अन्न एवं अन्नदाता के विषय में किसी प्रकार का विचार न करके शरीरयात्रा का निर्वाह करता है उसकी भी) मुक्ति में कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है (अर्थात् उसकी भी मुक्ति नहीं रुकती) ऐसा कहा गया है। अब अजगरवृत्ति द्वारा प्रारब्धवश आकस्मिक प्राप्त अन्नादि द्वारा जीवन्मुक्त योगी जीविकानिर्वाह करने से भी उसकी इस प्रकार की वृत्ति (जीविकानिर्वाह का उपाय) मुक्ति का प्रतिबन्धक नहीं होती, ऐसा श्रीभगवान् प्रतिपादन करते हैं—

द्वन्द्वातीतः—तुम, मैं, यह-वह, इष्ट-अनिष्ट, शुद्ध-अशुद्ध, द्वैत-अद्वैत इत्यादि विपरीत ज्ञानरूप द्वन्द्व जिसके अतीत (नष्ट) हो गए हैं अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि द्वारा जिसका विपरीत दर्शन निवृत्त हो गया है, वह द्वन्द्वातीत है। अतः वह **विमत्सरः**—"यह सब मैं ही हूँ" इस प्रकार सबको अपने आत्मस्वरूप जानने के कारण उसकी किसी विषय के संबंध में उत्कृष्टत्व और अपकृष्टत्व (यह उत्तम है, यह अधम है, ऐसी) भावना नहीं रहती है। वह सर्वत्र आत्मबुद्धिवाला होता है। इस कारण वह **यदृच्छालाभसन्तुष्टः**—यत्न के बिना जो लाभ होता है अर्थात् प्रारब्धवश स्वतः ही जो प्राप्त होता है उसको यदृच्छालाभ कहा जाता है। इस प्रकार का यदृच्छाप्राप्त अन्नादि, चाहे वह साधु या असाधु द्वारा दिया गया हो, चाहे शुद्ध या अशुद्ध हो,

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

चाहे कम या अधिक हो, यह विचार न कर उसी में सन्तुष्ट रहता है अर्थात् परितृप्ति लाभ करता है एवं आहार के सिद्धावसिद्धौ च समः भूत्वा—सिद्धि व असिद्धि में सम रहकर अर्थात् ब्रह्मानन्द के अनुभव से स्वयं हर्ष, विषाद, वैवर्ण्य आदि से रहित होकर कृत्वा अपि न निबध्यते—उक्त प्रकार शरीरयात्रा का निर्वाह करता हुआ भी अजगरवृत्ति में स्थित ब्रह्मविद् यति (संसार चक्र में) निबद्ध नहीं होता अर्थात् यद्यपि लोकदृष्टि से उसके आहारादि की विषमता के हेतु (शास्त्रविरुद्धाचरण के कारण उसकी मुक्ति के पथ में) प्रतिबन्धक के समान दोष से वह युक्त है ऐसा प्रतीत होता है तथापि "यह सब ब्रह्मस्वरूप मैं ही हूँ" इस प्रकार की भावना से भोक्ता, भोग्य, दाता, देय, इत्यादि सब दृश्यों का ब्रह्ममात्र रूप में वह विलय कर देता है (अर्थात् परब्रह्मस्वरूप में स्थित रहता है) एवं अद्वितीय परब्रह्म में अन्य कोई प्रतिबन्धक का हेतु न होने के कारण वर्त्तमान विद्वद्देह नष्ट होने पर उक्त विद्वान् विदेहमुक्ति को प्राप्त होता है, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—२१वें श्लोक में आरुरुक्षु व आरूढ योगी कर्म करके भी कर्म द्वारा बद्ध नहीं होते अर्थात् कर्मफल का भोग करने के लिए संसारगति को प्राप्त नहीं होते, यह साधारण रूप से कहा गया है। २२वें से २४वें श्लोक तक आरूढ़ योगी कर्म करके भी कर्म द्वारा क्यों आबद्ध नहीं होते यही विशेषरूप से कहा गया है।

जिसने अद्वितीय आत्मा का साक्षात्भाव से दर्शन (अनुभव) किया है उसकी देहात्मबुद्धि सम्पूर्णरूप से विगलित हो जाती है। अतः देहरक्षा के लिए उसका कोई प्रयत्न नहीं रहता क्योंकि वह जानता है कि माया द्वारा रचित देह प्रारब्ध के द्वारा ही परिपालित होता है। अतः प्रारब्ध के वश अयाचित रूप से जो कुछ स्वयं उपस्थित होता है (यदृच्छालाभ होता है) उससे ही वह सन्तुष्ट रहता है। अब प्रश्न होगा कि क्षुधा व पिपासा तो देह का स्वाभाविक धर्म है। क्षुधा व पिपासा उपस्थित होने से वह उसे कैसे सहन करेगा ? इसके उत्तर में कहा गया है कि वह इसे सहन कर सकता है कारण वह द्वन्द्वातीत है। एक अद्वितीय आत्मा ही परमार्थतः सत्य है और जो कुछ प्रतीत होता है वह मरीचिका की जलराशि के समान मिथ्या है, यह बोध दृढ़ होने से क्षुधा, पिपासा, शीतोष्ण इत्यादि द्वन्द्व ज्ञानी अनायास ही सहन कर सकता है। अद्वितीय आत्मा के ज्ञान के फलस्वरूप वह केवल द्वन्द्वातीत होता है (अर्थात् क्षुधापिपासा आदि में ही समबुद्धि होता है) ऐसी बात नहीं है परन्तु वह विमत्सर भी हो जाता है अर्थात् सर्वत्र समबुद्धि होने के

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

कारण उसका निज (अपना) व पर रूप से किसी प्रकार की भेदबुद्धि होना असम्भव है। अतः दूसरों का उत्कर्ष देखकर असहन तथा अपने उत्कर्ष की इच्छा उसकी नहीं रहती। इसलिये उसको किसी के प्रति वैरबुद्धि भी नहीं होती। इस कारण वह सिद्धि व असिद्धि में सम रहता है अर्थात् किसी वस्तु की सिद्धि में (लाभ में) वह हर्षित नहीं होता एवं असिद्धि में (अलाभ में) भी वह विषण्ण (शोकयुक्त) नहीं होता। फलस्वरूप इस प्रकार का योगी बाहर की दृष्टि से कर्म करता हुआ भी उसकी अपनी दृष्टि से कर्तृत्वाभिमान व फलाकांक्षा के अभाव रहने के कारण उसका कर्म अकर्म ही हो जाता है। अतः कोई भी कर्म उसको फल द्वारा आवद्ध नहीं कर सकता।

["त्यक्त्वा कर्मफलासंगम्" इत्यादि श्लोक में (गीता ४।२०) प्रतिपादित हुआ है कि जो पहले स्वधर्म पालन करके (निष्काम कर्म से चित्तशुद्धि लाभकर) निष्क्रिय ब्रह्म को ही आत्मा के रूप से अनुभव किए हैं उनके लिये कोई भी कर्म में कर्तृत्वाभिमान रहना सम्भव नहीं है, अतः कर्म और कर्मफल में आसक्ति रहना भी सम्भव नहीं है। तथापि यदि कोई कारणवश पूर्व की तरह वे कर्म में ही प्रवृत्त होते हैं तो भी वह कोई कर्म नहीं करते हैं, (गीता ४।२३) यह 'नैव किञ्चित् करोति सः' इत्यादि श्लोक द्वारा भी (गीता ४।२०) ऐसे ज्ञानी का वस्तुतः कर्माभाव ही दर्शित हुआ है। यही अब स्पष्ट किया जा रहा है। अथवा जो सकल प्रकार के परिग्रह का त्याग किये हैं और जो यदृच्छा-लाभ से सन्तुष्ट रहते हैं इस प्रकार के संन्यासी के लिए केवल शरीरमात्र की रक्षा के हेतु भिक्षाचर्या प्रभृतिरूप जो कर्म शास्त्र में निर्दिष्ट हुए हैं उसे करके वे वद्ध नहीं होते हैं, यह पूर्व श्लोक में कहा गया है। इसमें यह शंका हो सकती है कि जनक प्रभृति जो गृहस्थाश्रम में रहकर भी ब्रह्मज्ञान लाभ किये हैं उनसे गृहस्थाश्रमविहित यज्ञादि रूप सभी कर्म अनुष्ठित होते हुए भी वे कर्म उनके लिए बन्धन का कारण क्यों नहीं हुए ? इस शंका को दूर करने के लिए अब कहा जा रहा है (मधुसूदन)]

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

अन्वयः—गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः यज्ञाय कर्म आचरतः समग्रम् (कर्म) प्रविलीयते।

अनुवाद—जो व्यक्ति आसक्तिशून्य और धर्माधर्म बन्धनरहित है (जीवन्मुक्त है)। जिसका चित्त निरन्तर तत्त्वज्ञान में (परमात्मा में) ही

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

स्थित है और जो व्यक्ति भगवान् की प्रीति सम्पादन के लिये यज्ञादि कर्म अनुष्ठान करता है उसके सकल कर्म ही विशेष भाव से लीन हो जाते हैं (नाश प्राप्त होते हैं) अर्थात् उसके कर्म संसार-बन्धन के कारण नहीं होते हैं।

भाष्यदीपिका—गतसङ्गस्य—जो (सब ओर से) आसक्तिरहित है मुक्तस्य—जो धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) [या राग-द्वेष इत्यादि] बन्धन से मुक्त है। अर्थात् कर्तृत्वभोक्तृत्वादि अध्यासशून्य (अभिमानशून्य) होने के कारण धर्म और अधर्मरूप कर्म के फल जो पुण्य और पाप हैं (जो जन्ममृत्यु-रूप संसार वृक्ष के मूल हैं) उनसे मुक्त हुआ है और ज्ञानावस्थितचेतसः—ज्ञान में अर्थात् ब्रह्म और आत्मा की एकता विषयक जो निर्विकल्पक (कल्पना-रहित) बोध या अनुभव होता है उसमें जिसका चित्त निरन्तर स्थित रहता है अर्थात् जो स्थितप्रज्ञ हुआ है उसके [मधुसूदन] यज्ञाय कर्म आचरतः—यज्ञनिर्वृति के (यज्ञसम्पादन के) लिए कर्माचरण (कर्म का अनुष्ठान) होते रहने पर भी [यज्ञ शब्द का अर्थ है विष्णु (परमात्मा)]। 'यज्ञाय कर्म आचरतः' पद का अभिप्राय यह है कि उस प्रकार के आसक्तिहीन, मुक्त, ज्ञाननिष्ठ पुरुष यदि परमात्मा की प्रीति के लिए प्रारब्ध द्वारा प्रेरित होकर कोई कर्म करे अथवा प्रारब्धकर्मवश लोकसंग्रह के लिए (अर्थात् जिससे लोग वेदविहित कर्म में प्रवृत्त हो सकें इस उद्देश्य से) यदि वह कोई कर्म (बाह्य ज्योतिष्टोमादि यज्ञ और दान प्रभृति) करे तो फिर वह परमात्मा को प्रीति के लिए ही करता है। इस कारण उस प्रकार के कर्म का अनुष्ठान करता हुआ भी उसका समग्रम् (कर्म) प्रविलीयते—समग्र शब्द का अर्थ है "सह अग्रेण (फलेन सह) वर्तते" अर्थात् फल के साथ कर्म को समग्र कर्म कहा जाता है। फल के साथ उसका सकल कर्म प्रकृष्ट रूप से विलीन हो जाता है अर्थात् विनाश को प्राप्त होता है क्योंकि उसको कर्तृत्वाभिमान या फल की आसक्ति नहीं रहती है। और जो कुछ भी करता है वह ज्ञान में (परमात्मा में) अवस्थित होकर ही करता है। [उसका तत्त्वदर्शन होने के कारण उसके सकल कर्म (प्रकृष्ट रूप से अर्थात् अज्ञान रूप कारण के साथ) विलीन हो जाते हैं (नाश प्राप्त होते हैं) (मधुसूदन)]। बाद में भी भगवान् कहेंगे "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा" (गीता ४।३७)

टिप्पणी (१) श्रीधर—गतसङ्गस्य—जो आसक्तिरहित (निष्काम) है मुक्तस्य—रागद्वेष आदि से मुक्त और ज्ञानावस्थितचेतसः—ज्ञान में जिसका चित्त अवस्थित रहता है इस प्रकार के पुरुष के द्वारा यज्ञायाचरतः—

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

यज्ञ के लिए अर्थात् परमेश्वर को प्रसन्नता के लिए कर्म करनेवाले उस ज्ञानी का **समग्रं कर्म प्रविलीयते**—वासना सहित सम्पूर्ण कर्म प्रकृष्ट रूप से (भलीभाँति) विलीन (नष्ट) हो जाते हैं अर्थात् वे सब कर्म अकर्म भाव को प्राप्त होते हैं। योगारूढ़ के पक्ष में इस प्रकार अर्थ होता है—यज्ञाय (यज्ञ की रक्षा करने के लिए) अर्थात् लोकसंग्रह के लिए यदि वह कुछ कर्म करे भी ता वे कर्म अकर्म भाव को ही प्राप्त होते हैं।

(२) **शंकरानन्द**—शंका—"यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ" इस प्रकार सबको ओर अपने को प्रत्यग् दृष्टि के द्वारा सर्वदा ब्रह्मरूप से जो जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी दर्शन करते हैं उनका शरीरयात्रा रूप कर्म ब्रह्मदृष्टि से प्रविलापित होने पर (प्रकृष्ट रूप से लयप्राप्त होने पर) वह कर्म सत्ताशून्य हो जाता है। अतः वह कर्म उनकी मुक्ति में भले ही प्रतिबन्धक न हो पर यदि कोई अधिकारी पुरुष लोगों पर अनुग्रह करने की इच्छा कर कर्म में प्रवृत्त हो अथवा अन्य कोई विद्वान् पुरुष "मैं ही कर्ता हूँ" "इसके द्वारा इसे मुझे प्राप्त करना होगा" इस प्रकार क्रिया, कारक आदि भेददृष्टि का अवलम्बन कर कर्म करे तब उसके तो वह कर्म मुक्ति के प्रतिबन्धक होंगे ही (अर्थात् उस कर्म से उनकी मुक्ति रुक जायगी) क्योंकि "नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" अर्थात् भोग बिना शत-शत (सैकड़ों) कल्प व्यतीत होने पर भी कर्म का क्षय नहीं होता, इस प्रकार स्मृतिशास्त्र का नियम है।

समाधान—नहीं, ऐसी शंका ठीक नहीं है कारण महापुरुष ब्रह्मज्ञानी क्रिया, कारक आदि भेद से विभिन्न लौकिक और वैदिक जो भी कर्म करते हैं "वे सब ब्रह्म ही हैं" इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि से ही वह कर्म अनुष्ठित होता रहता है, "यह मैं कर रहा हूँ" इस प्रकार भेद दृष्टि से वह अनुष्ठित नहीं होता है। अतः उस विद्वान् द्वारा क्रिया जा रहा कर्म अकर्म ही हो जाता है। इस कारण वह कर्म उसकी मुक्ति का प्रतिबन्धक (रुकावट) नहीं हो सकता है। इस आशय से कहते हैं—

मुक्तस्य—मुक्त पुरुष के अर्थात् ब्रह्म में ही आत्मभाव प्राप्त होने पर "मैं" "मेरा" इस प्रकार के अभिनिवेश से रहित (अहंकार से रहित अर्थात् निरहंकार) पुरुष के अतएव **गतसङ्गस्य**—जिसके द्वारा पुरुष कर्म में आसक्त होता है उसे संग कहा जाता है। अतः संग शब्द का अर्थ है काम (विषय-कामना)। वही काम जिसका, गत अर्थात् नष्ट हुआ है उसे "गतसंग" (निष्काम) कहा जाता है। इस प्रकार के निरहंकार और निष्काम पुरुष के **ज्ञानावस्थितचेतसः**—ज्ञान शब्द का अर्थ सर्वत्र ब्रह्मदर्शन उस प्रकार के

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

ज्ञान में जिसका चित्त अवस्थित (पूर्णरूप से स्थित है) अर्थात् दृश्यमान पदार्थों को अवलम्बन कर चित्त में जो-जो वृत्तियाँ उठती हैं उन वृत्तियों को सदा ब्रह्माकारता जो सम्पादन करता है वही "ज्ञानावस्थितचेताः" है। इस प्रकार के पुरुष के यज्ञाय आचरतः—(क) यज्ञ के लिए अर्थात् विष्णु के लिए (सर्वव्यापी परमात्मा के लिए) जो कर्म किया जाता है अथवा (ख) श्रौत स्मार्त कर्मों द्वारा जो लोग देवताओं का यजन करते हैं उन्हें यज्ञ कहा जाता है अर्थात् ब्रह्मा, अध्वर्यु इत्यादि ब्राह्मणगण, उनके लिए जो कर्म किया जाता है (जाति अर्थ में यहाँ एकवचन प्रयुक्त हुआ है) अथवा (ग) यज्ञाय (लोकहित के लिए) आचरण (अनुष्ठान) करते हैं इस प्रकार के अधिकारी पुरुष के नित्यनियम से अनुष्ठित समग्रं कर्म—वे सब कर्म अर्थात् देह, मन और वाक्य इन तीनों कारणों से किए गए कर्म और अकर्मरूप सकल कर्म प्रविलीयते—लीन (नष्ट) हो जाते हैं (ब्रह्मबुद्धि के द्वारा प्रविलापित होकर समूल विनष्ट हो जाते हैं अर्थात् जन्म आदि फलदान करने में समर्थ नहीं होते)।

(३) नारायणी टीका—इस श्लोक में परवर्ती विशेषणों को पूर्व-पूर्व विशेषणों के कारण रूप से प्रयुक्त किया गया है यथा—

प्रश्न—ज्ञानी गतसंग (निष्काम) कैसे होता है ?

उत्तर—इस कारण कि वह मुक्त है अर्थात् धर्माधर्म आदि कर्म के अध्यास या कर्तृत्वाभिमान से रहित है।

प्रश्न—मुक्त (अर्थात् अध्यासहीन) होने का हेतु क्या है ?

उत्तर—इस कारण कि वह ज्ञानावस्थितचित्त अर्थात् स्थितप्रज्ञ है अर्थात् उसका चित्त सदा ही ज्ञानस्वरूप परमात्मा में स्थित रहता है। इस प्रकार के गतसंग, मुक्त तथा ज्ञानावस्थितचित्त पुरुष प्रारब्धवश जो कुछ यज्ञदानादि कर्म करता है उसे यज्ञ पुरुष की (परमात्मा की) प्रीति के लिए ही करता है कारण आत्मा से भिन्न दूसरी कोई वस्तु की सत्ता उसकी दृष्टि में है ही नहीं। अतः उसके वे सब कर्म फल के साथ सम्पूर्णरूप से नष्ट हो जाते हैं अर्थात् कर्म करके भी किसी प्रकार के संसारबन्धन को वह प्राप्त नहीं होता है। उसके देहेन्द्रियादि प्रकृति के वश होकर कर्म करते रहने पर भी वह निष्क्रिय, शुद्ध, मुक्त, असंग, परमात्मा में अभिन्नरूप से सदा अवस्थान करता है। इस प्रकार ब्राह्मीस्थिति या ज्ञाननिष्ठा द्वारा उसके सर्वकर्म दग्ध (भस्मसात्) हो जाते हैं (गीता ४।१९)।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

[स्मृतिशास्त्र में कहा गया है "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" अर्थात् कर्मफल के भोग विना कर्म का क्षय नहीं होता है। अतः ज्ञानी के द्वारा किये जानेवाले कर्म अपना कार्य आरम्भ किये विना ही (कुछ फल दिए विना ही) किस कारण से फलसहित विनष्ट (विलीन) हो जाते हैं ? इसी का उत्तर अब श्री भगवान् दे रहे हैं।]

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

अन्वयः—अर्पणं ब्रह्म, हविः ब्रह्म, ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्, ब्रह्मकर्मसमाधिना ब्रह्म एव गन्तव्यम् ।

अनुवाद—अर्पण ब्रह्म अर्थात् जिनके द्वारा हविः (घृत) अग्नि में प्रक्षिप्त होता है वही स्रुवादि ब्रह्म ही है। हविः अर्थात् घृत प्रभृति हवनीय द्रव्य (सामग्री) भी ब्रह्म ही है। जो हवन करते हैं वह भी ब्रह्म है। इस प्रकार से जिसका चित्त ब्रह्मरूप कर्म में समाधिस्थ (लीन) रहता है वह ब्रह्मरूप फल प्राप्त करता है।

भाष्यदीपिका—अर्पणं ब्रह्म—जिन साधनों द्वारा (अर्थात् स्रुक्, स्रुव आदि तथा मन्त्र प्रभृति के द्वारा) ब्रह्मविद् पुरुष हवनीय वस्तुओं को अग्नि में अर्पण करता है उन्हीं साधनों को वह ब्रह्मस्वरूप ही देखा करता है। कारण यह जानता है कि ब्रह्म या आत्मा के सिवाय (व्यतिरिक्त) उस वस्तु की कोई सत्ता नहीं है। शुक्ति में (सीप में) रजत (चाँदी) की प्रतीति होने पर भी वास्तव में (सीप को जाननेवाला) ज्ञानी रजत (चाँदी) का अभाव ही देखता है अर्थात् जैसा यह ज्ञानी समझता है कि जो चाँदी दीख रही है वह वास्तव में शुक्ति (सीप) ही है वैसे ही ब्रह्मविद् भी समझता है कि जो स्रुवादि पदार्थ अर्पण रूप में दीख रहे हैं वह ब्रह्म ही हैं अर्थात् वे सब मन्त्र प्रभृति अखण्डाद्वय ब्रह्म में कल्पित मात्र हैं, अतः उनकी ब्रह्मसत्ता से भिन्न दूसरी कोई सत्ता नहीं है। इस कारण तत्त्वविद् जानता है कि अर्पण और ब्रह्म एक ही है अर्थात् जिस वस्तु को साधारण व्यक्ति अर्पण बुद्धि से ग्रहण करता है ब्रह्मविद् उस स्रुक्, स्रुव आदि पदार्थ को ब्रह्मबुद्धि से ग्रहण करता है—यही तात्पर्य है। ब्रह्म और अर्पण, इन दो पदों का समास नहीं किया गया है अर्थात् ये दोनों पृथक्-पृथक् पद हैं। [अर्पण शब्द की विभिन्न व्युत्पत्ति के अनुसार विभिन्न अर्थ हो सकते हैं]—

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

(क) करण वाच्य अर्पण—जिसके द्वारा अर्पित होता है वही अर्पण है यथा—स्रुक् स्रुवादि।

(ख) सम्प्रदान वाच्य अर्पण—जिसको अर्पण किया जाता है वह अर्पण है यथा—इष्ट देवता।

(ग) अधिकरण वाच्य अर्पण—जिसमें (जिस देश में या जिस काल में) अर्पित होता है वह अर्पण है।

इसमें से करणवाच्य अर्पण अधिकतर समीचीन प्रतीत होता है। इसलिए उसे ही ग्रहण कर श्लोक का अर्थ किया गया है। विश्वप्रपञ्च रज्जु में सर्प के समान ब्रह्म में कल्पित होने के कारण उसकी ब्रह्मरूप अधिष्ठान सत्ता से अन्य कोई पृथक् सत्ता रहना असम्भव है। अतः यज्ञ में स्रुक्, स्रुवादि रूप अर्पण भी नामरूप आदि की दृष्टि से कल्पित होने के कारण वे सब असत् (मिथ्या) है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से उनकी सत्ता अधिष्ठान की सत्ता से पृथक् न होने के कारण वे सब सद्ब्रह्म ही हैं (मधुसूदन)।]

हविः ब्रह्म—[यज्ञ में त्याग और प्रक्षेपक्रिया की साक्षात् कर्मकारक स्वरूप जो हवनीय वस्तु है अर्थात् जिस वस्तु का देवता के उद्देश्य से अग्नि में प्रक्षेप किया जाता है उसे हविः कहा जाता है (मधुसूदन)]। जिस वस्तु को हविरूप से ग्रहण किया जाता है वह ही ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि में ब्रह्म होता है। ब्रह्माग्नौ—जिस अग्नि में हवि (हवनीय द्रव्य) प्रक्षिप्त होता है (हवन किया जाता है) वह भी ज्ञानी की दृष्टि में ब्रह्म ही है। "ब्रह्माग्नौ" यह एक समस्त पद अर्थात् समासयुक्त पद है। ब्रह्मणा—इस प्रकार जो कर्ता हवन किया करता है वह कर्ता भी ब्रह्म ही है। [मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि यजमान या अध्वर्य्यु दोनों ही यज्ञ के कर्ता हैं। यजमान "इदं न मम" (यह मेरा नहीं है) यह कहकर द्रव्य का अधिकार त्याग करता है और अध्वर्य्यु वह मन्त्रादि के साथ अग्नि में प्रत्तेप करता है। ब्रह्मविद् पुरुष की दृष्टि में वे दोनों ही ब्रह्मस्वरूप हैं। यह ही कहने का अभिप्राय है। "ब्रह्मणा" इस प्रकार कहने से तृतीयाविभक्ति के द्वारा कर्तृकारक का अनुवाद कर अर्थात् प्रयोज्य-कर्ता अध्वर्य्यु और प्रयोजककर्ता यजमान—इन दोनों का उल्लेख कर इन्हें ब्रह्मस्वरूप कहा गया है]।

हुतम्—वह उस ब्रह्मरूप कर्ता द्वारा जो हवनरूप क्रिया की जाती है वह क्रिया भी ब्रह्म है [अर्थात् यजमान हवन से जो त्याग रूप क्रिया करता है और अध्वर्य्यु जो प्रत्तेप रूप क्रिया करता है वे दोनों ही ब्रह्म है (मधुसूदन)]।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

ते ब्रह्मकर्मसमाधिना ब्रह्म एव गन्तव्यम्—ब्रह्मकर्म में अर्थात् कर्म मात्र ब्रह्म ही है (दर्शन, स्पर्शन, श्रवणादि सर्व कर्म ब्रह्ममात्र ही है) इस प्रकार सर्व कर्म में ब्रह्मदृष्टि को 'ब्रह्म कर्म' कहा जाता है। ब्रह्मकर्म से (अर्थात् सर्व कर्म में एकमात्र ब्रह्मसत्ता के दर्शन से) जिसकी समाधि (चित्त को निश्चलता) होती है (अर्थात् जो ज्ञाननिष्ठ है) उसको ब्रह्मकर्म-समाधि कहा जाता है। [उस प्रकार के ब्रह्मनिष्ठ पुरुष द्वारा कोई कर्म अनुष्ठित होते रहने पर भी (मधुसूदन)] उस पुरुष द्वारा प्राप्त किए जाने योग्य जो फल है वह भी ब्रह्म ही है [यहाँ "गन्तव्य" शब्द को "प्राप्तव्य फल" अर्थ में भाष्यकार ने लिया है]। [ब्रह्म एव गन्तव्यम्—वाक्य का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मरूप कर्म में जिसके चित्त का समाधान हो चुका है वह पुरुष परमानन्द स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म को ही अभिन्न रूप से प्राप्त होता है अर्थात् "मैं ब्रह्म ही हूँ" इस प्रकार से वह आत्मसाक्षात्कार करता है। लोक-संग्रह के अभिप्राय से ब्रह्मवेत्ता जो कर्म करता है वह सब परमार्थतः अकर्म हा हाते हैं। कारण सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि रहने से उन कर्मों की फल-उत्पादनी शक्ति विनष्ट हो जाती है। "गन्तव्यम्" पद का इस स्थान पर औपचारिक प्रयोग हुआ है अर्थात् इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्मस्वरूपता किसी अप्राप्त वस्तु की तरह प्राप्त किए जाने योग्य है कारण ब्रह्म नित्यप्राप्त है। केवल अज्ञानरूप आवरण से आवृत्त रहने के कारण वह प्रकाशित नहीं हो पाता। उस आवरण के क्षय होने पर नित्यप्राप्त ब्रह्म प्रकाशित होता है। अतः यहाँ राहु के सिर की तरह "गन्तव्य" (अर्थात् प्राप्तव्य) शब्द का गौण भाव से (औपचारिक भाव से) प्रयोग हुआ है। रज्जु में भ्रान्तिवश सर्प, दण्ड, जलधारा प्रभृति जो-जो सब वस्तुएँ कल्पित होती हैं रज्जु के संबंध में यथार्थ ज्ञान होने पर वे सब नष्ट हो जाती हैं। उसी प्रकार ब्रह्मविषयक अज्ञानता के कारण (भ्रान्तिवश) क्रिया कारकादि (अर्थात् मैं कर्ता हूँ, यह मेरा कर्म है, यह मेरा कारण है, अर्थात् इसके द्वारा मैं कर्म करूँगा इत्यादि,) कल्पित व्यवहार चलता रहता है। ये सब व्यवहार जब ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान द्वारा नष्ट होते हैं तब बाधितानुवृत्या (अर्थात् प्रारब्ध कर्म प्रवाह में क्रियाकारक आदि मिथ्या व्यवहार दिखलाई पड़ने पर भी) दग्ध वस्त्र में जिस प्रकार वस्तु का आकार मात्र प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में उसके द्वारा वस्त्र का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान का उदय होने पर क्रिया कारक आदि व्यवहार बाधित हो जाते हैं किन्तु कुछ दिन तक वह चलते रहने पर भी कोई फल उत्पादन करने में समर्थ नहीं होते हैं कारण ब्रह्मवेत्ता की सर्वत्र और

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

सर्वकर्म में ब्रह्मदृष्टि ही रहती है। इस श्लोक में जो यज्ञ के बारे में कहा गया है वह ब्रह्मवेत्ता के सर्वकर्म को उपलक्षित कर रहा है। ब्रह्मनिष्ठ पुरुष द्वारा लोकसंग्रह के निमित्त कोई कार्य करने पर भी स्वर्ग प्रभृति रूप तुच्छ फल-प्राप्ति उसको नहीं होती है। वस्तुतः ब्रह्मविद् की विद्या के प्रभाव से मूल अविद्या के साथ समस्त अविद्या-कल्पित क्रियाकारक आदि व्यवहार का भी उच्छेद हो जाता है। वार्तिककार ने इसीलिए कहा है "कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते। शुद्धे वस्तुनि सिद्धे च कारकव्याप्तृतिः कुतः" अर्थात् जब तक कारक (कर्ता, कर्म, करण इत्यादि व्यवहार रहता है अर्थात् "मैं कर्ता हूँ, यह मेरा करणीय कर्म है" इत्यादि) रूप भाव रहता है तब तक शुद्ध वस्तु दिखाई नहीं पड़ती है। फिर जब शुद्ध वस्तु सिद्ध होती है अर्थात् अद्वैतात्मा का साक्षात्कार होता है तब कारक का व्यवहार किस प्रकार रह सकता है ?] इसलिए जो कर्म से निवृत्त हुआ है उस सर्व कर्म संन्यासी के सम्यक् दर्शन की स्तुति के लिए उसके ब्रह्मज्ञान की यज्ञरूप से स्तुति की गई है। साधारण लौकिक व्यवहार के अधियज्ञ में (यज्ञ प्रकरण में) अर्पणादि शब्दों से जो सब स्रुवादि वस्तु प्रसिद्ध हैं वे सभी परमार्थदर्शी के निकट अध्यात्म ब्रह्म ही है अर्थात् सब प्राणियों के आत्मस्वरूप जो ब्रह्म है उससे वे सब वस्तु भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार के अर्थ न मानने पर सब कुछ ही जब ब्रह्म है तब अर्पणादि को (स्रुवादि को) विशेष रूप से ब्रह्म कहकर वर्णन करने का कोई तात्पर्य नहीं रहता है। "यह सब विश्व प्रपंच ब्रह्म के सिवा और कुछ भी नहीं है", इस प्रकार का ज्ञान जिसको हुआ है उस विद्वान् यति को ही वस्तुतः सर्व कर्मों का अभाव हो जाता है अर्थात् देहेन्द्रियों के द्वारा कर्म करने पर भी उसका कोई कर्म नहीं होता, कारण उसका कर्ता, करण, सम्प्रदान प्रभृति कारक बुद्धि नहीं रहती है और कारक बुद्धि न रहने पर (अर्थात् कर्ता, कर्म, करण इत्यादि भेदबुद्धि न रहने पर) यज्ञ नामक विशेष कर्म सम्पन्न नहीं हो सकता है। अग्निहोत्र आदि सकल विहित कर्म का स्वरूप यह है कि "इन्द्राय वरुणाय" इत्यादि शब्द द्वारा जिन-जिन देवता-विशेष को हवि आदि द्रव्य सम्प्रदान (अर्पण) करना होगा उनके ज्ञान और हवनीय सकल द्रव्य के ज्ञान और अन्यान्य करण, अधिकरण इत्यादि कारकों का ज्ञान कर्मकर्ता को रहता है और इसके सिवा यज्ञकर्ता को कर्तृत्वाभिमान और फल की अभिसन्धि (कर्मफल भोग की आकांक्षा) भी रहती है, ऐसा देखा गया है। जिसमें ये सब हैं वही यज्ञादि कर्म तथा अन्यान्य कर्मों का अनुष्ठान कर सकता है। ब्रह्मज्ञान द्वारा "यह क्रिया है, यह कारक है, और यह फल है" इस प्रकार की भेदबुद्धि तिरोहित (नष्ट) हो जाने पर तथा कर्तृत्वाभिमान

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

और फलाकांक्षा से रहित होने पर यज्ञ नामक कोई विशेष कर्म सम्पन्न नहीं हो सकता है। सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि रखकर ब्रह्मज्ञानी यति देहेन्द्रियों के द्वारा जो कुछ भी करे वे सब कर्म वास्तव में सुषुप्त (निद्रागत) व्यक्ति की चेष्टा के समान अकर्म ही हो जाते हैं, कारण इस प्रकार समबुद्धि होने पर अर्पणादि कारक, क्रिया और यज्ञ के फल (स्वर्गप्राप्ति) इत्यादि के संबंध में भेदबुद्धि नष्ट हो जाती है। "कर्मण्यकर्म यः पश्येत्" (गीता ४।१८) (अर्थात् जो व्यक्ति कर्म में अकर्म देख पाता है) "कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः" (गीता ४।२०) (अर्थात् कर्म में अभिप्रवृत्त होकर भी वह कुछ नहीं करता है) "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" (गीता ३।२८) अर्थात् गुण सकल गुण में ही प्रवृत्त होता है, "नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्वविद्" (गीता ४।८) अर्थात् तत्ववेत्ता यह समझता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ, इत्यादि श्लोक के द्वारा यही (अर्थात् तत्त्वज्ञानी के देहेन्द्रियादि के द्वारा कर्म होते रहने पर भी वे अकर्म ही होते हैं यही) स्थान-स्थान पर श्रीभगवान् ने दिखाया और उसकी क्रिया, कारक और फल के संबंध में भेद-बुद्धि नहीं रहती है वह भी कहा गया है। काम्य (सकाम) अग्निहोत्र प्रभृति यज्ञ में कामना की निवृत्ति होने पर वही काम्य कर्म की भी (अग्निहोत्रादि की भी) निवृत्ति होती है। वे अग्निहोत्रादि सकाम नहीं रहते अर्थात् उनकी सकामता नष्ट हो जाती है। अज्ञानपूर्वक अर्थात् फलाभिसन्धानपूर्वक जो कर्म किया जाता है और ज्ञानपूर्वक अर्थात् फलाकांक्षारहित होकर (निष्काम होकर) जो कर्म किया जाता है वे भिन्न-भिन्न कर्मों के आरम्भक होते हैं अर्थात् उनका फल अलग-अलग होता है। इस कारण यहाँ भी जिस पुरुष को सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि हो जाने से अर्पणादि रूप कारक, हवनीय द्रव्य की प्रक्षेपादि रूप क्रिया और स्वर्गादि फल संबंधी भेदबुद्धि नष्ट हो गयी है उस विद्वान् के बाहरी चेष्टामात्र से होनेवाले कर्म भी पाप या पुण्य के हेतु न होकर वास्तव में अकर्म ही हो जाते हैं। इसी कारण से पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है—"समग्रं प्रविलीयते" अर्थात् उसके फलसहित सकल कर्म प्रकृष्टरूप से विलीन (नष्ट) हो जाते हैं। इस श्लोक की व्याख्या के प्रसंग में कोई-कोई टीकाकार कहते हैं कि जो ब्रह्म वही स्रुव आदि हैं अर्थात् ब्रह्म ही पंचविध कारक के रूप में (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान और अधिकरण के रूप में) स्थित है और वही स्थित अर्पणादि कर्म करता है। (उनके सिद्धान्तानुसार) उपर्युक्त यज्ञ में स्रुव आदि बुद्धि निवृत्त नहीं की जाती किन्तु जिस प्रकार प्रतिमा में (मूर्त्ति में) विष्णु आदि देवबुद्धि अथवा नाम आदि में ब्रह्मबुद्धि की

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

जाती है अर्थात् नाम को ब्रह्म के रूप से उपासना करो इत्यादि वाक्य में जिस प्रकार नामादि का स्वरूप त्याग न करके उनमें ब्रह्मदृष्टि रखकर सम्पत् उपासना का विधान है, यहाँ उसी प्रकार अर्पणादि के (अर्पण, हविः, अग्नि, होता इत्यादि के) स्वरूप का त्याग न कर अर्पणादि में (विशेष फलप्राप्ति के लिए) ब्रह्मबुद्धि स्थापित की जाती है अर्थात् उनमें ब्रह्मदृष्टि से "वे सब ब्रह्म ही हैं" इस प्रकार की सम्पत् उपासना के लिए उपदेश किया गया है। किन्तु यह ठीक नहीं है कारण—(क) यह सत्य है कि यदि ज्ञानयज्ञ की स्तुति का प्रकरण न होता तो फिर इस प्रकार का अर्थ भी हो सकता था। परन्तु इस अध्याय में यज्ञ नाम से कथित पृथक्-पृथक् अनेक क्रियाभेद उल्लेख कर बाद में द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है इत्यादि वाक्य द्वारा (गीता ४।३३) ज्ञान यज्ञ शब्द के द्वारा कथित सम्यग् दर्शन की ही स्तुति की गई है। इस अध्याय में "ब्रह्मार्पणम्" इत्यादि वचन ज्ञान को यज्ञ रूप से सम्पादन करने में समर्थ भी है। इस प्रकार (अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मदर्शनरूप ज्ञान से सर्व यज्ञादि कर्म सम्पन्न हो सकता है इस प्रकार) कहने से सम्यग्ज्ञान की ही स्तुति की गई है। यदि ऐसा उद्देश्य न होता तो फिर सर्ववस्तु में साधारण रूप से ब्रह्म सदा ही विद्यमान रहने पर भी श्लोक में जो अर्पणादि कोई वस्तु-विशेष का ब्रह्मत्व प्रतिपादन किया गया है वह अनर्थक (व्यर्थ) होता। जो कहते हैं कि प्रतिमा (मूर्त्ति) में विष्णुबुद्धि की तरह अथवा नाम में ब्रह्म-बुद्धि की तरह यहाँ भी अर्पणादि में ब्रह्मबुद्धि आरोपित हुई है, उनलोगों के मत में यहाँ ब्रह्मविद्या विवक्षित (अर्थात् कहने का विषय) नहीं है, कारण (उनकी दृष्टि से) यहाँ ज्ञान के विषय है "अर्पणादि" अर्थात् स्रुवादि यज्ञ की सामग्री ही है—ब्रह्म नहीं है [कहने का अभिप्राय यह है कि अर्पणादि अद्वैत विषयक नहीं है,—द्वैत विषयक है। किन्तु यह ब्रह्मविद्या का प्रकरण है क्योंकि उपक्रम और उपसंहार द्वारा ऐसा ही स्पष्ट प्रतिपन्न होता है। अतः जो कहते हैं कि यहाँ पर सम्पत् उपासना का ही विधान दिया गया है उनके मत से उपक्रम और उपसंहार के सहित विरोध रहने पर वह ग्राह्य (गृहणीय) नहीं हो सकता है। (ख) फिर इस प्रकार (अर्पणादि में) केवल ब्रह्मदृष्टि सम्पादन रूप ज्ञान द्वारा मोक्षरूप फल नहीं मिल सकता किन्तु यहाँ यह कहा गया है कि "ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्" (उसके द्वारा प्राप्त किया जानेवाला फल ब्रह्म ही है)। किन्तु विना सम्यग्दर्शन के मोक्षरूप फल मिलता है ऐसा कहना सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है। अपरन्तु जो प्रकृत विषय है (जिसके संबंध में प्रसंग आरम्भ हुआ है) उसके साथ भी विरोध होगा। यहाँ पर सम्यग्

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

दर्शन ही प्रकृत विषय (प्रकरण) है। इस प्रकार से "कर्मण्यकर्म यः पश्येत्" इत्यादि श्लोक में (गीता ४।१८) इस सम्यग् दर्शन को आरम्भ कर अध्याय के अन्त में वही सम्यग् दर्शन का ही उपसंहार किया गया है। द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है (गीता ४।३३), ज्ञान लाभ करके परम शान्तिलाभ करते हैं (गीता ४।३९) इत्यादि वाक्यों से ज्ञान की ही स्तुति करते हुए ही इस अध्याय की परिसमाप्ति की गई, ऐसी अवस्था में प्रकरण न रहने पर भी अकस्मात् मूर्त्ति में विष्णुदृष्टि की तरह अर्पणादि में (स्रुवादि में) ब्रह्मदृष्टि का विधान किया गया है—ऐसा बतलाना युक्तियुक्त नहीं। [इस श्लोक का प्रतिपाद्य विषय सम्पदुपासना नहीं है] अतः हमारे द्वारा जैसी व्याख्या की गई है वही समीचीन (ठीक) है। [भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि ज्ञान की स्तुति करना ही इस श्लोक का उद्देश्य है। सर्वप्रकार की भेद-बुद्धि नष्ट हो जाने से ज्ञानी की क्रिया और कारकादि सब ही ब्रह्मरूप से अनुभूत होते रहते हैं और इस प्रकार के ब्रह्मकर्मरूप समाधि द्वारा अन्त में वह ब्रह्म को ही प्राप्त होता है। प्रतिमा (मूर्त्ति) में विष्णुबुद्धि कर सम्पदुपासना की तरह यहाँ पर अर्पणादि में (अर्थात् यज्ञ सामग्रियों में) ब्रह्मबुद्धि करने का विधान नहीं दिया गया है—कारण प्रथमतः इस प्रकार की व्याख्या प्रकरणविरुद्ध होगी और द्वितीयतः इस प्रकार की सम्पदुपासना द्वारा ब्रह्मत्व-प्राप्ति या मोक्षलाभ नहीं हो सकता है]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[आरुरुक्षु के लिये परमेश्वर की आराधना रूप कर्म ज्ञान का हेतु होने के कारण उससे संसारबन्धन नहीं होता है। इसलिए वह कर्म अकर्म ही है। योगारूढावस्था में "आत्मा अकर्ता है" इस प्रकार के ज्ञान द्वारा कर्म और कर्मफल बाधित होने के कारण स्वाभाविक कर्म भी अकर्म हो जाता है। "कर्मण्यकर्म यः पश्येत्" (गीता ४।१८) इस श्लोक के द्वारा ज्ञानी के कर्म करने पर भी उस कर्म का प्रकृष्ट रूप से विलय होता है वही श्रीभगवान् ने वर्णन किया है। अब कर्म और कर्मांगों में ब्रह्म ही अनुस्यूत (अधिष्ठानरूप से व्याप्त) है, ऐसा दर्शन करनेवाले के कर्म का प्रविलय होता है—यही बताते हैं] ब्रह्मार्पणम्—जिसके द्वारा (यज्ञ में हवि अर्थात् घृतादि) अर्पित होता है उसे अर्पण कहा जाता है अर्थात् स्रुवादि। वे स्रुवादि ब्रह्म ही हैं ब्रह्म हविः—अग्नि में अर्पण की जानेवाली घृतादि हवि भी ब्रह्म ही है ब्रह्माग्नौ—जिस अग्नि में अर्पण किया जाता है वह अग्नि भी ब्रह्म ही है। उस अग्नि में जिस ब्रह्मरूप कर्ता द्वारा ब्रह्मणा हुतम्—घृतादि हवन क्रिया की जाती है वह कर्ता भी ब्रह्म है। भाव यह है कि होम, अग्नि, कर्ता,

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

और क्रिया सब कुछ ब्रह्म ही है। **ब्रह्मकर्मसमाधिना**—इस प्रकार कर्मरूप ब्रह्म में जिसके चित्त को एकाग्रता रूप समाधि है अर्थात् चित्त की एकाग्रता (सर्वदा) रहती है, उसके द्वारा **ब्रह्मैव गन्तव्यम्**—ब्रह्म ही प्राप्य है अर्थात् वह ब्रह्म को ही (सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा को ही) प्राप्त होता है; दूसरा कोई कर्मफल नहीं मिलता है अर्थात् मोक्ष के सिवाय दूसरा कोई कर्मफल उसके कर्म द्वारा प्राप्त नहीं होता है।

(२) **शंकरानन्द**—किस प्रकार से ब्रह्मबुद्धि द्वारा सकल कर्म का प्रविलापन (लय) होता है वही कहा जा रहा है। **ब्रह्मार्पणम्**—जिससे यज्ञ में हवि का अर्पण किया जाता है उसे अर्पण कहते हैं यथा-चमस्, स्रुक्, स्रुवादि—ये सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार प्रत्यग् दृष्टि से (शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा के रूप से) ब्रह्मज्ञानी देखता है। मूढ़दृष्टि से जो रजत (चाँदी) है विवेक दृष्टि से वह जिस प्रकार शुक्ति (सीप) है, उसी प्रकार अज्ञानी की दृष्टि से जो चमस् आदि यज्ञ के साधन हैं, वही ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि से ब्रह्म ही है।

ब्रह्म हविः—इस प्रकार से यज्ञ के लिए जो हवि (हवि, चरु, पुरोडाश आदि होम करने योग्य द्रव्य) है, ये सब ब्रह्म ही हैं ऐसा ब्रह्मज्ञानी देखता है। **ब्रह्मणा**—ब्रह्म द्वारा अर्थात् होम के कर्ता द्वारा। होमकर्ता भी ब्रह्म ही है। इसलिए यजमान रूप में विद्यमान अपने को ब्रह्मविद् ब्रह्म ही जानते हैं। **ब्रह्माग्नौ हुतम्**—ब्रह्म ही अग्नि है अर्थात् ब्रह्मविद् होम के अधिकरण भी ब्रह्म ही है, ऐसा दर्शन करता है। उसी ब्रह्माग्नि में जो कुछ हुत हुआ है अर्थात् हवन क्रिया हुई है उस क्रिया को भी ब्रह्म के रूप में ही देखता है। इस प्रकार **ब्रह्मकर्मसमाधिना**—सकल वस्तु में जो ब्रह्ममात्रत्व दर्शन है यह ब्रह्म कर्म है उसी ब्रह्म कर्म में समाधि (चित्त का स्थापन) जिसका है वह ब्रह्मकर्मसमाधि है। उस ब्रह्मकर्मसमाधि का अर्थात् 'सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार दर्शनकारी ब्रह्मज्ञानी का **ब्रह्म एव गन्तव्यम्**—जो गन्तव्य है [अर्थात् इस प्रकार के दर्शन के फलरूप से "यही मैं हूँ" इस प्रकार जो प्राप्तव्य है] वह भी ब्रह्म ही है। इस प्रकार लोकहित के लिए प्रवृत्त अधिकारी ब्रह्मज्ञानी के भी साधन सहित सब कर्म ब्रह्मवृत्ति द्वारा ब्रह्ममात्र रूप से प्रविलापित होने के कारण स्वयं निःसत्त्व होने से अकर्म ही हो जाते हैं, अतः यह बन्धन का हेतु नहीं होता है, यही सिद्ध हुआ। चलनात्मिका प्रवृत्ति का निरोध करना (रोकना) दुष्कर है। अतः विवेकी विद्वान् को भी यदि करने योग्य कर्म स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो तब व्यर्थ व्यावृत्ति की अपेक्षा (अर्थात्

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

उस कर्म की प्रवृत्ति को निरोध करने की वृथा चेष्टा की अपेक्षा) उस प्रकार के वैदिक (वेदसम्मत) कर्मों में प्रवृत्ति अपने भूषण (शोभा) के लिए, मन के हर्ष (आनन्द) के लिए, लोक के हित के लिए एवं अन्त में बन्धन के अभाव अर्थात् मुक्ति के लिए होती है। अतः उस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि से सदाचारी ब्रह्मज्ञानियों को स्वतःप्राप्त कर्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए, यही सूचित किया गया है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में कहा गया है कि ज्ञानी यज्ञ के लिए जो कर्म अनुष्ठान करता है उसका वह कर्म फलसहित नष्ट हो जाता है। कैसे ज्ञानी का कर्म नष्ट होता है अर्थात् कैसे उसका कर्म संसार बन्धन का हेतु न होकर ब्रह्म-प्राप्ति (अर्थात् मोक्षलाभ) का हेतु होता है, यही वर्तमान श्लोक में कहा जा रहा है। यज्ञ दो प्रकार के हैं—द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ। स्रुवादि यज्ञपात्रों के द्वारा और जुहु आदि मन्त्रों के द्वारा हवन को सामग्री (घृत प्रभृति) अर्पित होती है। इस कारण उन्हें अर्पण कहा जाता है। वे सब घृतादि वस्तुएँ जो देवता के उद्देश्य से आहुत होती हैं उन्हें हवि कहा जाता है। द्रव्ययज्ञ के लिए मन्त्रादि अर्पण, घृतादि हवि, अग्नि, होता (अध्वर्यु, यजमान) और हवन रूप क्रिया के प्रयोजन होते हैं। द्रव्ययज्ञ में पृथक् पृथक् उपकरण की भेदबुद्धि रहती है और कर्म में कर्तृत्वाभिमान भी रहता है। यह भेदबुद्धि और कर्तृत्वाभिमान अज्ञान से उत्पन्न होते हैं और इसी कारण से द्रव्ययज्ञ फल उत्पादन कर संसार-बन्धन के हेतु होते हैं किन्तु वही द्रव्ययज्ञ यदि फलाकांक्षारहित होकर ईश्वरार्पणबुद्धि से अनुष्ठित हो तो फिर वह चित्तशुद्धि उत्पादन कर ज्ञानरूप फल प्रसव करता है और यदि उस द्रव्ययज्ञ के सकल उपकरणों में और कारक में (कर्ता, कर्म, करण प्रभृति में) एक ब्रह्मसत्ता को ही अनुभव कर यज्ञादि कर्म अनुष्ठित किया जाय तो फिर वही द्रव्ययज्ञ ज्ञानयज्ञ में परिणत हो जाता है। कर्म करते हुए ब्रह्मचिन्तन रूप जो उपासना होती है यह तीन प्रकार की है—

(१) (अंगाववद्ध उपासना—अर्पण, हवि, अग्नि, होता (यजमान इत्यादि) हवन रूप क्रिया इत्यादि में (यज्ञ के प्रत्येक अंग को) ब्रह्मरूप से भावना करना अंगाववद्ध उपासना है। (२) प्रतीक उपासना—अथवा (सम्प-दुपासना) विष्णु प्रभृति मूर्ति में ब्रह्म भावना की तरह यज्ञकर्म में जिस मन से जप, ध्यान आदि क्रिया की जाती है उस मन को ब्रह्म रूप से भावना (चिन्ता) करने को प्रतीक उपासना कहा जाता है। (३) अहंग्रह उपासना—अहं (मैं)

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

ब्रह्म और यज्ञादि सभी वस्तु मैं ही हूँ इस प्रकार भावना (चिन्ता) करने को अहंग्रह उपासना कहा जाता है।

ज्ञानयज्ञ मोक्ष का कारण होता है। सम्यक् दर्शन विना मोक्षलाभ नहीं होता है और इस अध्याय में सम्यग् दर्शन लाभ कर किस प्रकार संसार बन्धन से मुक्ति हो सकती है, वही पूर्व श्लोकों में कहा गया है। वर्तमान श्लोक में भी कहा गया है–"ब्रह्म एव तेन गन्तव्यम्" अर्थात् वह ब्रह्म को प्राप्त होता है इससे प्रतिपादित होता है कि प्रतीक-उपासना या सम्पदुपासना इस श्लोक में विहित नहीं हुई है कारण उसके द्वारा ब्रह्मप्राप्ति का (अर्थात् ब्रह्म-स्वरूपता लाभ करने का) साक्षात् हेतु जो सम्यग् दर्शन है वह प्राप्त नहीं हो सकता। सभी कर्मों को ब्रह्मरूप में दर्शन करने को ब्रह्मकर्म कहा जाता है। इस प्रकार ब्रह्म कर्म में मन को स्थिरता प्राप्त होने से मुमुक्षु को "ब्रह्मकर्म-समाधि" कहा जाता है। "ब्रह्मकर्मसमाधि" पुरुष को ही पारमार्थिक ज्ञान अथवा सम्यग् दर्शन होता है। इस ज्ञान में स्थिति (अर्थात् ज्ञाननिष्ठा) होने पर जीव ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है यही यहाँ कहने का अभिप्राय है। इस कारण वाद में भी श्री भगवान् कहेंगे कि द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है (गीता ४।३३)।

["ब्रह्म-अर्पणम्" इत्यादि मन्त्र द्वारा पूर्व श्लोक में सम्यग् दर्शन को (तत्त्वज्ञान को) यज्ञरूप में सम्पादन (प्रतिपादन) किया गया है। उसी सम्यग् दर्शन की ही प्रशंसा करने के लिए अन्यान्य यज्ञ का भी प्रस्ताव (उल्लेख) किया जा रहा है]

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।। २५ ।।

अन्वयः—अपरे योगिनः दैवम् एव यज्ञं पर्युपासते। अपरे ब्रह्माग्नौ यज्ञम् यज्ञेन एव उपजुह्वति।

अनुवाद—ब्रह्मज्ञानहीन कर्मयोग के अधिकारी अपर योगिगण देवगणों की प्रीति के लिए (अग्निष्टोमादि) देवयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। ब्रह्मविद्गण ब्रह्मरूप अग्नि में अपने को यज्ञ रूप से हवन करते हैं अर्थात् भेद-बुद्धि त्याग कर आत्मा और ब्रह्म एक ही है इस प्रकार भावना करते रहते हैं।

भाष्यदीपिका—अपरे योगिनः—अन्यान्य (दूसरे) कर्म योगिगण ने दैवम् एव यज्ञम्—इन्द्रादि देवगणों को जिस यज्ञ के द्वारा पूजन किया है उस दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोमादि रूप यज्ञ को दैवयज्ञ कहा जाता है। ["एव"

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

शब्द द्वारा इन्द्रादि देवगणों की ही (भेदबुद्धि से) यज्ञ द्वारा पूजा करते हैं अर्थात् उस प्रकार यज्ञादि कर्म में इन्द्रादि में ब्रह्मबुद्धि नहीं रहती है यही कहा गया (श्रीधर)।] इस प्रकार के देवयज्ञ को पर्युपासते—परितः अर्थात् सर्वतोभाव से (सर्वदा) उपासते अर्थात् पूजन करते रहते हैं किन्तु वे ज्ञान यज्ञ का अनुष्ठान नहीं करते हैं)। इस प्रकार यज्ञ कर्म योग का विषय होने के कारण उसके फलस्वरूप चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञान लाभ कर ज्ञान यज्ञ का अधिकारी होने पर वह योगी क्या करता है वही अब कहा जा रहा है

अपरे—पूर्वोक्त कर्मयोगी से विलक्षण ब्रह्मविद् पुरुषगण ब्रह्माग्नौ—ब्रह्माग्नि में "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २।१), "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृह० उ० ३।९।२८) "यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" "य आत्मा सर्वान्तरः" (बृह० उ० ३।४।१) अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त स्वरूप है, विज्ञान और आनन्द ही ब्रह्म के स्वरूप हैं, जो साक्षात् प्रत्यक्ष हैं, जो सर्वान्तर आत्मा है वही ब्रह्म है, इत्यादि श्रुतिवाक्यों में जिसका वर्णन किया गया है, जो भूख-प्यास आदि सकल प्रकार के सांसारिक धर्मों से रहित है। नेति-नेति (ऐसा नहीं, ऐसा नहीं) इत्यादि वाक्यों द्वारा जिसमें सब विशेषण निरस्त हुए हैं अर्थात् जो सब विशेषणों से परे (अतीत) है, वह ब्रह्मशब्द से कहा गया है अर्थात् उसको ही ब्रह्म कहा गया है। यह ब्रह्म ही अग्नि है अर्थात् होम का अधिकरण या आश्रय बतलाने के लिए ब्रह्म ही अग्नि रूप में प्रतिपादित हुआ है। इस ब्रह्मरूप अग्नि में अपरे—अन्य ब्रह्मवेत्ताज्ञानी यज्ञं यज्ञेनैव उपजुह्वति—यज्ञ शब्द का अर्थ है।—जीवात्मा अर्थात् जो वास्तव में परब्रह्मस्वरूप होकर भी बुद्धि प्रभृति उपाधियों से युक्त रहने के कारण (तादात्म्याभिमान रहने के कारण) सांसारिक सुखत्व, दुःखत्व इत्यादि सर्वोपाधिधर्म अपने में अध्यस्त (आरोपित) कर उन सब कर्मों से विशिष्ट प्रतीत होता है वही आत्मा (जीव) ही यहाँ पर "यज्ञ" शब्द द्वारा प्रतिपादित हो रहा है कारण श्रुति में आत्मा के नामों में यज्ञ शब्द का पाठ देखा जाता है। संसारधर्मरूप-उपाधिविशिष्ट आत्मा को (अपने को) सर्वउपाधिरहित परब्रह्मस्वरूप से जो दर्शन (साक्षात्) करता है वही ब्रह्माग्नि में (परमात्मा में) यज्ञ द्वारा (जीवात्मा द्वारा) यज्ञ को (जीवात्मा को) हवन (प्रक्षेप) करता है। जो संन्यासी लोग ब्रह्म और आत्मा के एकत्वज्ञान में स्थित रहते हैं वे ऐसा हवन किया करते हैं। अतः "यज्ञं यज्ञेन एव उपजुह्वति" वाक्य का अर्थ ऐसा होगा—यज्ञम्—[निरुपाधिक परमात्मस्वरूप होकर भी जो बुद्ध्यादि उपाधिविशिष्ट होकर सोपाधिक हुआ है वही जीव अपने को] यज्ञेन एव—अपने द्वारा

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अर्थात् उक्त सर्वधर्मउपाधिविशिष्ट जीव अपने द्वारा (स्वेच्छा से) [इत्थंम्भूत लक्षणे तृतीया] निर्विशेष परमात्मस्वरूप के साथ एकत्वदर्शन द्वारा (अपने को निर्विशेषब्रह्म से अभिन्न अनुभव कर) ब्रह्माग्नौ उपजुह्वति—ब्रह्माग्नि में (अखण्डाद्वय ब्रह्म में) आहुतिदान करता है अर्थात् अग्नि में जो कुछ आहुति दी जाती है वह जिस प्रकार अग्नि ही बन जाती है, उसी प्रकार जीवात्मा को ब्रह्माग्नि में आहुति देने से वह जीवत्वभाव परित्याग कर ब्रह्म ही हो जाता है।

देवयज्ञ प्रभृति (गौण) यज्ञ में ब्रह्मार्पणम् इत्यादि श्लोक के द्वारा ज्ञान-यज्ञ की प्रशंसा के लिए सम्यग्दर्शनरूप (मुख्य) यज्ञ का वर्णन किया गया है, कारण बाद में भी "श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः" (गीता ४।३३) इत्यादि श्लोक द्वारा ज्ञानयज्ञ का ही श्रेष्ठत्व प्रतिपादन कर स्तुति की गयी है। [अथवा यज्ञम्—प्रत्यगात्मा अर्थात् "त्वम्" पदार्थ को निरुक्तिकार के मत से आत्मा का दूसरा नाम यज्ञ है] यज्ञेनैव—यज्ञ या आत्मा शब्द द्वारा उपलक्षित जो 'त्वम्' पदार्थ है (जीवात्मा) उसके द्वारा ["एव" शब्द आत्मा और 'त्वम्' पदार्थ का भेद और अभेद निराकरण (दूर) करने के लिए व्यवहृत हुआ है। जीव जब ब्रह्म के साथ एकत्व अनुभव करता है तो फिर भेद या अभेद बुद्धि नहीं रहती है]। उपजुह्वति—घटाकाश को महाकाश में जैसा निक्षेप किया जाता है उसी प्रकार प्रत्यगात्मा को परमात्मस्वरूप अग्नि (ब्रह्माग्नि) में आहुति देते हैं। अर्थात् 'तत्' पदार्थरूप ब्रह्म को 'त्वम्' पदार्थ के सहित (अपने साथ) अभिन्नरूप से साक्षात् करते हैं। [जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य साक्षात् करते हैं (मधुसूदन)] अथवा शंकरानन्दजी की टीका के अनुसार इस प्रकार की व्याख्या की जा सकती है यज्ञम्—सोपाधिक आत्मा को यज्ञेन एव—'यज्ञो वै विष्णुः', इस श्रुति के अनुसार सोपाधिक ईश्वर के साथ ही (यहाँ पर सहयोग से तृतीया हुई है) उपजुह्वति—निर्विशेष परमात्मा में (ब्रह्माग्नि में) आहुति देते हैं अर्थात् जिस प्रकार तरंग और बुद्बुद के नाम और रूप त्याग करने पर उनके आधारभूत समुद्र के साथ उन्हें अभिन्न देखा जाता है उसी प्रकार सोपाधिक आत्मा और सोपाधिक ईश्वर इन दोनों की उपाधि परित्याग कर दोनों के अधिष्ठानभूत तुरीय निर्विशेष परमात्मा के साथ परमार्थदर्शी (ब्रह्मज्ञानी) अपने को अभिन्न देखते हैं, यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पूर्वश्लोक में "ब्रह्मार्पणादि" रूप यज्ञ अनुष्ठित होने पर सर्वत्र ब्रह्मदर्शनरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। वही ज्ञान समस्त

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

यज्ञरूप उपायों से प्राप्तव्य फल है [अर्थात् यज्ञादि समस्त कर्म निष्काम भाव से अनुष्ठित होने पर मुमुक्षु को चित्तशुद्धि द्वारा सर्वत्र ब्रह्मदर्शनरूप ज्ञान प्राप्त हो सकता है।] वह सर्व यज्ञों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इस प्रकार इस ज्ञान की स्तुति (प्रशंसा) करने के लिए अधिकारी के भेद से ज्ञान के उपाय रूप बहुत से यज्ञो दैवम् इत्यादि आठ श्लोकों द्वारा श्रीभगवान् अब बताते हैं—]

अपरे योगिनः—अन्य कर्मयोगी गण दैवम् एव यज्ञम्—इन्द्रवरुणादि देव जिसमें पूजित होते हैं वही देवयज्ञ ही ("एव" शब्द के द्वारा इन्द्रादि में वे ब्रह्मबुद्धि नहीं करते हैं किन्तु भेदबुद्धि से विशेष-विशेष देवों की उपासना करते हैं यही सूचित किया गया है।) पर्युपासते—श्रद्धा के साथ अनुष्ठान करते हैं। अपरे—अन्य ज्ञानयोगीगण ब्रह्माग्नौ—ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञेन एव—यज्ञरूप उपाय द्वारा ही पूर्वश्लोक में जो "ब्रह्मार्पण" रूप ज्ञानयज्ञ वर्णित हुआ है उसी से (अर्थात् ब्रह्मार्पण बुद्धि युक्त यज्ञ द्वारा) ही [एव शब्द अवधारणार्थ में (निश्चयार्थ में) प्रयुक्त हुआ है।] यज्ञम्—यज्ञादि सर्व कर्म उपजुह्वति—(ब्रह्म में) आहुति प्रदान करते हैं अर्थात् सर्व कर्म प्रकृष्ट रूप से (भलीभाँति) ब्रह्म में ही विलीन करते हैं। यही ज्ञानयज्ञ है। [श्रीधर स्वामी की टीका प्राञ्जल होने पर भी भाष्यकार, मधुसूदन सरस्वती तथा शंकरानन्दजी ने जिस प्रकार व्याख्या की है वह अधिकतर गम्भीर और समीचीन प्रतीत होती है।]

(२) शंकरानन्द—पूर्व में "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः" इस मन्त्र के द्वारा चमसादि में ब्रह्ममात्रत्वदर्शन रूप ज्ञान का यज्ञरूप से वर्णन कर वही ज्ञानयज्ञ मोक्ष के प्रति एकमात्र साक्षात् साधन होने के कारण भिन्न-भिन्न देवादि के लिए जो यज्ञ किया जाता है उसकी अपेक्षा यह (ज्ञानयज्ञ) सर्वोत्तम है, यह प्रतिपादन करने के लिए और मोक्ष के व्यवहित (दूरवर्ती अर्थात् बहिरंग) साधन देवादि यज्ञ मुमुक्षुओं के अपने-अपने अधिकार के अनुसार चित्त की शुद्धि के लिए अनुष्ठान करना उचित है, ऐसा सूचित करने के लिए अब देवादि यज्ञों का निरूपण कर रहे हैं—दैवम् एव यज्ञम्—इन्द्रादि सकल देवताओं के उद्देश्य से जो यज्ञ प्रवृत्त (अनुष्ठित) होता है अर्थात् किया जाता है उसे देवयज्ञ कहा जाता है। उसी श्रौत और स्मार्त देवयज्ञ की अपरे योगिनः—कोई-कोई मोक्षकामी योगी अर्थात् कर्मयोगी (गृहस्थ) पर्युपासते—चित्त की शुद्धि के लिए उपासना (अर्थात् अनुष्ठान) करते हैं। देव ही अर्थात् वैदिक यज्ञ ही गृहस्थों को करना कर्तव्य है, यह

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

सूचित कर ब्रह्मविद् यतियों को मुक्ति के लिए (ब्रह्मार्पणादि से) कहे गए ज्ञानयोग को ही करना चाहिए ऐसा कहकर अब कहे गए ज्ञानयोग का ही दूसरे प्रकार से वर्णन करते हैं। अपरे—अपर व्यक्ति गण अर्थात् गृहस्थ से भिन्न श्रवणादि द्वारा आत्मतत्त्व को जाननेवाले यति गण स्वयं ब्रह्माग्नौ—परब्रह्मरूप अग्नि में। "सत्यं, ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "आनन्दं ब्रह्म", "यह वही ब्रह्म कार्यकारण रहित है", इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध अशेष-विशेष रहित (सर्व उपाधिरहित) सच्चिदानन्दघन जो परब्रह्म है वही अग्नि है क्योंकि परब्रह्म (अर्थात् परब्रह्म का ज्ञान) अविद्या और अविद्या के कार्यों को निःशेष दग्ध करता है (जलानेवाला है) और सोपाधिक आत्मा को (जीवात्मा की) आहुति के प्रक्षेप का वही परब्रह्म ही अधिकरण (आधार) है। इस कारण परब्रह्म को अग्नि कहा गया है। यज्ञम्—पामर पुरुष द्वारा "मैं भोक्ता हूँ" इस प्रकार के विषयभोग द्वारा जिसका यजन किया जाता है उस सोपाधिक आत्मा को (जीवात्मा को) यज्ञ कहा जाता है। आत्मा वस्तुतः निर्विशेष होने पर भी अध्यासवशतः बुद्धि आदि उपाधियुक्त आत्मा ही यहाँ पर यज्ञ शब्द का अर्थ है। यही उपाधि से युक्त आत्मा का प्रक्षेप समय में (प्रक्षेप या आहुति देने के समय) यज्ञेन एव—यज्ञ स्वरूप से ही आत्मा के निर्विशेष रूप से ही (सोपाधिक आत्मरूप यज्ञ को) उपजुह्वति—ब्रह्म में हवन करते हैं अर्थात् "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार से जो अहं पदार्थ उपाधियुक्त होकर-प्रतीयमान (प्रतीत) हो रहा था उस 'अहं' को विवेकवृत्ति से निर्विशेष रूप से भावना (चिन्तन) करके ब्रह्म से अभेद का (अर्थात् स्वयं ब्रह्मस्वरूपता) अनुभव करते हैं, यही कहने का अभिप्राय है। अथवा यज्ञम्—सोपाधिक आत्मा को (जीवात्मा को) यज्ञेन—"यज्ञो वै विष्णुः" (यज्ञ विष्णु ही है) इस श्रुति के अनुसार सोपाधिक ईश्वर के साथ ही जुह्वति—निर्विशेष ब्रह्म में हवन करते हैं। सोपाधिक ईश्वर और सोपाधिक आत्मा दोनों को और उनकी सकल उपाधियों को दूर कर उभय के (दोनों के) अधिष्ठानभूत तुरीय, निर्विशेष ब्रह्म से दोनों को [अर्थात् वही सोपाधिक ईश्वर को और सोपाधिक आत्मा को (जीवात्मा को)] अभिन्न देखते हैं। जिस प्रकार तरंग और बुद्बुद दोनों को उनके नाम और रूप त्याग (दूर) कर, उनके आधार-भूत समुद्र से अभिन्न देखते हैं उसी प्रकार यज्ञ सहित अर्थात् ईश्वर के साथ यज्ञ को अर्थात् जीवात्मा को निर्विशेष शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म से अभिन्न देखते हैं—यही कहने का तात्पर्य है।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में कहा गया सम्यग् ज्ञानरूप

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

यज्ञ में जिनका अधिकार नहीं है उनमें से कोई-कोई देवयज्ञ किया करते हैं अर्थात् इन्द्र वरुणादि देवों के उद्देश्य से ज्योतिष्टोमादि और दर्शपूर्णमासादि यज्ञ का अनुष्ठान करते रहते हैं। ये सब यज्ञ ही कर्मयोग के अन्तर्गत हैं और फलाकांक्षा रहित होकर अनुष्ठित होने पर चित्तशुद्धि उत्पादन कर अन्त में ज्ञान के (सम्यग् दर्शन के) हेतु होते हैं। फिर जो लोग उत्तमाधिकारी हैं वे सम्यग् दर्शन रूप ज्ञानयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। इस श्लोक में "यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति" इत्यादि वाक्यों के द्वारा जिस ज्ञानयज्ञ का वर्णन किया गया है वह पूर्व श्लोकोक्त ज्ञानयज्ञ के ही विभाग हैं क्योंकि पूर्व श्लोकोक्त 'ब्रह्मार्पण' यज्ञ में (गीता ४।२४) यज्ञ के सकल उपकरण को ब्रह्मस्वरूप से ही दर्शन कर ब्रह्मरूप अग्नि में होम करना पड़ता है। वर्तमान श्लोक में उक्त ज्ञान-यज्ञ में "तत्पदार्थ में" अर्थात् सर्वोपाधिशून्य, शुद्ध, चैतन्यस्वरूप आत्माग्नि में (ब्रह्माग्नि में) त्वम् पदार्थ को अर्थात् उपाधिविशिष्ट जीवात्मा को आहुति देने के लिए कहा जा रहा है यही विशेष है।

[पूर्व श्लोक में ब्रह्मविद् पुरुषगण ज्ञानयज्ञ किस प्रकार करते हैं, वह कहा गया है। अब ब्रह्मविद् पुरुष के दूसरे-दूसरे यज्ञ किस प्रकार होते हैं, वही कहा जा रहा है]।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये सयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

अन्वयः—अन्ये श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि संयमाग्निषु जुह्वति। अन्ये इन्द्रियाग्निषु शब्दादीन् विषयान् जुह्वति।

अनुवाद—दूसरे कोई-कोई योगी संयमरूप अग्नियों में श्रोत्रादि इन्द्रियों का होम किया करते हैं अर्थात् इन्द्रियों का संयम करते हैं। और कोई-कोई इन्द्रियाग्नि में शब्दादि विषयों की आहुति देते हैं (अर्थात् वही श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा शास्त्रविधि के अनुसार सकल विषयों का भोग करते हैं)।

भाष्यदीपिका—अन्ये—अन्य योगी गण [अर्थात् प्रत्याहार नामक योगांग विशेष के अनुष्ठान में यत्नशील व्यक्तिगण (मधुसूदन)] श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि—श्रोत्र (कर्ण), त्वक्, चक्षु, रसना (जिह्वा), नासिका ये जो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं उन्हें संयमाग्निषु—संयम ही अग्नियाँ हैं, उन्हीं में [संयम शब्द का अर्थ है—पंचज्ञानेन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से (अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध से) प्रत्याहार कर शब्दादि विषयों के साथ

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

जिससे संयोग न हो सके उसी भाव से दमन कर उनके अपने-अपने स्थान में रुद्ध (स्थिर) रखना। प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों का संयम करने पर मन का अर्थात् चित्तवृत्तियों का संयम हुआ करता है। अतः मन ही इन्द्रिय संयम का आधाररूप अग्नि है (आनन्दगिरि)। तथापि प्रति इन्द्रिय के भेद से संयम भी भिन्न-भिन्न है। इसलिए यहाँ "संयमाग्निषु" ऐसा बहुवचन का प्रयोग किया गया है]। उन संयमरूप अग्नियों में जुह्वति—हवन करते हैं। (अन्तर इन्द्रिय और बाह्य (बाहरी) इन्द्रियों को हवन करते हैं) अर्थात् सभी इन्द्रियों को संयम करते हैं। [अथवा मधुसूदन सरस्वती की टीका के अनुसार इस प्रकार से भी व्याख्या हो सकती है। पातञ्जल योगसूत्र में कहा है "त्रयमेकत्र संयमः" (पा० यो० ३।४) अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि यह तीन एकत्र (एक विषयक) होने पर उसे संयम कहा जाता है। चित्त का मणिपुर, आज्ञा प्रभृति चक्र में अथवा अन्य कोई स्थान में बहुत देर तक अचंचल (स्थिर) रूप से रखने को धारणा कहते हैं। धारणा के अभ्यास-काल में (विजातीय) प्रत्यय को (दूसरे विषयों के चिन्तन को) रोधकर अविच्छिन्न भाव से जो एक ही विषय के संबंध में (भगवत्-चिन्तन में अथवा आत्मज्ञानधारा में) वृत्ति का प्रवाह चलता रहता है उसे ध्यान कहा जाता है। "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (पा० यो० ३।२) जब वह ध्यान केवल ध्येय वस्तु का ही प्रकाशक होता है और ध्याता अपने स्वरूप के बोध से मानो शून्य हो जाता है अर्थात् ध्येय, ध्यान और ध्याता इन तीनों में केवलमात्र ध्येय वस्तु का प्रकाश अवशिष्ट रह जाता है (ध्याता और ध्यान का स्वरूप मानो लोप हो जाता है), तब उस अवस्था को समाधि कहा जाता है [तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः (पा० यो० ३।३)] वही समाधि दीर्घकाल तक स्थिर होने पर उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। और जब उसमें ध्येय वस्तु की भी स्फूर्ति या प्रकाश नहीं रहता है तब उसे असम्प्रज्ञात समाधि या निर्बीज समाधि कहा जाता है (पा० यो० १।५१)। जब योगी सब विषयों से वैराग्य सम्पन्न होते हैं, यहाँ तक कि जो समाधि के फलभूत सुख की भी अपेक्षा नहीं रखते हैं और उनके असम्प्रज्ञात समाधि की जब दृढ़भूमि होती है तब उस प्रकार की समाधि को धर्ममेघसमाधि कहते हैं (पा० यो० ४।२९–३०)। कैवल्य या मोक्षरूप धर्म वर्षण करता है इसलिए उसे "धर्ममेघ" कहा जाता है। संयम में भी असम्प्रज्ञात, सम्प्रज्ञात धर्ममेघ इसी प्रकार अनेक प्रकार के भेद रहने के कारण "संयमाग्निषु" इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग किया गया है। वही संयमरूप अग्नियों में इन्द्रियों की

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

आहुति देते हैं अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि की सिद्धि के निमित्त समस्त इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से प्रत्याहृत करते हैं (लौटा लेते हैं)। इन्द्रियाँ विषयों से निगृहीत (रुद्ध) होने पर चित्त के साथ एकीभूत होकर चित्त के रूप को प्राप्त होते हैं। स्वविषयासमप्रयोगेचित्तरूपानुकरणमेवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः (पा० द० २।५८)]। इस प्रकार होने से किसी प्रकार का विक्षेप नहीं रहने के कारण चित्त चांचल्यशून्य होकर धारणा, ध्यान, समाधि का साधन करने में समर्थ होता है। काष्ठ (लकड़ी) प्रभृति वस्तु जिस प्रकार अग्नि में निक्षिप्त होने पर अग्निरूप को प्राप्त होती है उसी प्रकार इन्द्रियसकल निगृहीत होने पर अन्त में संयमरूप में (ध्यान, धारणा और समाधिरूप में) परिणत होते हैं। इसलिए संयमाग्नि में आहुति देने का उपदेश दिया गया है। "श्रोत्रादीनि" इत्यादि द्वारा प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन चार योगांगों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार समाधिदशा में सकल इन्द्रियों के निरोध को यज्ञ कहा जाता है। वुद्धयानावस्था—में रागद्वेष से मुक्त होकर विषयों का जो भोग किया जाता है वह भी अन्य प्रकार का यज्ञ है, वही अब कहा जा रहा है। अन्ये—अन्य कोई-कोई ज्ञानी साधक इन्द्रियाग्निषु—व्युत्थितावस्था में चक्षुकर्णादि पंच ज्ञानेन्द्रियरूप अग्नियों में अर्थात् सभी ज्ञानेन्द्रियाँ अग्नि हैं, उन इन्द्रियरूप अग्नियों में शब्दादीन् विषयान्—शब्द, रूप, रस प्रभृति सकल विषयों को जुह्वति—हवन करते हैं [अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा यथाप्राप्त अनिषिद्ध विषयों को स्पृहाशून्य होकर अर्थात् रागद्वेष रहित होकर] ग्रहण (भोग) करते रहते हैं। श्रोत्रादि इन्द्रिय सकल द्वारा यथाप्राप्त शास्त्रसम्मत विषयों को (अनिषिद्ध विषयों को) ग्रहण करने को यहाँ पर होम कहा गया है। (गीता में अन्यत्र भी निर्लिप्त भाव से इन्द्रियों के द्वारा विषय भोग का वर्णन किया गया है, यथा—"गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते" (गीता ३।२८), "इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्" (गीता ५।९) अर्थात् (ज्ञानी) इन्द्रियरूप में परिणत प्रकृति के गुण सकल विषय रूप में परिणत प्रकृति के गुणों में ही व्यापृत रहते हैं, यह जानकर उसमें आसक्त नहीं होते हैं। तत्त्वज्ञानी जानते हैं कि इन्द्रियसकल स्वभाववश इन्द्रियार्थ में (विषयों में) प्रवृत्त हो रहे हैं, परन्तु "मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ" यही उनके इन्द्रियाग्नि में विषयों का होम है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—अन्ये—अन्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी लोग संयमाग्निषु श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि जुह्वति—उस-उस इन्द्रियों के संयमरूप अग्नि में श्रोत्रादि इन्द्रियों को होम करते हैं अर्थात् प्रकृष्ट रूप में (भलि-भाँति)

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

विलीन करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों का निरोध करके (ज्ञानेन्द्रियों को शब्दादि विषयों से प्रत्याहृत कर) संयमप्रधान होकर अवस्थान करते हैं। अन्ये—अन्य मुमुक्षु गृहस्थ लोग इन्द्रियाग्निषु जुह्वति—इन्द्रियरूप अग्नियों में शब्दादि विषयों की आहुति देते हैं। विषयों का भोग करते समय भी अनासक्त होकर (इन्द्रियों का अग्निरूप से चिन्तन कर) उन इन्द्रियरूप अग्नियों में हवि रूप से भावित शब्दादि विषयों का प्रक्षेप करते हैं।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार के ब्रह्मज्ञानियों के कर्तव्य ज्ञान-यज्ञ का विधान कर ब्रह्म को नहीं जाननेवाले अब्रह्मविदों के कर्तव्यरूप में दूसरे प्रकार से यज्ञों का वर्णन कर रहे हैं—

अन्ये—पूर्व में जो कहे गए हैं उनसे भिन्न अब्रह्मविद् नैष्ठिक ब्रह्मचारी आदि मुमुक्षु लोग श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि—श्रोत्र, वाक् प्रभृति इन्द्रियों को संयमाग्निषु—संयमरूप अग्नियों में, इन्द्रियसकल को अपने-अपने विषयों से विशेष रूप से निवृत्त कर (हटाकर) निज-निज स्थान में निग्रह करना (रोकना) संयम कहा जाता है। इन्द्रियाँ अनेक प्रकार की हैं, इस कारण उनके संयम भी अनेक हैं। वे (सकल संयम) ही अग्नि हैं, उन संयमरूप अग्नियों में जुह्वति—चक्षुरादि इन्द्रिय रूप आहुतियों का प्रक्षेप करते हैं अर्थात् इन्द्रियनिग्रहरूप यज्ञ करते हैं, यही कहने का अभिप्राय है। अन्ये—उक्त प्रकार के नैष्ठिक ब्रह्मचारी से भिन्न स्वधर्मनिष्ठ गृहस्थ मुमुक्षु शब्दादीन् विषयान्—अनिषिद्ध शब्दादि विषयों को योग्य समय पर इन्द्रियाग्निषु जुह्वति—इन्द्रियरूप अग्नियों में हवन करते हैं। इन्द्रियाँ ही अग्नि हैं, कारण विषय सकल इन्द्रियों में प्रक्षिप्त होने के कारण इन्द्रियाँ विषयों के प्रक्षेप का अर्थात् आहुति का अधिकरण (आधार) होती हैं। विषयों के अनुभव का नियम ही उनका यज्ञ है [अर्थात् विषयों के अनुभव समय में वे जिन सब इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होते हैं उन सब इन्द्रियों को अग्नि कल्पना कर उनमें आहुति देना ही गृहस्थ मुमुक्षु के लिए यज्ञ है, यही कहने का अभिप्राय है]।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में देवयज्ञ और ज्ञानयज्ञ (अर्थात् आत्मयज्ञ) का वर्णन किया गया है। ज्ञानयज्ञ के और भी कई भेद वर्तमान श्लोक में और परवर्त्ती श्लोक में (२७–२९ श्लोको में) कहा जा रहा है। वर्तमान श्लोक में ज्ञानयज्ञ के अन्तर्गत संयमयज्ञ और इन्द्रिययज्ञ के अनुष्ठान किस प्रकार किये जाते है यही कहा जा रहा है। श्रोत्र, चक्षुः इत्यादि इन्द्रियाँ

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अपने-अपने विषय के प्रति स्वतः ही धावित होते हैं। विषय के अनित्यत्व, मिथ्यात्व और दुःखत्व निश्चय होने पर इन्द्रियसकल को विषयों से निवृत्त कर नित्य सत्य आनन्दस्वरूप आत्मा के अभिमुखी करना संभव होता है। देह में मणिपुर, अनाहत, आज्ञा इत्यादि चक्र में अथवा वाहर कोई स्थान में आत्मा का ही अस्तित्व स्वीकार कर वही स्थान पर आत्मा में श्रोत्रादि इन्द्रियों के विलय करने को धारणारूप अग्नि में इन्द्रियों की आहुति की गई है, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार ध्यान में अर्थात् धारणा सिद्ध होने पर आत्मविषयक प्रत्यय (चित्तवृत्ति) जब तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है तब उस ब्रह्मकारावृत्ति के प्रवाह को अग्नि-कल्पना कर इन्द्रियों को विलय करने से ध्यानरूप अग्नि में इन्द्रियों की आहुति हुई है ऐसा कहा जाता है। फिर समाधि अवस्था में चित्त में जब आत्मा (ब्रह्म) को छोड़ दूसरा प्रत्यय (चित्तवृत्ति) नहीं उठता है अर्थात् केवल आत्माकारा (ब्रह्माकारा) वृत्ति अबाध गति से चलती रहती है, तब वही समाधि को अग्नि-कल्पना कर उसमें इन्द्रियों की आहुति देनी पड़ती है। धारणा, ध्यान, समाधि यह तीन एकत्र होने पर उसे संयम कहा जाता है। इस कारण पातञ्जल योगशास्त्र में कहा गया है—"त्रयमेकत्र संयमः"। आत्मविषयक धारणा, ध्यान, समाधि ये तीनों में से प्रत्येक की अग्नि कल्पना कर इन्द्रियों की आहुति की जा सकती है। इस कारण "संयमाग्निषु" शब्द बहुवचन में व्यवहृत हुआ है। समाधि में ही संयम—यज्ञ की समाप्ति होती है क्योंकि समाधि अवस्था में सर्व इन्द्रियों के निरोध होने पर संयमयज्ञ पूर्ण रूप से सिद्ध होता है। उस समय यज्ञ से जब योगी का व्युत्थान होता है तब समाधि में आत्मानन्द का अनुभव होने के कारण विषयों में वैराग्य (अरुचि) उत्पन्न होता है। तब सर्वप्रकार से आसक्तिशून्य होकर योगी इन्द्रियों से यथाप्राप्त विषय को भोग करते हैं। यही इन्द्रिय यज्ञ है अर्थात् इस यज्ञ में विषयासक्ति-शून्य इन्द्रियों को अग्नि कल्पना कर शब्द, स्पर्श, रूपादि विषयों को उस अग्नि में आहुति देते हैं।

[ध्याननिष्ठ पुरुष के लिए और एक प्रकार के यज्ञ का परिचय दिया जा रहा है।]

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

अन्वयः—अपरे ज्ञानदीपिते आत्मसंयमयोगाग्नौ सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि च जुह्वति।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अनुवाद—दूसरे ज्ञाननिष्ठ योगिगण ध्येय आत्मा के स्वरूप को भलीभाँति जानकर उस ज्ञान द्वारा उज्ज्वलीकृत आत्मसमाधि रूप योगाग्नि में [अर्थात् (अखण्डाद्वय) चिदानन्दस्वरूप आत्मा में निरन्तर स्थिति रूप योगाग्नि में] समस्त इन्द्रिय (अर्थात् सभी ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय) के व्यापारों को (कार्यों को) तथा प्राणवायु के व्यापारों को हवन करते हैं (अर्थात् वह इन्द्रियों के कर्म व प्राणों के कर्म से उपरत होते हैं)।

भाष्यदीपिका—अपरे—पहले जिनके संबंध में कहा गया है उनसे विलक्षण ध्याननिष्ठ यतिगण ज्ञानदीपिते—आत्मतत्त्व के ज्ञान द्वारा दीपित अर्थात् घृतादि स्नेह (चिकने) पदार्थ द्वारा अग्नि जिस प्रकार प्रदीप्त होती है उसी प्रकार विवेकविज्ञान (अर्थात् आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञान) द्वारा ही उज्ज्वलीकृत [तत्त्वमसि इत्यादि वेदान्तवाक्य का श्रवण, मनन व निदिध्यासन द्वारा ब्रह्म के साथ आत्मा का जो ऐक्य (अभिन्नता) अनुभव होता है उसीको यहाँ "ज्ञान" कहा गया है।] ज्ञान द्वारा अविद्या नष्ट होने पर अविद्या के कार्य भी (जगत् प्रपञ्च भी) नष्ट हो जाता है। प्रपञ्च को प्रतीति होने पर भी उसमें दृढ़ मिथ्यात्व-बुद्धि निश्चित होने के कारण वह (जगत् प्रपञ्च) वाधित होता है अर्थात् स्वप्न दृश्य के समान जगत् प्रपञ्च दिखलाई पड़ने पर भी वह कोई वस्तु नहीं है (क्योंकि वे सर्वरूप से मिथ्या है), इस प्रकार बुद्धि का दृढ़ निश्चय होता है। उस प्रकार निश्चय होने पर चित्त के विक्षेप का कोई कारण नहीं रहता। अतः व्यवहार काल में भी चित्त की आत्मा में ही स्थिति रहती है। इसलिए इसका 'बाध' पूर्वक निर्बीज समाधि कहा जाता है अर्थात् समस्त प्रपञ्च तत्त्वज्ञान द्वारा वाधित होने से प्रपञ्च के वीज (अर्थात् जन्म-मरण का कोई वीज या हेतु) नहीं रह सकता। यह ही "निर्बीज समाधि" शब्द का तात्पर्य है और यही मुख्य समाधि है एवं उसके सम्बन्ध में ही इस श्लोक में कहा गया है। अपरोक्ष ज्ञान (आत्मसाक्षात्कार) होने से ज्ञानी की यह बाध-समाधि अत्यन्त उज्ज्वलीकृत होती है अर्थात् वह कभी भी अप्रकाशित (लुप्त) नहीं होती। 'दीपित' शब्द का यही अर्थ है। किन्तु ['तत्त्वमसि' प्रभृति वेदान्त महावाक्य का श्रवण करके यदि परोक्ष—ज्ञानमात्र होता अर्थात् श्रवणादि से तत्त्वज्ञान का उदय न हो तो अविद्या नष्ट नहीं हो सकती एवं यह अविद्यारूप बीज विद्यमान रहने पर प्रपञ्च के सम्बन्ध में सत्यत्वबुद्धि पुनः-पुनः उदित होती है। फलतः ऐसी अवस्था में निरन्तर बाध-समाधि—सम्भव नहीं होती। अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि अपरोक्ष—ज्ञान द्वारा दीपित (उज्ज्वलीकृत) होने से ही बाध-समाधि अविच्छिन्न एवं निरन्तर रहती है—

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अन्यथा नहीं (मधुसूदन)]। अब जो समाधि-अवस्था ज्ञान द्वारा दीपित होती है उसके सम्बन्ध में कहा जा रहा है—**आत्मसंयमयोगाग्नौ**—आत्मा में (अपने रूप में) जो संयम (धारणा, ध्यान व समाधि द्वारा चित्त की स्थिरता) [अथवा प्रपञ्च का मिथ्यात्व निश्चय करके (प्रपञ्च को बाधित करके) अखण्डाद्वय चिदानन्द आत्मा में स्थिति] वही परमात्मा के साथ सर्वदा युक्त रहने का साधन (उपाय) है, इसलिये वह योग है और सर्व कर्म इस प्रकार योग से भस्मसात् हो जाते हैं इसलिये वह योग अग्नि के समान भी है। इस प्रकार आत्मसंयमरूप योगाग्नि में **सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि**—सभी इन्द्रिय के कर्मसमूह को [सभी इन्द्रिय शब्द के द्वारा पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन एवं बुद्धि को समझाया गया है। कर्ण, त्वक् (त्वचा) चक्षु, रसना व नासिका ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके यथाक्रम से कर्म है शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ग्रहण। वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इनके यथाक्रम से कर्म हैं—वचन, आदान, विहरण (चलना-फिरना), उत्सर्ग (मलत्याग) व आनन्द (मैथुन)। मन एवं बुद्धि का कर्म यथाक्रम से संकल्प व अध्यवसाय (निश्चय करना) है। इन सभी कर्मों को एवं **प्राणकर्माणि**—प्राण के भी सभी कर्म को [आध्यात्मिक वायु ही प्राण शब्द का अर्थ है। प्राण भी पाँच प्रकार के हैं—प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान। इनके कर्म यथाक्रम से (क) बाहर से वायु को भीतर लाना (प्राण), (ख) प्राणवायु के अन्तर-मल को (भीतर के मल को) श्वास के सहित बाहर ले जाना (अपान), (ग) आकुंचन व प्रसरण करना (व्यान), (घ) भुक्त व पीत द्रव्य के (जो आहार किया गया है और जो पान किया गया है उसके) समनयन (समता सम्पादन) अर्थात् हजम करना (समान), (ङ) प्राणवायु के उद्गारादि द्वारा ऊपर ले जाना (उदान)। इन सब कर्मों को **जुह्वति**—प्रक्षेप (हवन) करते हैं। इन्द्रियों के कर्म व प्राणों के कर्म द्वारा पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण एवं मनबुद्धि विशिष्ट अर्थात् उन सप्तदश अवयवविशिष्ट लिंगशरीर को (अर्थात् जीव को) समझाया गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि लिंग शरीर के जो कुछ कर्म या व्यापार हैं उन सबको ज्ञानी हवन कर देते हैं। ज्ञाननिष्ठ पुरुष जीवत्व को ज्ञान-प्रदीपित [अर्थात् "अहं ब्रह्मास्मि" (मैं ही वही ब्रह्म हूँ) इस प्रकार के ज्ञान द्वारा प्रकाशित] आत्मसमाधि में (परमात्मा में) प्रकृष्ट रूप से (भली-भाँति) विलीन कर देते हैं अर्थात् ज्ञान के बल से जीवरूप लिंग-शरीर को विलीन करके ब्रह्म के साथ आत्मा का एकत्व अनुभव करते हैं। [मधुसूदन

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

सरस्वती कहते हैं—"सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि च" पद द्वारा सप्तदश अवयवविशिष्ट जिस लिंग-शरीर के सम्बन्ध में ऊपर कहा गया है वह व्यष्टिभूत जीव का लिंग शरीर नहीं है परन्तु वह कारणीभूत (सूक्ष्मभूत) हिरण्यगर्भ नामक समष्टिलिंग शरीर को उद्देश्य करके कहा गया है। इसे स्पष्ट करने के लिए "सर्वाणि" यह विशेषण प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार का अर्थ करने से "जुह्वति" शब्द द्वारा यही समझा जाता है कि "मैं ही जगत् स्रष्टा हिरण्यगर्भ हूँ" इस प्रकार समष्टि लिंग शरीर में जो अभिमान रहता है उसको आत्मसंयम ज्ञानाग्नि में (आत्मविषयक निर्विकल्प समाधि में) विलय कर ध्याननिष्ठ ज्ञानी अखण्डाद्वय परमात्मा के साथ ऐक्य अनुभव करते हैं (अर्थात् जीवन्मुक्त-अवस्था प्राप्त करते हैं)।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—(१) आत्मसंयमयोगाग्नौ—धारणा, ध्यान एवं सम्प्रज्ञात समाधिरूप जो आत्मविषयक संयम है उसका परिपाक होने से योग अर्थात् निरोध समाधि होती है, वही यहाँ "आत्मसंयमयोग" पद से कहा गया है।

पातञ्जल योगशास्त्रानुसार इस निरोध समाधि का परस्पर क्रम संक्षेप से इस प्रकार है—(क) निरोध समाधि से चित्त का निरोध (परिणाम) होता है अर्थात् व्युत्थान संस्कार के विरोधी निरोध संस्कार प्रादुर्भूत होने से चित्त केवल निरोधक्षण का ही अनुसरण करता है [व्युत्थान अवस्था को अर्थात् समाधि से जाग्रदवस्था को त्याग कर सदा ही निरोध अवस्था में (अर्थात् चित्तवृत्ति को निरुद्ध कर) रहना चाहता है। (ख) इस निरोध परिणाम का फल है चित्त की प्रशान्तवाहिता अर्थात् केवल मात्र निरोधसंस्कार की धारा का प्रवाह होता रहता है। निरोध परिणाम द्वारा तम तथा रज गुण के क्षय होने से चित्त लय, व विक्षेपशून्य होकर शुद्धसत्त्वगुणविशिष्ट होकर प्रशान्त होता है। प्रशम-संस्कार की पटुता होने से प्रशम-संस्कार का आधिक्य होता है उसे ही 'प्रशान्त-वाहिता' कहते हैं। (ग) प्रशान्तवाहिता का कारण है वृत्तियों का अभावरूप विराम। इस विराम के पुनः-पुनः अभ्यास से संस्कारमात्रविशिष्ट असम्प्रज्ञात समाधि होती है। इस प्रकार आत्मविषयक संयम (अर्थात् धारणा, ध्यान व सम्प्रज्ञात समाधि) से जो असम्प्रज्ञात समाधिरूप **योग** होता है वही अग्नि है, उसी में ज्ञानी प्राण तथा इन्द्रियों के सभी कर्म की आहुति देते हैं।

(२)—पूर्व श्लोकों में पातञ्जल के मतानुसार लयपूर्वक समाधि एवं उक्त समाधि से व्युत्थान—इन दो प्रकार के यज्ञ के विषय में कहा गया है। अभी ब्रह्मवादियों के (वेदान्तियों के) मतानुसार बाधपूर्वक समाधि, जिससे

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

व्युत्थान के कारणीभूत अविद्या का उच्छेद कर व्युत्थानशून्य होकर सभी यज्ञ के फल प्राप्त हो सकते हैं वही बाधपूर्वक समाधि नामक अन्य एक यज्ञ के विषय में कहते हैं। समाधि दो प्रकार की है–(क) लयपूर्वक (ख) बाध-पूर्वक समाधि। इनमें से लयपूर्वक समाधि में इस प्रकार अनुसन्धान रहता है—"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्रह्मसूत्र २।१।१४), "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० उ०) [अर्थात् मृत्तिका के (मिट्टी) के विकाररूप घरादि में उनका कारणरूप मृत्तिका ही सत्य वस्तु है और उस मृत्तिका के कार्य (घटादि) सत्य नहीं है क्योंकि वे शब्दों से निर्दिष्ट नाम बिना और कुछ नहीं है]। इन सब वाक्यों से सिद्ध होता है कि कार्य कारण से अभिन्न है। इस न्यायानुसार कारण बिना कार्य की कोई सत्ता नहीं है। अतः पंचीकृत पंच महाभूतों के जो समस्त व्यष्टिकार्य हैं उनको समष्टिरूप विराट् से कोई पृथक् सत्ता नहीं है। फिर इस पञ्चीकृत पंच-भूतात्मक समष्टि कार्यरूप विराट् अपञ्चीकृत महाभूतों के ही कार्य हैं। इसलिए अपञ्चीकृत महाभूतों के बिना विराट् की भी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। पृथ्वी शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध इन पाँच प्रकार के गुणों से विशिष्ट है। यह पृथ्वी गंध बिना अपर चार गुणों से विशिष्ट अप (जल) का कार्य है। अतः जल बिना पृथ्वी की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इन चार गुणों से विशिष्ट जल गन्ध व रस से रहित त्रिगुणात्मक (अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप इन तीनों गुणों से विशिष्ट) तेज का कार्य है। इस कारण तेज बिना जल की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। वही त्रिगुणात्मक तेज गन्ध, रस तथा रूप से रहित दोनों (शब्द एवं स्पर्श) गुणों से युक्त वायु का कार्य है। अतः वायु से भिन्न तेज की और कोई पृथक् सत्ता नहीं है। यह त्रिगुणात्मक वायु केवलमात्र शब्दगुण से विशिष्ट आकाश का कार्य होने के कारण आकाश से भिन्न वायु की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। शब्दगुणात्मक आकाश भी "अहं बहु स्याम्" (मैं बहुत होऊँगा) इस प्रकार संकल्परूप अहंकार का कार्य होने से उस अहंकार से अन्य कोई पृथक् सत्ता आकाश की नहीं है। और वह परमेश्वर का अहंकार भी माया के 'ईक्षण" रूप महत्तत्त्व का ही कार्य है। इस कारण महत्तत्त्व से अहंकार की पृथक् सत्ता नहीं है। यह ईक्षणरूप महत्तत्त्व भी माया का परिणाम है। इसलिए मायाभिन्न महत्तत्त्व की स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं है। और माया नामक जो कारण है वह जड़ है, चैतन्य में अध्यस्त होकर ही वह कार्य करती है। अतः चैतन्यव्यतिरिक्त माया की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। इस प्रकार कार्यकारणतत्त्व का अनुसन्धान करके सर्व कारण का भी कारण रूप से स्थित जो

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

एकमात्र चैतन्य सत्ता है उसको विषय कर जो समाधि होती है उसको लय-पूर्वक समाधि कहा जाता है। इस लय समाधि में 'तत्त्वमस्यादि' वेदान्त महा-वाक्यों के अर्थ के ज्ञान का अभाव रहता है अर्थात् जो चैतन्यमात्र में लय समाधि होती है वह चैतन्यस्वरूप "मैं ही हूँ" ऐसा ज्ञान का उदय न होने के कारण अविद्या एवं उसके कार्य अक्षीण रहते हैं (नष्ट नहीं होते)। 'तत्त्वम-स्यादि, वाक्य का अर्थ चिन्तन होते रहने पर भी अविद्या का कारण विद्यमान रहने से अविद्या के कार्यरूप समग्र प्रपंच पुनः-पुनः उदित होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार लयसमाधि सुषुप्ति के समान 'सबीज' होती है अर्थात् उस समाधि में प्रपञ्च (सृष्टि) की बीजरूप अविद्या का नाश नहीं होता है। अतः वह समाधि मुख्य (अर्थात् मुक्ति का कारण) नहीं हो सकती। दूसरी ओर 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य के अर्थ का (अर्थात् जीव और ब्रह्म का एकत्व) साक्षात्कार करने से जब अविद्या की निवृत्ति होती है तब सृष्टि के क्रमानुसार उस अविद्या के कार्य की भी निवृत्ति होती है।

[बाधसमाधि में सृष्टिक्रम के अनुसार (अनुलोम क्रम से) अविद्या के कार्य की निवृत्ति होती है और लयसमाधि में 'आत्मा ही सत्य है और सब काल्पनिक है, एवं आत्मा में अध्यस्त है, इस प्रकार जानकर ब्रह्म व आत्मा का ऐक्य अनुभव करने पर प्रपंच का मिथ्यात्व सुनिश्चित होता है तथा अज्ञान की निवृत्ति होती है। ऐसी अवस्था में कारण (अविद्या) व कार्य (सृष्टि प्रपञ्च) का उच्छेद हो जाता है अर्थात् अविद्या एवं उसके कार्य का (प्रपञ्च का) पुनरुत्थान नहीं होता। इसे बाधपूर्वक निर्बीज समाधि कहते हैं। यही मुख्य समाधि है और इस श्लोक में इसे ही प्रदर्शित किया गया है]।

(२) श्रीधर—अपरे—अन्य कोई-कोई ध्याननिष्ठ योगी इन्द्रिय-कर्माणि—ज्ञानेन्द्रियों के (श्रोत्र, चक्षु प्रभृति के श्रवण दर्शनादि कर्मों को) एवं कर्मेन्द्रियों के (वाक् , पाणि प्रभृति के) कर्म वचन उपादान (वस्तु ग्रहण) आदि कर्मों को एवं प्राणकर्माणि—दशों प्राणों के कर्मों को यथा-प्राण का कर्म बहिर्गमन, अपान का कर्म अधोनयन (नीचे की ओर ले जाना), व्यान का कर्म व्यानयन (समस्त शरीर में व्याप्त होना) एवं आकुंचन, प्रसारण (संकुचित करना और फैलाना) आदि, समान के कर्म भुक्त या पीत द्रव्यादि का सम्यक् प्रकार से उन्नयन (हजम करना) अर्थात् खाए और पीये हुए पदार्थों को भलीभाँति यथायोग्य स्थापित करना (हजम करना) और उदान का कर्म है ऊर्ध्वनयन (उपर उठा देना), नाग का कर्म है उद्गार,

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

कूर्म का कर्म है उन्मीलन, कृकट का कर्म है क्षुत्कार (छींकना), देवदत्त का कर्म है विजृम्भण (जँभाई) और धनञ्जय का कर्म है सर्व शरीर में व्याप्त होना। [उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः। कृकटः क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे। न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः]॥ ज्ञानदीपिते—ध्येय विषयक ज्ञान से जो दीपित (प्रज्वलित) है ऐसी आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति—आत्मा में जो संयम अर्थात् ध्यान की एकाग्रता है वही योग है एवं यही योग अग्नि है। उस योगरूप अग्नि में होम करते हैं। भाव यह है कि मन आत्मा में संयत (निविष्ट) करके उपर्युक्त इन्द्रियों के तथा प्राण के समस्त कर्म से उपरत हो जाते हैं।

(३) शंकरानन्द—अपरे—पूर्व श्लोक में उक्त ब्रह्मचारी आदि से कोई ध्याननिष्ठ यति सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि—इन्द्रियों के सभी कर्म अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय के सभी कर्म यथा-श्रवण, दर्शन प्रभृति एवं कर्मेन्द्रियों के सभी कर्म यथा—वचन, आदान, आदि एवं प्राणकर्माणि—प्राणों के सभी कर्म अर्थात् अपानादि भेद से भिन्न प्राण के उच्छ्वास, निःश्वास, निमेष, उन्मेष, जृम्भण, उद्गार आदि सभी कर्म ज्ञानदीपिते—आत्मविषयक ज्ञान द्वारा दीपिते अर्थात् भलीभाँति अवगत (जाने गए) आत्मसंयमयोगाग्नौ—अपने स्वरूपभूत आत्मा में संयमयोग (मनोनिरोधरूप समाधि) ही अग्नि है, उसमें जुह्वति—प्राण और इन्द्रियों के सभी कर्मों का हवन करते हैं अर्थात् प्राण व इन्द्रियों के व्यापारों को निरुद्ध (बन्द) करके सदा आत्मा का ही अनुभव करते हैं।

(४) नारायणी टीका—२५ श्लोक में देवयज्ञ एवं ज्ञानयज्ञ का भेद दिखाया गया है। २६-२७ इन दोनों श्लोकों में ज्ञानयज्ञ का क्रमविकास इस प्रकार दिखाया गया है—२६वे श्लोक में (१) इन्द्रियाँ अग्नि हैं, विषय हवि हैं, इस प्रकार की भावना कर इन्द्रिय रूप अग्नि में विषयों की आहुति देना है अर्थात् इन्द्रिय ही सभी विषयों का भोक्ता है, इन्द्रियादि से विलक्षण आत्मा असंग, निर्विकार, साक्षीमात्र है, इस प्रकार की बुद्धि से ज्ञानयज्ञकारी पुरुष रागद्वेष शून्य होकर विषयभोग करने का सामर्थ्य लाभ करते हैं। (२) इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत करके क्रमशः धारणा, ध्यान व समाधिरूप संयम अग्नि में आहुति देकर इन्द्रियों की सम्यक् प्रकार (भलीभाँति) स्थिरता सम्पादन कर निर्बीज असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था लाभ करके आत्मसाक्षात्कार प्राप्त होता है। २७वे श्लोक में—'मैं ही ब्रह्म हूँ, जगत् प्रपञ्च मिथ्या है', इस प्रकार के ज्ञान द्वारा उज्ज्वलीकृत आत्मसंयमरूप योगाग्नि में अर्थात् आत्मा में (परब्रह्म परमात्मा में) धारणा ध्यान समाधि-

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

रूप संयम द्वारा जो जीव व परमात्मा का एकत्व साक्षात्कार होता है उस ऐक्य ज्ञानरूप योगाग्नि में जीवत्व के हेतुस्वरूप इन्द्रियों व प्राणों की क्रिया को अर्थात् उन क्रियाओं में अभिमानी समग्र लिंग-शरीर को आहुति देनी पड़ता है। ज्ञानी सर्व इन्द्रिय, प्राण प्रभृति के कर्मों का अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्मरूप अग्नि में उन कर्मों को (अर्थात् कर्तृत्वाभिमानी जीवात्मा को) आहुति देकर ब्रह्म में ही निरन्तर स्थिति लाभ करते हैं। यही ज्ञानयज्ञ की शेष अवस्था है।

[कोई-कोई मुमुक्षु दूसरे प्रकार के यज्ञ भी करते हैं। पूर्व तीन श्लोकों में पञ्चविध यज्ञ का वर्णन कर अब इस श्लोक में अन्य छः प्रकार के यज्ञों का वर्णन कर रहे हैं]।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

अन्वयः—(केऽपि) द्रव्ययज्ञाः (केऽपि) तपोयज्ञाः तथा अपरे योगयज्ञाः (तथा अपरे) स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च (तथा अपरे) संशितव्रताः यतयः।

अनुवाद—जो लोग द्रव्यों के त्याग को यज्ञ मानकर अनुष्ठान करते हैं उन्हें 'द्रव्ययज्ञ' कहा जाता है। जो लोग यज्ञबुद्धि से तपस्या का अनुष्ठान करते हैं, उन तपस्वियों को 'तपोयज्ञ' कहा जाता है। प्राणायाम प्रभृति योग को जो यज्ञबुद्धि से अनुष्ठान करते हैं उन्हें 'योगयज्ञ' कहा जाता है। यथाविधि वेदाभ्यास को (स्वाध्याय को) यज्ञबुद्धि से जो अनुष्ठान करते हैं उन्हें 'स्वाध्याय यज्ञ' कहा जाता है। जो लोग शास्त्रार्थ के ज्ञान को ही यज्ञ-बुद्धि से अनुशीलन करते हैं उन्हें 'ज्ञानयज्ञ' कहा जाता है। फिर कोई-कोई मुमुक्षु यति संशित व्रतवाले होते हैं अर्थात् अपने-अपने तीक्ष्ण किये हुए व्रत नियम दृढ़ भाव से अभ्यास करते हैं।

भाष्यदीपिका—केऽपि द्रव्ययज्ञाः—कोई-कोई मुमुक्षु तीर्थ में (पवित्र स्थान में एवं पवित्र समय पर) सत् पात्र को श्रद्धा और नियमपूर्वक यज्ञ बुद्धि से [अर्थात् यज्ञ पुरुष की (परमात्मा के) तृप्ति के लिए "मैं इस कर्म की आहुति दे रहा हूँ", इस प्रकार की बुद्धि से] द्रव्यत्याग (दान) करते हैं उन्हें 'द्रव्ययज्ञ' कहा जाता है। अथवा जो लोग स्मृतिशास्त्र से विहित पूर्त्त और दत्त नामक पुण्य कर्म का अनुष्ठान करते हैं उन्हीं लोगों का "द्रव्ययज्ञ" शब्द से निर्देश किया गया है। स्मृति शास्त्र में कहा गया है "वापी कूपतड़ागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते। शरणागतसन्त्राणं

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

भूतानां चाप्यहिंसनम् । (बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते ।" अर्थात् वापी (वावली) कूप (कुआँ) और तड़ाग (तालाब) प्रभृति खोदना, देवालय (मन्दिर) वनवाना, अन्न का प्रदान और आराम (उपवन) की स्थापना (छाया वृक्षादि प्रतिष्ठा), इन सब कर्मों को पूर्त कहा जाता है। शरणागत व्यक्ति की सम्यक् रूप से रक्षा करना, सर्वभूत पर अहिंसा और बहिर्वेदि दान (यज्ञ में दीक्षित होकर और यज्ञस्थल में समासीन होकर यज्ञांग के रूप से जिन सब का दान किया जाता है उसका नाम अन्तर्वेदिदान है; और दूसरे समय पर जो दान दिया जाता हैं उसका नाम बहिर्वेदिदान है) है। ये सब कर्म जो लोग करते हैं उन्हें द्रव्ययज्ञ कहा जाता है। इष्ट नामक जो श्रौत कर्म है उसे "दैवमेवापरे यज्ञम्" इस श्लोक में पहले ही बताया गया है। ज्योतिष्टोमादि वैदिक यज्ञादि को इष्ट कहा जाता है। द्रव्ययज्ञ में इष्ट अन्तर्भुक्त नहीं हुआ है (मधुसूदन)।

केऽपि तपोयज्ञाः—कोई-कोई मोक्षाभिलाषी यज्ञबुद्धि से तपस्या का (चान्द्रायण, प्राजापत्यादि, उपवास इत्यादि तपस्या का) अनुष्ठान करते हैं उन्हें "तपोयज्ञ" कहा जाता है। [क्षुधा, तृष्णा, शीत, ग्रीष्म प्रभृति द्वन्द्व सहिष्णुता एवं काष्ठासनादि भी तपस्या के अन्तर्गत हैं किन्तु ये सब योगांग रूप नियम के अन्तर्गत होने के कारण जो योगयज्ञ है वे उनका अनुष्ठान करते हैं। इस कारण यहाँ (तपोयज्ञ में) उनका ग्रहण नहीं किया गया]।

योगयज्ञाः—चित्तवृत्तियों को निरोध कर परमात्मा के साथ योग लाभ करने के लिए जो लोग अष्टांग योग का (अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का) यज्ञबुद्धि से अनुष्ठान करते हैं उन्हें "योगयज्ञ" कहा जाता है। [अष्टांग योग के संबंध में षष्ठ अध्याय में विस्तृत रूप से कहा जायगा। चित्तवृत्ति निरोधरूप अष्टांग योग का ही जो यज्ञरूप से अनुष्ठान करते हैं वे "योगयज्ञ" हैं। इनमें "श्रोत्रादीनिन्द्रियाण्यन्ये" इस श्लोक में (४।२६) प्रत्याहार का वर्णन किया गया है एवं (४।२७) श्लोक में "आत्मसंयमयोगाग्नौ" की व्याख्या में संयम शब्द का अर्थ है धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का एकत्र अनुष्ठान करना, ऐसा कहा गया। प्राणायाम के विषय में (४।२९) श्लोक में कहा जायगा। अतः इस श्लोक में "योगयज्ञ" शब्द के द्वारा जो लोग यम, नियम, आसन इन तीनों योगांग के अभ्यास में तत्पर रहते हैं उन्हें समझा जायगा (मधुसूदन)]।

तथा अपरे स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च—इस प्रकार दूसरे मुमुक्षु स्वाध्याय में अर्थात् ऋक्, साम, यजुः, अथर्व इन चारों वेदों के यथाविधि अभ्यास करने में

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

भली-भाँति रत रहते हैं एवं वही वेदाध्ययन ही जिनके द्वारा यज्ञ रूप से अनुष्ठित होता है उन्हें "स्वाध्याययज्ञ" कहा जाता है। फिर शास्त्रार्थ का ज्ञान ही जिनका यज्ञ है अर्थात् युक्ति और विचारपूर्वक जो लोग वेदादि शास्त्र का अर्थ निर्णय करने के लिए व्यग्र होते हैं तथा उसका ही यज्ञ-बुद्धि से अनुशीलन करते हैं उन्हें "ज्ञानयज्ञ" कहा जाता है (तथा अपरे) संशित-व्रताः यतयः—इस प्रकार अन्य मुमुक्षु यतिगण (अर्थात् प्रयत्नशील मुमुक्षुगण) अपनी-अपनी निष्ठा में अत्यन्त तीक्ष्णव्रत या नियम रखकर यज्ञरूप से वही व्रत अनुष्ठान करते हैं। "संशितव्रताः" शब्द का अर्थ है शित अर्थात् तीक्ष्णीकृत (अत्यन्त दृढ़ीकृत) व्रत हुआ है जिनका वे। [व्रतों से जिनकी बुद्धि तीक्ष्णीकृत एवं अत्यन्त सूक्ष्म हुई है उनको भी "संशितव्रत" कहा जाता है। इसप्रकार सूक्ष्मबुद्धि प्राप्त होने पर ही परमात्मा का साक्षात्कार संभव होता है। इसलिए श्रुति में कहा गया है "दृश्यते तु अग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।] यही व्रत उनके यज्ञस्वरूप हैं। [वे व्रत किस प्रकार के होते हैं उसके संबंध में श्रीभगवान् पतञ्जलि ने इस प्रकार वर्णन किया है "ते जातिदेशकाल-समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्" (पातञ्जल योग दर्शन २।३३) अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँच यम जब इस प्रकार से अनुष्ठित होते हैं कि जाति, देश, काल एवं समय अर्थात् प्रयोजनविशेष द्वारा वे अविच्छिन्न (सीमाबद्ध) नहीं होते हैं अर्थात् सर्वजाति के संबंध में, सर्वदेश में, सर्वकाल में और सर्व प्रयोजन में जब उन्हें निरवच्छिन्न रूप से (लगातार) पालन किया जाता है तब दृढ़भूमि होने के कारण उनको "महाव्रत" कहते हैं क्योंकि वे अत्यधिक प्रयत्न से किये जाते हैं। यह महाव्रत दृढ़ होने पर नरक के द्वार-स्वरूप काम, क्रोध, लोभ और मोह इन चारों की निवृत्ति हो जाती है। इनमें (क) अहिंसा और क्षमा से क्रोध का, (ख) ब्रह्मचर्य्य और वस्तु के स्वरूप विचार करने से काम का, (ग) अस्तेय (चोरी न करना) और अपरिग्रह रूप सन्तोष से लोभ का, और (घ) सत्य अर्थात् यथार्थ ज्ञानरूप विवेक से मूल कारण अज्ञान के साथ मोह की भी निवृत्ति हो जाती है (मधुसूदन)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर द्रव्ययज्ञाः—द्रव्यदान ही जिनका यज्ञ है, वे। योगयज्ञाः—योग शब्द का अर्थ है चित्त वृत्तियों की निरोधरूप समाधि। इस प्रकार का समाधिरूप योग ही जिनका यज्ञ है, वे तपोयज्ञाः—कृच्छ्र-चान्द्रायणादि (तपस्या) ही जिनका यज्ञ है, वे स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च—स्वाध्याय अर्थात् वेद का श्रवण, मनन द्वारा वेद का अर्थ ज्ञान, वही जिनका

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

यज्ञ है, वे। अथवा स्वाध्याययज्ञाः—वेदपाठ ही जिनका यज्ञ है, वे और ज्ञानयज्ञाश्च—वेद का अर्थ ज्ञान ही जिनका यज्ञ है, वे [ऐसे दो प्रकार के] यतयः—प्रयत्नशील मुमुक्षु ओर संशितव्रताः—जिनके व्रत (नियम) सम्यक् प्रकार से शित अर्थात् भली-भाँति तीक्ष्ण किए हुए हैं वे। ['कोई-कोई द्रव्ययज्ञ, कोई-कोई तपोयज्ञ, कोई-कोई योगयज्ञ कोई-कोई स्वाध्याय ज्ञानयज्ञ, और कोई-कोई संशितव्रत यति' इस प्रकार श्लोक का अर्थ करना होगा।]

(२) शंकरानन्द—ये सब यज्ञ मुमुक्षुओं को करना कर्त्तव्य है यह सूचित करने के लिए पुनः दूसरे प्रकार के यज्ञों का वर्णन कर रहे हैं।

अपरे—जिनके संबंध में कहा गया है उनसे अन्य कोई मुमुक्षु द्रव्ययज्ञाः—द्रव्ययज्ञ हैं। 'सत्पात्र को शास्त्र के नियमानुसार श्रद्धासहित द्रव्य-निक्षेपण ही (द्रव्यदान ही) हमारा यज्ञ है' इस प्रकार की बुद्धि से जो द्रव्यदान करते हैं वे द्रव्ययज्ञ हैं। केचन तपोयज्ञाः—कोई तपोयज्ञ है। तपः अर्थात् 'चान्द्रायण प्राजापत्य आदि अथवा उपवास आदि रूप तप ही हमारा यज्ञ है" इस प्रकार की बुद्धि से जो तप करते हैं वे तपोयज्ञ हैं। फिर केचन योगयज्ञाः—कोई योगयज्ञ होते हैं। योग में अर्थात् आसन, प्राणायामादि अंगो से युक्त होकर योग अर्थात् चित्त की स्थिरता (समाधि) प्राप्त होना हो जिनके यज्ञ का लक्ष्य है वे योगयज्ञ हैं। इसी प्रकार केचन स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञाश्च—कोई स्वाध्यायज्ञानयज्ञ होते हैं। यज्ञ शब्द का प्रत्येक के साथ अर्थात् स्वाध्याय ओर ज्ञान शब्द के साथ संबंध है। इस कारण स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ इन दो रूपयज्ञों का यहाँ निर्देश किया गया। श्रुति में कहा गया है "तस्य वा एतस्य यज्ञस्य द्वावनध्यायौ यदात्माऽशुचिर्यद्देशः" अर्थात् इस यज्ञ का दो अनध्याय का परित्याग कर सर्वदा वेद का पारायण करना ही हमारा यज्ञ है इस प्रकार की विधि जो नियमपूर्वक पालन करते हैं उन्हें "स्वाध्याय-यज्ञ" कहा जाता है। इस प्रकार कोई ज्ञानयज्ञ होते हैं। "ज्ञान अर्थात् ज्ञान-शास्त्र का परिशीलन ही (अभ्यास ही) हमारा यज्ञ है" ऐसा समझकर जो सर्वदा ज्ञानशास्त्र का परिशीलन (अभ्यास) करते हैं उन्हें ज्ञानयज्ञ कहा जाता है। इस प्रकार मोक्ष के लिए यत्नशील संशितव्रताः यतयः सन्ति—अपनी अपनी निष्ठा में संशित (अति तीक्ष्ण) व्रत (नियम) जिनके हैं, वे संशितव्रत हैं। इस प्रकार संशितव्रत यति (संन्यासी) अनेक हैं (बहुत से हैं) इस श्लोक में जैसा कहा गया है उसके द्वारा द्रव्यत्याग में, तप में, योग में, स्वाध्याय व्रत में [(वेद की) आवृत्ति में] और ज्ञान-शास्त्र के परिशीलन में यज्ञत्व सूचित हो रहा है।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

(३) नारायणी टीका—पाँच प्रकार के यज्ञ का वर्णन २५ से २७ श्लोक तक किया गया है। वर्तमान श्लोक में और भी ६ प्रकार के यज्ञ का वर्णन किया जा रहा है। (क) द्रव्ययज्ञ शास्त्रविधि के अनुसार जो द्रव्ययाग करते हैं उन्हें "द्रव्ययज्ञ" कहा जाता है। दर्शपूर्णमासादि श्रौतकर्म देवयज्ञ के नाम से २५ वे श्लोक में अभिहित हुआ है। इस श्लोक में द्रव्ययज्ञ शब्द के द्वारा पूर्व अर्थात् तालाब, कुआँ प्रभृति का खनन, अन्नदान, देवालय निर्माण, छायावृक्षादि का रोपण और दत्त अर्थात् देश, काल व पात्र की विवेचना कर दान, शरणागत की रक्षा एवं सर्वभूत में अहिंसारूप स्मार्त (स्मृतिशास्त्रविहित) कर्म को समझा जा रहा है। (ख) तपोयज्ञ—कृच्छ्र चान्द्रायण आदि उपवासरूप तप ही जिनके यज्ञ हैं उन्हें "तपोयज्ञ" कहा जाता है। [क्षुधा, पिपासा, शीतोष्ण, मानापमानादि के सहन तथा अन्य प्रकार के तप नियमरूप योगांग के अन्तर्गत होने के कारण जो "योगयज्ञ" हैं वे ही उन सब का अनुष्ठान करते हैं]। अति कृच्छ्रचान्द्रायण व्रत—पहले तीन दिन दिवा भाग में कुक्कुटांड (मुरगी का अंडा) के समान तीन ग्रास अन्न, दूसरे तीन दिन सायं-काल में उक्त प्रकार ३ ग्रास अन्न, तृतीय दिवस पर अयाचित भाव से प्राप्त अन्न का ३ ग्रास और अन्तिम तीन दिन निराहार होकर रहना पड़ता है। चान्द्रायणव्रत में त्रिसन्ध्या में स्नान कर पौर्णमासी में कुक्कुटांड के समान पन्द्रह ग्रास, प्रतिपदा में चौदह ग्रास, द्वितीया में तेरह ग्रास इसी प्रकार प्रतिदिन एक-एक ग्रास घटाकर अमावस्या में उपवास करना पड़ता है। फिर प्रतिपद में एक ग्रास, द्वितीया में दो ग्रास, एवं इसी प्रकार प्रतिदिन एक-एक ग्रास अन्न बढ़ाकर पौर्णमास में पन्द्रह ग्रास अन्न ग्रहण करने की विधि है। दैहिक और मानसिक पाप निवृत्ति के लिए ये सब यज्ञ अनुष्ठित होते हैं। (ग) योगयज्ञ—योग शब्द का अर्थ चित्त की वृत्तियों का निरोध है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ योग के अंग (साधन) हैं। प्राणायाम को २९ वे श्लोक में वर्णन किया जायगा। २७ वे श्लोक में संयम यज्ञ और २८ वे श्लोक में आत्मसंयम का उल्लेख कर धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन किया गया है। अतः वर्तमान श्लोक में अवशिष्ट यम, नियम और आसन इन तीनों को योगशब्द द्वारा समझा रहे हैं। पातञ्जल-योगदर्शन में इनके सम्बन्ध में ऐसा कहा गया है—"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्म-चर्य्यापरिग्रहाः यमाः" और 'शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' और 'स्थिरसुखमासनम्'। यमादि पञ्च—(क) अहिंसा—शास्त्रविहित प्राणी-वध के विना दूसरे किसी प्रकार को प्राणी की हिंसा न करने को अहिंसा कहा

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

जाता है। (ख) जिस प्रकार देखा व सुना जाता है ठीक उसी प्रकार कहना ही सत्य है। (ग) परद्रव्य चोरी न करना अथवा उस द्रव्य के प्रति लोभ न करने को अस्तेय कहा जाता है। (घ) स्त्रीपुरुष के लिये शास्त्रद्वारा निषिद्ध मैथुन न करने का नाम ब्रह्मचर्य है। (ङ) देहयात्रा निर्वाह करने के उपयोगी भोगसाधन से अधिक वस्तु का संग्रह न करने को अपरिग्रह कहा जाता है। नियमादि पञ्च ऐसे हैं—(क) मृत्तिका जल इत्यादि द्वारा शरीरादि साफ करने को वाह्य शौच कहा जाता है। (ख) मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा इत्यादि द्वारा अन्तकरण के मल को नाश करने से आभ्यन्तर शौच होता है। (ग) जो कुछ प्रारब्धवश प्राप्त होता है, उसी में यदि कोई तृप्त रहे तो उसे सन्तोष कहा जाता है। (घ) क्षुधा, तृष्णा, मान, अपमान, शीत, उष्ण इत्यादि सहन एवं मौन-व्रतादि धारण करने को तप कहते हैं। (ङ) भगवान् के नाम का जप करने को स्वाध्याय–कहा जाता है। (च) फलाकांक्षा-शून्य होकर भगवान् को सर्व कर्म समर्पण करने को ईश्वर प्रणिधान कहा जाता है। ये सब ही योगयज्ञ के अन्तर्गत हैं। (छ) स्वाध्याय यज्ञ—जो लोग विधिपूर्वक वेदाध्ययन करते हैं वे [योगयज्ञ में जिस स्वाध्याय का उल्लेख किया गया है वह भगवान् के नाम का जपरूप स्वाध्याय है ! यहाँ स्वाध्याय शब्द का अर्थ है नियमित रूप से एवं एकाग्रचित्त से वेदपाठ। यही विशेषत्व है।] (ज) ज्ञानयज्ञ—पहले ज्ञानयज्ञ अथवा आत्मयज्ञ का वर्णन किया गया है। यहाँ वेदाध्ययन कर युक्ति से उसके अर्थ को निश्चय करना "ज्ञानयज्ञ" कहा जाता है। (झ) संशितव्रतयज्ञ—पातञ्जल योगशास्त्र में जिसे 'महाव्रत' कहा गया है उसी को यहाँ संशितव्रत कहा गया है। "ते जाति-देश-कालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्" अर्थात् जाति, देश, काल और प्रयोजन द्वारा जब अहिंसा प्रभृति यम के अंग विच्छिन्न नहीं होते हैं तब उसे सार्वभौम महाव्रत कहा जाता है। विहित यज्ञादि कर्म में पशु की हिंसा करना, विवाह आदि में मिथ्या कहना, आपत् काल में अर्थात् प्राण का संकट उपस्थित होने पर चोरी करना, ऋतु काल में अपनी पत्नी के पास गमन करना एवं गुरु के प्रयोजन की सिद्धि करने के लिए परिग्रह करना ये सब शास्त्र द्वारा अनुमोदित होने पर भी जो दृढ़व्रत होकर सर्व जाति के संबंध में, सर्वदेश में, सर्वकाल में और सर्व प्रयोजन में यम और नियमादि का एक ही प्रकार से अनुष्ठान करते हैं वे ही 'संशितव्रत' हैं। [जो उक्त प्रकार से यज्ञकर्म सम्पादन करते हैं वे द्रव्ययज्ञ, योगयज्ञ इत्यादि नामों से अभिहित किये जाते हैं]।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

[अब मुमुक्षु के प्राणायाम रूप यज्ञ का वर्णन किया जा रहा है]

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

अन्वयः—अपरे अपाने प्राणं (जुह्वति) (तथा अपरे) प्राणे अपानं जुह्वति (तथा अपरे) प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः (भवन्ति) ।

अनुवाद—दूसरे योगिगण अपान में प्राण का हवन करते हैं अर्थात् पूरक नामक प्राणायाम करते हैं, और कोई-कोई प्राण में अपान का हवन करते हैं अर्थात् रेचक नामक प्राणायाम करते हैं। दूसरे योगिगण प्राण और अपान की गति रुद्ध कर प्राणायामपरायण होते हैं (अर्थात् कुम्भक नामक प्राणायाम का अनुष्ठान करते हैं)।

भाष्यदीपिका—अपरे—दूसरे कोई-कोई योगी अपाने—अपान वृत्ति में (अपान वायु में) अर्थात् मुख और नासिकारूप पथ से वहिःस्थित वायु को शरीर के आभ्यन्तर (भीतर) प्रवेश कराकर प्राणम्—प्राणवृत्ति को जुह्वति—हवन (प्रक्षेप) करते हैं अर्थात् पूरक नामक प्राणायाम करते हैं। ऐसी अवस्था में प्राणवृत्ति का लय हो जाता है एवं केवल अपान वृत्ति चलती रहती है (केवल बाहर के वायु की प्रवेशरूप क्रिया प्रश्वास द्वारा चलती रहती है) एवं जब तक इस प्रकार की अवस्था रहती है तबतक निःश्वास द्वारा भीतर की वायु का बहिर्गमन बन्द रहता है तथा अपरे प्राणे—अन्य कोई-कोई योगिगण प्राणवृत्ति में अपानम्—अपान वृत्ति को जुह्वति—हवन (प्रक्षेप) करते हैं अर्थात् शरीर के मध्यवर्ती वायु को बाहर निःसरण करने के (निकाल देने के) पश्चात् रेचक नामक प्राणायामक्रिया करते हैं। तथा अपरे—और-और योगिगण प्राणापानगती रुद्ध्वा—प्राण और अपान की गति निरोधकर [शरीर के अन्तर्गत वायु का मुख और नासिका द्वारा निर्गमन को प्राण की गति कहा जाता है और उसके विपरीत भाव से आभ्यन्तर वायु की अधो-गति को अपान की गति कहा जाता है। इन दो प्रकार की वायु की गति को रोधकर अथवा वायु के वहिर्निर्गमन रूप जो श्वास क्रिया है, उसे प्राणगति कहा जाता है और जो वहिःस्थित वायु का शरीर के भीतर प्रवेश (जिसे प्रश्वास कहा जाता है) इससे अपानगति का निरोध होता है, रेचक करने से अपान गति का निरोध होता है और कुम्भक करने से दोनों की ही गति का निरोध होता है। इस प्रकार क्रमिक भाव से अर्थात् पहले पूरक करके प्राण-गति का निरोध कर एवं बाद में रेचक करके अपानगति का निरोधकर अन्त में

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

कुम्भक कर दोनों की गति का रोधकर अथवा एक साथ श्वासप्रश्वास को रोककर अर्थात् एकसाथ प्राण और अपान की गति निरुद्धकर कुम्भक करके (मधुसूदन)] प्राणायामपरायणाः भवन्ति—प्राणायाम में तत्पर होते हैं अर्थात् कुम्भक नामक प्राणायाम करते हैं।

टिप्पणी—(१) मधुसूदन (क) अपानवृत्ति—भाष्यकार शरीरान्तर्गत वायु का मुख और नासिका द्वारा बहिर्गमन को प्राण की गति और उसके विपरीत भाव से वायु के अधोगमन को अपान की गति कहते हैं। किन्तु मधुसूदन सरस्वती प्रभृति टीकाकारों ने बहिर्निर्गत वायु की शरीर में प्रवेशरूप (प्रश्वासरूप) क्रिया को अपानगति कहा है। (ख) कुम्भक—कुम्भक दो प्रकार के हैं—(क) अन्तःकुम्भक (ख) बहिःकुम्भक। इनमें यथाशक्ति बाहर की वायु को खींचकर शरीर को पूरणकर अर्थात् पूरक कर जो श्वास और प्रश्वास का निरोध करने से अन्तःकुम्भक होता है और यथाशक्ति अन्तर्गत वायु का त्याग कर अर्थात् रेचन कर श्वास और प्रश्वास की क्रिया को रोकने का नाम बहिःकुम्भक है। श्लोक में "अपाने जुह्वति प्राणम्" अर्थात् पूरक नामक प्राणायाम का उल्लेख कर अन्तःकुम्भक का निर्देश किया गया है और "प्राणेऽपानं तथापरे" अर्थात् रेचक प्राणायाम का उल्लेख कर बहिःकुम्भक का निर्देश किया गया है। पूरक और रेचक इन दोनों को एकसाथ रुद्ध कर जो कुम्भक होता है वह तृतीय प्रकार का कुम्भक है। "प्राणापानगती रुद्ध्वा" कहकर इसी कुम्भक को ही निर्देश किया गया है।

(३) श्रीधर—३० श्लोक की टिप्पणी में देखिए।

(४) शंकरानन्द—प्राणायाम भी पापों का क्षय (नाश) चाहने वाले मुमुक्षु का यज्ञ ही है। अतः मुमुक्षु के लिए वह कर्तव्य है, यह सूचित करने के लिए कह रहे हैं।

तथा अपरे—इसी प्रकार कोई मुमुक्षु अपाने—अपानवृत्ति में अर्थात् वायु जिस नाड़ी में प्रवेश करती है उसी नाड़ी में प्राणम्—प्राणवृत्ति का जुह्वति—हवन करते हैं। दोनों नासिकाओं में तत्—तत्काल को जानकर पूरक नामक प्राणायाम करते हैं। इसी प्रकार कोई प्राणे—प्राण की वृत्ति में अर्थात् वायु जिस नाड़ी के द्वारा निर्गमन करती है (निकलती है) उस नाड़ी में अपानम्—अपान वृत्ति को जुह्वति—हवन करते हैं अर्थात् रेचक नामक प्राणायाम ही करते हैं। और कोई-कोई प्राणापानगती रुद्ध्वा—प्राण और अपान की गति को रोध (रोक) कर—मुख और नासिका द्वारा वायु का

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

वहिर्गमन ही प्राण की गति है और उन्हीं मुख और नासिका द्वारा वायु का भीतर प्रवेश अपान की गति, इन दोनों को निरोधकर **प्राणायामपरायणाः भवन्ति**—प्राणायाम में निरत होते हैं अर्थात् केवल कुम्भक नामक प्राणायाम करते हैं। अथवा **अपरे**—दूसरे कोई **प्राणायामपरायणाः**—प्राणायाम में निरत मुमुक्षु **प्राणापानगती रुद्ध्वा**—प्राण और अपान दोनों की गतियों को मुख और नासिका से वायु के निर्गमन और प्रवेश को त्रिकूट में निरोधकर तत्पश्चात् हृदय में **प्राणे अपानं तथा अपाने प्राणं च जुह्वति**—प्राण में अपान का और अपान में प्राण का हवन (निक्षेप) करते हैं। प्राण के साथ अपान को और अपान के साथ प्राण को युक्त करते हैं अर्थात् प्राण और अपान को एक करते हैं। ऐसा करने से सकल नाड़ियों में स्थित सकल पाप भस्मीभूत हो जाते हैं, यही कहने का अभिप्राय है। अथवा **प्राणे अपानं जुह्वति**—प्राण में अपान का हवन करते हैं अर्थात् पूरक करते हैं। उसके बाद **प्राणापानगती रुद्ध्वा**—प्राण और अपान की गति रोधकर अर्थात् कुम्भक प्राणायाम कर **अपाने प्राणं जुह्वति**—अपान में प्राण का होम करते हैं अर्थात् रेचक प्राणायाम करते हैं। इस प्रकार की योजना करनी चाहिए।

(५) **नारायणी टीका**—३० श्लोक की टिप्पणी द्रष्टव्य है।

[मुमुक्षुगण पूर्व श्लोक में प्राण और अपान की गति को (अर्थात् श्वास व प्रश्वास को) निरोध करके कैसे रहते हैं इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि वे प्राण और अपान की गति को, निरोधरूप कुम्भककर पुनः-पुनः वायु को जय करते हैं (आनन्दगिरि)]

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

अन्वयः—अपरे नियताहाराः प्राणेषु प्राणान् जुह्वति। एते सर्वे अपि यज्ञविदः यज्ञक्षपितकल्मषाः (भवन्ति)।

अनुवाद—दूसरे योगीगण नियत [परिमित, हित और मेध्य (पवित्र)] आहार ग्रहण कर प्राणवायु में प्राण को हवन करते हैं। वे सभी यज्ञविद् हैं (यज्ञ के जाननेवाले हैं) और वे यज्ञ के द्वारा सकल पाप का विनाश करते हैं।

भाष्यदीपिका—**अपरे**—दूसरे योगीगण **नियताहाराः**—परिमित, हित और मेध्य (पवित्र) आहार कर अर्थात् आहार के संबंध में संयमी

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

होकर। [परिमित आहार के संबंध में इस प्रकार का नियम है—"पूरयेदशनेनार्द्धं तृतीयमुदकेन तु। वायोः सञ्चारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्" अर्थात् भोजन के द्वारा उदर का अर्द्धभाग पूरण करना उचित है—एक चतुर्थांश भाग जल द्वारा पूरण करना चाहिए और अविशिष्ट एक चतुर्थांश वायु के संचालन (चलन) के लिए रखना चाहिए। प्राणान्—प्राणों को अर्थात् वायु के भिन्न-भिन्न भेदों यथा-प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान उन्हें [अथवा मधुसूदन सरस्वती के मत से ज्ञानेन्द्रयों और कर्मेन्द्रियों को] प्राणेषु—प्राणों में [अथवा वाह्य आभ्यन्तरिक कुम्भक का अभ्यास द्वारा निगृहीत (निरुद्ध) प्राण को वृत्तियों में (मधुसूदन)] जुह्वति—आहुति प्रदान करते हैं। पूर्व श्लोक में प्राणवायु को पूरक नामक प्राणायाम द्वारा, अपान वायु को रेचक नामक प्राणायाम द्वारा और प्राण और अपान दोनों वायु को कुम्भक नामक प्राणायाम द्वारा जय किया जा सकता है—यह कहा गया है। जो जिस-जिस वायु को वशीभूत (जय) कर लेते हैं वे उसी वायु में वायु के भेदों को हवन कर देते हैं अर्थात् वायु के दूसरे सब भेद वशीभूत वायु में विलीन से हो जाते हैं।

[अब पूर्वोक्त द्वादश प्रकार के यज्ञों को जो अनुष्ठान करते हैं उनको क्या फल मिलता है ? वही कहा जा रहा है—]

एते सर्वे अपि—वे सभी यज्ञविदः—यज्ञों को जाननेवाले (ज्ञाता) हैं और अनुष्ठाता हैं। ['यज्ञं विदन्ति'—इसी व्युत्पत्ति के अनुसार 'यज्ञविदः' शब्द का अर्थ होता है—यज्ञों के स्वरूप जो जान लिए हैं फिर 'यज्ञं विदन्ति' इस प्रकार की व्युत्पत्ति के अनुसार 'यज्ञविदः' शब्द का अर्थ है—जो लोग यज्ञ लाभ किये हैं अर्थात् यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं]। एवं वे यज्ञक्षपितकल्मषाः—पूर्वोक्त २४ से ३० श्लोक पर्यन्त कथित यज्ञों द्वारा उनके कल्मष (सकल पाप) क्षपित (नष्ट) होते हैं। [पूर्वोक्त सकल यज्ञों को जो जानते हैं और अपने-अपने अधिकार के अनुसार उनका अनुष्ठान करते हैं वे सभी समस्त पापों से मुक्त होकर चित्तशुद्धि लाभ कर अन्त में तत्त्वज्ञान को प्राप्त होते हैं, यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—"प्राणान् प्राणेषु जुह्वति" इस वाक्य का इस प्रकार अर्थ है—अपरे—पूर्वोक्त यज्ञों का जो लोग अभ्यास करते हैं उनसे विलक्षण नियताहाराः—आहार के संबंध में नियम (संयम) रूप योगसाधन विशिष्ट होकर प्राणेषु—बाह्य और आभ्यन्तर कुम्भक के अभ्यास द्वारा

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

निगृहीत (निरुद्ध) प्राण की वृत्तियों में प्राणान्—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय-रूप प्राणों को अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों को, कर्मेन्द्रियों को और उनकी वृत्तियों को जुह्वति—आहुति प्रदान करते हैं (प्राण वृत्तियों में लय कर देते हैं)। [चार प्रकार के कुम्भक हैं-(१) पूरक नामक प्राणायाम करने पर प्राण की गति का निरोध होता है—यह प्रथम कुम्भक है। [मुख और नासिका द्वारा शरीरा-न्तर्गत (शरीर के भीतर रहनेवाली) वायु की बहिर्निगमन रूप जो श्वास-क्रिया है (जिसको पूरक कहा जाता है) उसे प्राणगति कहते हैं। (२) बहिर्निर्गत वायु की जो शरीराभ्यन्तर प्रवेशरूप प्रश्वास क्रिया है (बाहर की वायु को अन्दर ले आना रूप क्रिया है जिसे रेचक कहा जाता है) वही अपान गति है। रेचक करने से अपान गति का निरोध होता है—द्वितीय प्रकार का कुम्भक है। (३) ओर प्राणगति और अपानगति इन दोनों को एक साथ निरोध करने पर वह तृतीय प्रकार का कुम्भक होता है। (४) चतुर्थ प्रकार के कुम्भक का अब वर्णन किया जा रहा है—]

भगवान् पतञ्जलि ने इन सबको ही संक्षिप्त रूप से और विस्तृत रूप से योगसूत्रों में निबद्ध किया है। प्राणायाम के सम्बन्ध में पातञ्जल योगसूत्र में इस प्रकार कहा गया है—"तस्मिन् सतिश्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः प्राणायामः" (पा० द० २।४९) अर्थात् आसन में स्थिरता लाभ होने पर श्वास और प्रश्वास की गति का विच्छेद होना ही प्राणायाम का लक्षण है। श्वास और प्रश्वास की गति ही प्राण तथा अपान का धर्म है। वह गति पुरुष के प्रयत्न विना ही स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होती रहती है। पुरुष के प्रयत्न-विशेष द्वारा क्रम से अथवा एकसाथ उस गति का जो विच्छेद अथवा निरोध किया जाता है, वही प्राणायाम का लक्षण या स्वरूप है। इसलिए पातञ्जल योगदर्शन में कहा गया है—"बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परि-दृष्टो दीर्घसूक्ष्मः" (पा० द० २।५०) अर्थात् बाह्यवृत्ति (पूरक), आभ्यन्तर-वृत्ति (रेचक) और स्तम्भवृत्ति (कुम्भक) देशकाल और संख्या द्वारा परीक्षित होने पर दीर्घ एवं सूक्ष्म होते हैं। ["पूरक"=बाह्यगति का निरोध= बाह्यवृत्ति; रेचक=आन्तरगति का निरोध=आभ्यन्तरवृत्ति। कोई-कोई बाह्यवृत्ति=रेचक और आन्तरवृत्ति=पूरक, इस प्रकार की व्याख्या करते हैं—"कुम्भक" = एक साथ उभयवृत्ति का अर्थात् बाह्य और आन्तरवृत्ति का निरोध = स्तम्भवृत्ति]। जिस प्रकार घन (जमा हुआ) रुई के पिण्ड को प्रसारित करने पर वह विरल होकर (पतला होकर) दीर्घ और सूक्ष्म होता है, उसी प्रकार प्राणों का भी अभ्यास के द्वारा देश, काल और संख्या के

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

आधिक्य के अनुसार दीर्घ होता है और उस समय प्राण की गति दुर्लंघ्य होने के कारण (अर्थात् अनायास उपलब्ध न होने के कारण) सूक्ष्म भी होती है। साधारणतः श्वासवायु हृदय से निर्गत होकर नासिका (नाक) के अग्रभाग से बारह अंगुलियाँ दूर जाकर समाप्त हो जाती है फिर वही परिमित स्थान से (अर्थात् बारह अंगुलियाँ दूर से) लौटकर हृदय देश में प्रविष्ट होती है—ऐसी प्राण और अपान की अर्थात् श्वास और प्रश्वास की स्वाभाविक गति है। किन्तु अभ्यास करने से क्रमशः यह नाभि से या मूलाधार से निर्गत होकर नासिका (नाक) से २४ या ३६ अंगुलियाँ दूरवर्त्ती स्थान में जाकर समाप्त होती है। इस प्रकार श्वास भी उस परिमाण देश से (२४ या ३६ अंगुलियाँ दूरवर्ती स्थान से) भीतर में प्रवेश करता है, ऐसा समझना होगा। इसमें श्वास और प्रश्वास की क्रिया बाह्य देश में (बाहर) कितनी दूर तक व्याप्त हुई है इसका वायुहीन स्थान पर ईषिकादि की (सूक्ष्म रुई की) क्रिया द्वारा अनुमान किया जाता है अर्थात् क्रमशः अधिक-से-अधिक दूरी पर रुई रखकर श्वास का त्याग करने पर यदि वह कम्पित होता है (काँपता है तो) तब समझना होगा कि उतनी दूर तक श्वास की (रेचक की) गति व्याप्त हुई है। पूरक के सम्बन्ध में भी अन्तर के (शरीर में) पिपीलिका (चींटी) के स्पर्श को तरह स्पर्श द्वारा (अर्थात् पाँव से मस्तक तक कितने दूर स्थान तक उस प्रकार के स्पर्श का अनुभव होता है उसके द्वारा) पूरक की शरीर में देश-व्याप्ति (पूरक कितने स्थान पर व्याप्त है वह) अनुमानित हो सकती है। यही है प्राणायाम की देशपरीक्षा। उस प्रकार की निमेष क्रिया द्वारा अविच्छिन्न (व्याप्त) काल के (जिस परिमाण समय में दोनों चक्षुपल्लव का संयोग होता है उतने समय के) चतुर्थ भाग का नाम क्षण है। उस क्षणादि के परिमाण का अवधारण करना होगा अर्थात् पूरक, रेचक और कुम्भक कितने देर तक स्थायी होते हैं उसे जानना होगा। फिर अपने जानुमण्डल में तीन बार हाथ घुमाकर एकबार चोटिका (चुटकी) बजाने में जितनी देर लगती है उसे मात्रा कहा जाता है। मात्रा तीन प्रकार की है—मृदु, मध्य और तीव्र। ३६ मात्रा में जो प्रथम उद्घात होता है उसे मन्द कहा जाता है उसे द्विगुण करने से अर्थात् बहत्तर (७२) मात्रा में जो द्वितीय उद्घात होता है उसे मध्यमात्रा कहा जाता है और उसको तीनगुण कर अर्थात् एक सौ आठ (१०८) मात्रा में जो तृतीय उद्घात होता है वह तीव्र होता है। [नाभिमण्डल से प्रेरित विरिच्यमान (रेचक) वायु मस्तक में जो अभिघात उत्पादन करती है उसे उद्घात कहते हैं]। यही है प्राणायाम की काल-परीक्षा। प्रणव जप की

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

आवृत्ति भेद से अथवा श्वास के प्रवेश की गणना द्वारा संख्या परीक्षा होती है। काल और संख्या में कुछ भेद है—यह कहने के लिए ही इनका पृथक् रूप से निर्देश किया गया है। यद्यपि कुम्भक नामक प्राणायाम में देश-व्याप्ति नहीं समझी जा सकती है (कारण श्वास के त्याग या ग्रहण द्वारा ही देश-परीक्षा सम्भव है) तथापि उसकी काल और संख्या-व्याप्ति अवश्य ही अनुभूत होती है। इस प्रकार प्राणायाम प्रतिदिन अभ्यस्त होते रहने पर वह दिवस, पक्ष और मासादि के क्रमानुसार अधिक से अधिकतर देश और कालव्यापी होता है। इस कारण उसे दीर्घ कहा जाता है। फिर परम (अतिशय) निपुणता के साथ उसे समधिगत (आयत्त) किया जाता है इस कारण इसे सूक्ष्म कहा जाता है। इस रूप से तीन प्रकार का प्राणायाम निरूपित हुआ है। इन तीन प्रकार के प्राणायाम के फल रूप से जो चतुर्थ प्राणायाम होता है उसके संबंध में योगसूत्र में ऐसा कहा गया है "बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपः चतुर्थः" (पा० सू० २।५१) अर्थात् बाह्य (बाहर) और अन्तर (भीतर) के विषयों से निरपेक्ष जो प्राणायाम है वही चतुर्थ प्राणायाम है। जिस श्वास के बाह्य हो विषय है [अर्थात् बाहर जाकर समाप्त होता है] उसे रेचक कहा जाता है। जिस प्रश्वास के विषय आभ्यन्तर (शरीर के भीतर) है [अर्थात् बाहर से आकर भीतर समाप्त होता है] उसे पूरक कहा जाता है। [अथवा उक्त प्रकार के विपरीत भाव का नाम यथाक्रम से पूरक और रेचक है] श्वास बाहर रहे कि भीतर रहे दोनों की अपेक्षा कर एक बार बलपूर्वक प्रयत्न द्वारा विशेष रूप से श्वास और प्रश्वास की क्रिया को धारण करने पर (रोकने से) तृतीय प्रकार का कुम्भक होता है। यह कुम्भक भी बाह्याभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का होता है। और केवल मात्र कुम्भक के अभ्यास की पटुता द्वारा बाह्य या आभ्यन्तर विषय की अपेक्षा न कर ही बार-बार प्रयत्न द्वारा जो कुम्भक होता है वही चतुर्थ प्रकार का कुम्भक है। उक्त पातञ्जल सूत्र की दूसरे प्रकार की व्याख्या भी की जा सकती है। यथा बाह्य विषय है द्वादशान्तादि (अर्थात् बारह अंगुली, चौबीस अंगुली इत्यादि देशपरिमाण) और आभ्यन्तर विषय है नाभिचक्रादि (मणिपूर, अनाहत, आज्ञा इत्यादि चक्र) इन दोनों विषयों को आक्षिप्त पर्यालोचना कर जो स्तम्भनरूप गतिविच्छेद (प्राण और अपान की गति का निरोध) होता है वही चतुर्थ प्राणायाम है। पक्षान्तर में कुम्भक रूप जो तृतीय प्राणायाम है वह बहिर्विषय तथा आभ्यन्तर विषय की पर्यालोचना विना ही सहसा होता है। यही तृतीय प्राणायाम (कुम्भक) और चतुर्थ प्राणायाम में विशेषता अर्थात् पार्थक्य है। "अपाने जुह्वति प्राणम्"

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

इत्यादि से "प्राणान् प्राणेषु जुह्वति" तक डेढ़ श्लोक में ये चारों प्राणायाम ही दर्शित हुए हैं (वर्णित हुए हैं)।

(२) श्रीधर—[२९ और ३० इन दोनों श्लोकों की व्याख्या इस प्रकार की गई है ।]

अपाने जुह्वति प्राणम्—कोई अधोवृत्ति (अधोगामी) अपान में अर्द्ध वृत्ति (ऊद्ध्र्वगामी प्राण) को पूरक प्राणायाम से आहुति देते हैं अर्थात पूरक प्राणायाम करते समय अपान के साथ-साथ प्राण को एक करते हैं ।

प्राणेऽपानं तथापरे—कोई कुम्भक द्वारा यथाक्रम से प्राण और अपान की ऊद्ध्र्व और अधोगति का रोध (रोक) कर रेचक प्राणायाम करते समय अपान वायु को प्राण में होम करते हैं । इस प्रकार पूरक, रेचक और कुम्भक द्वारा प्राणायामपरायण होते हैं अथवा—"अपाने जुह्वति तथाऽपरे" इस प्रकार साधन द्वारा पूर्वोक्त रीति से पूरक और रेचक के आवर्तन द्वारा अर्थात् पूरक व रेचक पुनः पुनः करते रहने से पूरक द्वारा "हंसः" और रेचक द्वारा "सोऽहम्" इस प्रकार अनुलोम और प्रतिलोम क्रम से अजपा अभिव्यक्त (प्रकाशित) होता है। उस अजपा मन्त्र से महावाक्योक्त 'तत्' एवं 'त्वम्' पद के अर्थस्वरूप ब्रह्म और जीव का ऐक्य अनुभव करते हैं अर्थात् व्यतिहार से (उलट फेर कर) "ब्रह्म मैं हूँ" और "मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकार भावना करते हैं । योगशास्त्र में भी ऐसा ही कहा गया है "सकारेण वहिर्याति हकारेण विशेत् पुनः। प्राणस्तत्र स एवाहं हंस इत्यनुचिन्तयेत् ।" अर्थात् 'स'-कार से प्राण वायु बाहर निकलती है, 'ह'-कार से फिर वायु भीतर भर जाती है । अतः योगी प्राण के बाहर जाने के समय 'सोऽहम्' 'वही मैं हूँ' और फिर प्राण के भीतर जाने के समय 'हंसं' 'मैं वह हूँ' इस प्रकार की भावना करते हैं । प्राणापानगती रुद्ध्वा, प्राणायामपरायणाः अपरे नियताहारा प्राणान् प्राणेषु जुह्वति—इस वाक्य के द्वारा दूसरे योगी किस प्रकार प्राणायाम यज्ञ करते हैं वह कहा जा रहा है। योगशास्त्र के उपदेश के अनुसार उदर का दो भाग अन्न से और एक भाग जल द्वारा पूर्ण करना चाहिए तथा वायु के विचरण करने के लिए चौथे भाग को खाली रखना चाहिए । इस प्रकार नियत (परिमित) आहार जिनका है वे साधक कुम्भक प्राणायाम से प्राण और अपान की गति का रोध कर प्राणायामपरायण होकर इन्द्रियरूप प्राणों को अर्थात् इन्द्रियों को प्राणों में होम करते हैं (लय करते हैं)। कुम्भक में समस्त प्राण एकीभूत होते हैं (एक हो जाते हैं) और उसी कुम्भक में ही इन्द्रिय को लय करके उसे (उस कर्म को) होम के रूप में चिन्तन करते हैं। इस कारण योग-

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

शास्त्र में कहा गया है "यथा यथा सदाभ्यासान्मनसः स्थिरता भवेत्। वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा" अर्थात् सदा अभ्यासवश मन की जैसी-जैसी स्थिरता होती जाती है वायु, वाणी, शरीर और दृष्टि की भी वैसी वैसी स्थिरता हो जाती है। [कुम्भक में सकल इन्द्रियों की स्थिरता प्राप्त होने के कारण उसे ही इन्द्रियों का होम कहा गया है [इस प्रकार कहे हुए बारह प्रकार के यज्ञों को जानने वाले का फल बताते हैं।]

सर्वे अपि एते यज्ञविदः—ये सभी यज्ञों को अर्थात् पूर्वोक्त द्वादश प्रकार के यज्ञों को जानने वाले हैं "यज्ञान् विदन्ति इति यज्ञज्ञाः" अर्थात् ये सभी यज्ञों का स्वरूप यथार्थ भाव से जानते हैं। अथवा यज्ञान् विदन्ति लभन्ते वेति यज्ञविदः अर्थात् जो यज्ञों को प्राप्त होते हैं वे यज्ञविद् हैं अर्थात् इस प्रकार यज्ञों का भली भाँति अनुष्ठान करते हैं। ऐसा यज्ञविद् यज्ञक्षपितकल्मषाः—यज्ञ द्वारा कल्मष अर्थात् सकल पापों को क्षपित (नष्ट) कर देते हैं अर्थात् निष्पाप हो जाते हैं।

शंकरानन्द—[श्लोक ३०-३१]

फिर अपरे—कुछ दूसरे मुमुक्षु नियताहाराः—स्वल्प आहार (अर्थात् दूध आदि अल्प आहार) कर भीतर के वायुओं को वश करने के लिए प्राणान्—अन्तर्वायु को (भीतर की वायु को) प्राणेषु—प्राणसकल में अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन वायुभेदों में जुह्वति—हवन करते हैं अर्थात् वस्ति, धौति आदि क्रियाओं से भीतर का शोधन करते हैं। इस प्रकार दैवादि यज्ञों का (इस श्लोक तक जितने यज्ञ का वर्णन किया गया है उनका) नियमपूर्वक जो अनुष्ठान करते हैं, उनके तत्तत् यज्ञानुष्ठान का क्या फल होता है वही वर्णन कर रहे हैं—सर्वे अपि एते यज्ञविदः—"यज्ञान् विदन्ति" अर्थात् जो लोग यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं वे यज्ञविद् हैं अर्थात् पहले जिनके संबंध में कहा गया है वे दैवादियज्ञों का अनुष्ठान करनेवाले सभी यज्ञशिष्टामृतभुजः—यज्ञ के अनुष्ठान के अनन्तर (पश्चात्) उन यज्ञानुष्ठानकारियों का भोजन होने के कारण इनके अन्न को यज्ञशिष्ट कहा जाता है। यज्ञशिष्ट होने के कारण वह अन्न अमृत हो जाता है एवं उस अमृत का वे भोजन करते हैं इस कारण वे यज्ञशिष्टामृतभोजी हैं अथवा यज्ञ का अनुष्ठान करके जो काल या समय शिष्ट (अवशिष्ट) रहता है वहीं यज्ञशिष्ट है। यज्ञादि का अनुष्ठान नित्य करना चाहिए अतः यज्ञशिष्ट काल भी नित्य और नियमित रहने के कारण उसे अमृत कहा जाता है। भोजन के

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

साथ संबंध रहने के कारण "अमृत" शब्द द्वारा इस स्थान पर "काल" को ही समझा जायगा। यज्ञानुष्ठान से अवशिष्ट जो अमृतरूप काल है, उसमें भोजन करते हैं, अतः यज्ञशिष्टामृतभोजी है। तथा यज्ञक्षपितकल्मषाः—नियमपूर्वक अनुष्ठित यज्ञ द्वारा "क्षपित" अर्थात् नष्ट हुए हैं "कल्मषाः" (पाप) जिनके, वे "यज्ञक्षपितकल्मष" हैं अर्थात् यज्ञानुष्ठान द्वारा ज्ञान के सकल प्रतिबन्धक को वे निःशेष (विनष्ट) कर देते हैं। ऐसे होकर वे सनातनं ब्रह्म यान्ति—एक बार सद्गुरु का उपदेश सुनकर ही आत्मज्ञान प्राप्त करके 'सनातन' अर्थात् सच्चिदानन्दैकरस नित्य ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। और यदि ज्ञान उत्पन्न नहीं हो तो फिर क्रम-मुक्ति (क्रम से मुक्ति) लाभ करते हैं—यही कहने का अभिप्राय है। देवयज्ञ प्रभृति जिन यज्ञों का वर्णन पहले किया गया है उनमें से किसी भी एक यज्ञ का अनुष्ठान न करनेवाले दुःशील भाग्यहीन का क्या फल होता है, वह अब कहा जा रहा है-अयज्ञस्य—मोक्ष के साधनरूप उक्त सकल यज्ञों में से जो एक भी यज्ञ का अनुष्ठान नहीं करता है उसे 'अयज्ञ' कहा जाता है। उस मोक्षधर्मशून्य दुर्बुद्धि का अयं लोकः नास्ति—"लोक्यते इति लोकः" (जो देखा जाता है वह लोक है अर्थात् देह)। अतः मुक्ति सम्पादन करने के योग्य मानव-देह ही जब नहीं है अर्थात् (भविष्य जन्म में) मानव देह की प्राप्ति की ही संभावना नहीं है तब कुतः अन्यः—उसका देव, ब्रह्म या शैव देह कहाँ से मिलेगा ? अर्थात् असाधारण कारण (योग, तप इत्यादि) से जो देह प्राप्त होता है वह दैव, ब्राह्मादि देह अधर्मनिष्ठ का किस प्रकार सिद्ध (प्राप्त) हो सकता है ?

(४) नारायणी टीका-(श्लोक ३०–३१) शास्त्र में कहा गया है "प्राणो-वायुरितिख्यात-आयामस्तु निरोधनम्। प्राणायाम इति प्रोक्तो योगिनां योग-साधनम्" अर्थात् प्राणशब्द का अर्थ है प्राणवायु और आयाम शब्द का अर्थ है निरोध। अतः प्राणायामशब्द का अर्थ हुआ प्राणवायु का गतिरोध। [आयाम शब्द का प्रकृत अर्थ है दैर्घ्य (विस्तार)। वायु की गति का रोध करने से वह दीर्घ या विस्तृत होता है। इस कारण प्राणवायु के गतिरोध को प्राणायाम कहा जाता है।] प्राणायाम चार प्रकार के हैं—

(१) अपानवायु में प्राणवायु को आहुति देने से उसे पूरक प्राणायाम कहा जाता है। बाहर के अपानवायु को भीतर खींच लाने पर हृत्पद्म में प्राणवायु का गतिरोध होता है अर्थात् प्राणवायु फिर बाहर नहीं आ सकती है। इस अवस्था में अपानवायु में प्राणवायु की आहुति (लय) होने के कारण वह पूरक प्राणायाम होता है।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

(२) प्राणवायु में अपान की आहुति होने पर रेचक प्राणायाम कहा जाता है। प्राणवायु को (हृदय से) बाहर लाने पर (रेचक करने पर) जो अपानवायु भीतर प्रवेश करने के लिए उद्यत हुई थी उसका गतिरोध होता है। (प्राणवायु द्वारा अपान का गतिरोध साधारणतः नासाग्र के द्वादश अंगुली दूर होता है)। इस प्रकार से अपानवायु का गतिरोध होकर प्राणवायु में उसकी आहुति या लय होने के कारण उसे रेचक प्राणायाम कहा जाता है।

(३) प्राण और अपानवायु इन दोनों के गतिरोध को कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है।

(४) इन्द्रियों के समूहरूप प्राणवायु को बाह्य और आन्तर कुम्भक द्वारा निगृहीत कर प्राणवायु में आहुति देने पर उसे चतुर्थ प्राणायाम—कहा जाता है। (चतुर्थ प्राणायाम के सम्बन्ध में टिप्पणी (१) द्रष्टव्य है।)

पूरक, रेचक और कुम्भक के सम्बन्ध में योगी याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार कहा है—"नासिकोत्कृष्ट उच्छ्वासो ध्मातः पूरक उच्यते। कुम्भको निश्चलश्वासो मुच्यमानस्तु रेचकः" अर्थात् नासिका द्वारा जो श्वासवायु को भीतर लिया जाता है उसे पूरक और जो श्वास बाहर त्याग किया जाता है उसे रेचक कहा जाता है। श्वास और प्रश्वास की (रेचक और पूरक की) निश्चल अवस्था को (गतिरोध को) कुम्भक कहा जाता है। कुम्भक अनेक प्रकार के होते हैं यथा— (क) बाह्य कुम्भक—हृद्पिण्ड से प्राणवायु जब अस्तम्भित होती है उसी समय से लेकर जब तक अपानवायु भीतर प्रवेश करने को उद्यत होती है उस समय तक प्राणवायु के निरोध को बाह्य कुम्भक कहते हैं। (ख) अन्तः कुम्भक—अपानवायु अन्तर्गत होकर अस्तम्भित होने पर जब तक प्राणवायु उदयोन्मुख (निकलने के लिए उद्यत) न होता हो उस समय तक अपानवायु के निरोध को अन्तःकुम्भक कहा जाता है। (ग) स्वच्छकुम्भक-अपानवायु का उदयस्थान है नासाग्र से द्वादश अंगुली दूर में, किन्तु नासिका के अग्रभाग से सोलह अंगुली दूर में प्राणवायु का निःशेष रेचन कर उस स्थान में उसे धारण करने से स्वच्छ कुम्भक होता है।

इनके अलावा योगशास्त्र में और भी अनेक प्रकार के कुम्भक का उल्लेख है। प्राणायाम यदि चित्त के स्थैर्य रूप समाधि के लिए न हुआ तो फिर वह केवल घ्राणपीडन मात्र है। वस्तुतः बाहर भीतर सर्वत्र, सर्वदा और सभी वस्तु में ब्रह्म भावना कर चित्त वृत्तियों का निरोध होने पर ही प्रकृत प्राणायाम होता है। इस कारण शास्त्र में कहा गया है—"चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

भावनात्। निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते"। इस प्रकार प्राणायाम में जिस समय जगत् को मिथ्या जानकर नामरूप का त्याग किया जाता है तब यही रेचक है। 'सब कुछ ब्रह्म ही है' इस प्रकार का अद्वैतज्ञान ही पूरक है और शुद्ध अद्वैत चैतन्यस्वरूप आत्मा या ब्रह्म में निश्चलरूप से स्थिति ही कुम्भक है। इस प्रकार प्राणायामपरायण होने से अर्थात् तत्पर या निष्ठावान् होने पर ही जीवन का परमपुरुषार्थ लाभ होता है। चित्तशुद्धि के विना ऐसे प्राणायाम में निष्ठावान् होना संभव नहीं है और शास्त्र के अनुसार वाह्य आहार विहार का नियम पालन विना, योगादि क्रिया विना और प्राणायाम आदि क्रिया विना चित्तशुद्धि नहीं होती है। इसी कारण कोई कोई नियताहार होकर अर्थात् परिमित भोजन कर सकल प्राणों को अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियों की वृत्तियों को प्राणों में अर्थात् कुम्भक से निरुद्ध प्राणों की वृत्तियों में आहुति देते हैं अथवा जिन-जिन प्राणवायु को (प्राण, अपान इत्यादि में किसी को) जीत लिया उन प्राणवायु में दूसरे वायु-सकल को आहुति देते हैं (लय कर देते हैं)। परिमित आहार के संवंध में शास्त्र में इस प्रकार कहा गया है—'द्वौ भागौ पूरयेदन्नैर्जलेनैकं प्रपूरयेत्। मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्' अर्थात् अन्न द्वारा उदर के दो भाग तथा जल द्वारा एक भाग पूरण करना होगा। अवशिष्ट एक भाग वायु के संचारण के लिए रखना पड़ेगा। उक्त द्वादश प्रकार के यज्ञों को जो जान गए हैं और यथाविधि उनका अनुष्ठान करते हैं उनके उन सब यज्ञ द्वारा सर्व पाप नष्ट हो जाते हैं एवं उनके यज्ञादि अनुष्ठान करने के वाद जो काल (समय) अवशिष्ट रहता है उसी समय यज्ञशेषरूप अमृतभोजन कर चित्तशुद्धि लाभकर (उसके द्वारा तत्त्वज्ञान को प्राप्त होकर) सनातन (नित्य) ब्रह्मपद को प्राप्त होते हैं। [यज्ञ के अवशिष्ट अन्न का भोजन करनेवाला चित्तशुद्धि प्राप्त कर अमृतत्व के अर्थात् मोक्ष के अधिकारी होते हैं। इस कारण यज्ञशेष को अमृत कहा जाता है]। अतः जो अज्ञ पुरुष इन सब यज्ञों में से एक का भी अनुष्ठान नहीं करता है उसके सात्त्विक गुण की वृद्धि का कोई साधन (उपाय) न रहने के कारण इहलोक (अर्थात् मनुष्य लोक) व्यर्थ हो जाता है क्योंकि सात्त्विक गुण की वृद्धि होने पर जीवित अवस्था में जो सुख की प्राप्ति हो सकती है उससे भी वह वंचित रहता है। जब इहलोक के सुख से ही वंचित रहता है तो फिर परलोक के अनेक सुख अर्थात् विशिष्ट साधनसाध्य स्वर्गादि सुख अथवा मोक्षरूप परमानन्द प्राप्त करना तो दूर की वात ही है। अतः सभी को उपर्युक्त यज्ञों का अनुष्ठान करना उचित है। [अथवा इस प्रकार का अर्थ भी हो सकता है—**नायं लोकः अस्ति**

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

इत्यादि—उक्त द्वादश प्रकार के यज्ञों में से एक को भी न करने पर मृत्यु के बाद पुनः मनुष्य जन्म लाभ करना सम्भव नहीं होता है। जब मनुष्य-जन्म का ही लाभ नहीं किया जा सकता है तो उत्कृष्ट स्वर्गादि लोक अथवा परम उत्कृष्ट मोक्ष की प्राप्ति तो उनके लिए बहुत ही दूर की बात है]।

[यज्ञद्वारा पापक्षय होने से क्या होता है, यही अभी स्पष्ट कर रहे हैं—]

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे कुरुसत्तम यज्ञशिष्टामृतभुजः सनातनं ब्रह्म यान्ति। अयज्ञस्य अयं लोकः नास्ति, अन्यः कुतः (स्यात्)।

अनुवाद—हे कुरुकुलश्रेष्ठ अर्जुन ! जो यज्ञावशिष्ट अमृत अन्न भोजन करते हैं वे सनातन ब्रह्म पद लाभ करते हैं। और जो व्यक्ति उक्त यज्ञों में से एक भी यज्ञ नहीं करता उसका इहलोक नहीं है (अर्थात् इहलोक में उसे कोई शुभप्राप्ति नहीं होती) अन्य लोक की (अर्थात् स्वर्गादि उत्कृष्ट लोक की अथवा मोक्ष की) प्राप्ति किस प्रकार से होगी ?

भाष्यदीपिका—हे कुरुसत्तम—हे कुरुकुल श्रेष्ठ अर्जुन ! तुम प्रसिद्ध कुरुकुल में प्रधान हो। अतः अवश्य ही ये सब यज्ञादि कर्म का अनुष्ठान करके इहलोक व परलोक में श्रेष्ठ गति अनायास से प्राप्त करोगे, यह सूचित करने के लिए कुरुसत्तम कहकर श्री भगवान् ने सम्बोधन किया। यज्ञशिष्टामृतभुजः—पहले जिन यज्ञों के विषय में कहा गया है उनका अनुष्ठान करके यज्ञों का अवशिष्ट अन्न जो भोजन करते हैं वे 'अमृतभुक्' होते हैं कारण वे अन्न अमृतत्त्व प्राप्ति के (मरणरहित अवस्था की प्राप्ति के) सहायक होते हैं। इस प्रकार के अमृतभोजी पुरुष सनातनं ब्रह्म यान्ति—सनातन अर्थात् चिरन्तन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं अर्थात् वे संसार से मुक्तिलाभ करते हैं। वे यदि मोक्षकामी हो तो यज्ञादि द्वारा साक्षात् भाव से (यज्ञादि की समाप्ति के अव्यवहित काल में ही) उनको ब्रह्म या मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है क्योंकि ऐसा होने पर श्रुति के साथ विरोध उपस्थित होगा। इस कारण विहित काल का अतिक्रम होने पर क्रमशः मोक्षलाभ करते हैं अर्थात् पहले उन कर्मों से चित्तशुद्धि लाभ कर तत्पश्चात् ज्ञान प्राप्त करके नित्य ब्रह्म को (परमात्मा को) प्राप्त करते हैं—यही तात्पर्य है (मधुसूदन)। अथवा ब्रह्मलोक में गमन कर तत्त्वज्ञान प्राप्त को होकर सनातन (नित्य) सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

होकर क्रम-मुक्तिलाभ करते हैं (आनन्दगिरि)। यद्यपि श्लोक में यह स्पष्ट रूप से उक्त नहीं है तथापि परब्रह्म प्राप्ति के सामर्थ्य या योग्यता की विवेचना कर ऐसा अर्थ करना होगा। अयज्ञस्य—पूर्वोक्त यज्ञसमूह में से किसी एक भी यज्ञ का अनुष्ठान जो व्यक्ति नहीं करता है उसे अयज्ञ कहा जाता है। इस प्रकार के अयज्ञ या यज्ञहीन व्यक्ति का अयं लोकः नास्ति—इहलोक नहीं है अर्थात् इस मनुष्यलोक में शुभप्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं है। कुतो अन्यः—[सर्वप्राणो के लिए जो साधारण मनुष्यलोक है उसी में ही जब उसको कोई शुभप्राप्ति नहीं होती है] तो फिर विशेष साधनों द्वारा प्राप्तव्य (प्राप्त होने वाले) अर्थात् विशिष्ट योग, तप, यज्ञादि द्वारा जो असाधारण गति का अर्जन करना होता है वही स्वर्गादि (अथवा परमानन्दरूप मोक्ष) लोक की प्राप्ति किस प्रकार उसके लिए सम्भव हो सकती है ?

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पूर्वोक्त द्वादश प्रकार के यज्ञविदों का क्या फल प्राप्त होता है वही कह रहे हैं—]

यज्ञशिष्टामृतभुजः—यज्ञों को समाप्त कर अवशिष्टकाल में (जो बचा हुआ समय है उसमें) जो अनिषिद्ध अमृतरूप अन्न को भोजन करते हैं वे (इसके द्वारा चित्तशुद्धि सम्पादन करके ज्ञान प्राप्त कर) उस ज्ञान के द्वारा सनातनं ब्रह्म यान्ति—सनातन (नित्य) ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। [अब इन सब यज्ञों के न करने से क्या दोष होता है वही बताते हैं]। अयज्ञस्य अयं लोकः न अस्ति—जो व्यक्ति अयज्ञ है अर्थात् इनमें से किसी यज्ञ का अनुष्ठान नहीं करता है उसे तो अल्प सुखवाला मनुष्यलोक भी नहीं मिलता फिर वह सुखमय अन्य (दूसरे) लोक उसे कैसे मिल सकता है ? अतः मुमुक्षु को सर्वप्रकार से यज्ञों को अवश्य करना चाहिए यही कहने का अभिप्राय है।

(२) शंकरानन्द—३० श्लोक की टिप्पणी द्रष्टव्य है।

(३) नारायणी टीका—३० श्लोक की टिप्पणी द्रष्टव्य है।

[इन सब यज्ञ और उनके फल का वर्णन कल्पना से नहीं कहा गया है किन्तु वेद ही इस विषय का प्रमाण है वही कहा जा रहा है]

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

अन्वयः—ब्रह्मणः मुखे एवं बहुविधाः यज्ञाः विततः तान् सर्वान् कर्मजान् विद्धि एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अनुवाद—वेदमुख में इस प्रकार के बहुविध यज्ञ विस्तृत रूप से (वर्णित) हुए हैं किन्तु तुम उन सब को कर्मजनित ही जानो (अर्थात् वे सब शरीर, वाक्य और मन की क्रिया द्वारा ही निष्पन्न (सम्पादित) होते हैं, आत्मा द्वारा नहीं—ऐसा जान लो)। ऐसा जानकर (अशुभ संसार से) मुक्तिलाभ करोगे।

भाष्यदीपिका—ब्रह्मणः मुखे—ब्रह्म अर्थात् वेद के मुख से अर्थात् वेद द्वारा एवम्—इस प्रकार अर्थात् जैसा कहा गया उसी प्रकार बहुविधाः यज्ञाः—(श्रेयः लाभ के साधन स्वरूप) अनेक प्रकार के यज्ञ विततः— विस्तृत हैं अर्थात् ऐसे अनेक प्रकार के यज्ञ वेद द्वारा प्रकाशित हुए हैं (वेदों से ही इन यज्ञों से मनुष्य अवगत हुए हैं)। जैसे कि वेदों में कहा गया है--"वाचि हि प्राणं जुहुम" अर्थात् हमलोग वाक्य में प्राण का हवन करते हैं। पूर्वोक्त सभी यज्ञों के संबंध में इस प्रकार की और भी वेदवाणी है अर्थात् उन सब यज्ञों के संबंध में वेद का विधान है यही 'विततः' शब्द का तात्पर्य है।

तान् सर्वान्—उन सब यज्ञों को कर्मजान्—कर्मजनित अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया द्वारा ही उद्भूत (होनेवाले) विद्धि— जानो। कायिक, वाचिक व मानसिक क्रिया द्वारा ही उन सब यज्ञों की सिद्धि होती है। अतः इन सब यज्ञों को अनात्मज ही समझना अर्थात् यह सब आत्मज (आत्मा से उद्भूत) नहीं है (आत्मा के साथ इनका कोई संबंध नहीं है) कारण आत्मा निर्व्यापार है (आत्मा का कोई व्यापार या क्रिया नहीं है अर्थात् आत्मा चलना-फिरना आदि क्रियाओं से रहित है)। [अतः आत्मा किसी कर्म का कर्ता नहीं है और आत्मा यज्ञादि कोई कर्म का विषय भी नहीं है अर्थात् कर्म द्वारा आत्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता है]। एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे—इस प्रकार जानकर [अर्थात् ज्ञाननिष्ठ होकर (श्रीधर)] अशुभ संसार से विशेष प्रकार से मुक्त हो जाओगे अर्थात् इन सब यज्ञों (कर्म) का अनुष्ठान मेरे (अर्थात् आत्मा के) द्वारा सम्पादित नहीं हैं, यह सब प्रकृति से जात (उत्पन्न) इन्द्रिय व मन द्वारा ही सम्पादित हो रहे हैं, मैं तो निष्क्रिय और उदासीन हूँ [इन सब कर्मों का साक्षीमात्र हूँ], ऐसा जानकर इस सम्यग् दर्शन द्वारा अर्थात् तत्त्वज्ञान के द्वारा संसार बन्धन से मुक्तिलाभ कर सकोगे—यह तात्पर्य है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[अब ज्ञानयज्ञ की प्रशंसा करने के लिए पूर्वोक्त (कहे हुए) यज्ञों का उपसंहार करते हैं—] एवं बहुविधाः यज्ञा

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

ब्रह्मणः मुखे वितताः—वेद के मुख से इस प्रकार बहुविध यज्ञ वितत (विस्तृत) हुए हैं अर्थात् साक्षात् वेद द्वारा विहित हुए हैं (तथापि) तान् सर्वान् कर्मजान् विद्धि—तो भी उन सब यज्ञों को वाणी, मन, कायादि के (शरीर के) कार्य से ही उत्पन्न हुआ जानो अर्थात् आत्मस्वरूप से उनका कोई संस्पर्श (किसी प्रकार का संबंध) नहीं है ऐसा जानो क्योंकि आत्मा [किसी कर्म को कर्त्री नहीं है और] कर्म का अगोचर (अविषय) है अर्थात् किसी कर्म के द्वारा आत्मा प्राप्त नहीं हो सकती। [वेदविहित निष्काम कर्म केवल चित्तशुद्धि उत्पन्न कर आत्मा के अज्ञानरूप आवरण को नष्ट कर सकता है]। एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे—ऐसा जानकर ज्ञाननिष्ठ होकर तुम संसार से विमुक्त हो सकोगे।

(२) शंकरानन्द—ये सब यज्ञ तो तुम्हारे द्वारा कल्पित हैं, शास्त्रीय नहीं है ऐसी यदि शंका हो तो वह युक्त नहीं है कारण उन सब यज्ञों का मूल एकमात्र वेद ही है (अर्थात् वे सभी वेद के द्वारा प्रतिपादित हुए हैं) एवं बहुविधाः यज्ञाः ब्रह्मणः मुखे वितताः—'दैवमेवाऽपरेयज्ञम्' इत्यादि अनेक प्रकार के कहे गए यज्ञ ब्रह्मा के अर्थात् वेद के मुख से वितत अर्थात् विस्तृत (प्रतिपादित) हुए हैं 'यज्ञविदो यान्ति ब्रह्म सनातनम्' (जो यज्ञ को जानते हैं अर्थात् अनुष्ठान करते हैं वे सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं) ऐसा कहने पर यह प्रतीत होता है कि यज्ञ ही मोक्ष का साधन है। यदि ऐसा ही है तो पुनः ज्ञान के लिए प्रयास (चेष्टा) करने का क्या प्रयोजन है? यदि ऐसी शंका हो तो वह युक्त नहीं है कारण वे सब यज्ञ कर्मरूप ही हैं। अतः यदि उन सब यज्ञों द्वारा ही मोक्षप्राप्ति होती तो फिर 'न कर्मणा न प्रजया' [न कर्म द्वारा न प्रजा (अर्थात् पुत्रादि) द्वारा मोक्षप्राप्ति होती है] इत्यादि जो अनेक श्रुति के वचन हैं उनके साथ विरोध होगा क्योंकि उन सब यज्ञों का नित्यफल (मोक्ष) प्रदान करने का सामर्थ्य नहीं है अर्थात् वे सब यज्ञ अनित्यफल का ही प्रदान करते हैं (नित्यफल अर्थात् मोक्ष को नहीं)—यह सूचित करने के लिए श्रीभगवान् कह रहे हैं—तान् कर्मजान् विद्धि—'क्रियां कुर्याद्धि कारकम्' (जो क्रिया को करता है वही कारक है) इस स्थिति के अनुसार कर्मों से अर्थात् कर्मरूप कारक से (अर्थात् वागादि इन्द्रियों से) ये सब यज्ञ जात अर्थात् [उत्पन्न (निष्पन्न)] होने के कारण इन्हें कर्मज कहते हैं। अतः वे सब यज्ञ कर्म ही हैं ऐसा जानो। और यदि कहो कि वागादि इन्द्रियों के व्यापार द्वारा सम्पादित (उत्पन्न) हुए यज्ञ अपूर्व हैं, तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है कारण अपूर्व हो या पर्व ही हो उनके कर्मत्व का व्यभिचार नहीं

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

होता है अर्थात् सकल अवस्था में वे कर्म ही हैं। अतः वे सब यज्ञ अनित्य फल देनेवाले हैं ऐसा जानकर नित्यफल देनेवाले (अर्थात् मोक्षप्रद) ज्ञान को प्राप्तकर संसार से मुक्त हो जाओगे। केवल उन सब अनित्यफलप्रद यज्ञ के अनुष्ठान द्वारा मुक्ति नहीं हो सकती। [उन सब यज्ञानुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धि-लाभ कर, ज्ञान प्राप्तिकर मोक्षलाभ होता है। वे साक्षात् रूप से मुक्ति प्रदान नहीं करते हैं—यही कहने का अभिप्राय है]।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्त्ती श्लोकों में जिन सब यज्ञों का वर्णन किया गया है वे सभी कर्मजनित हैं अर्थात् शरीर, इन्द्रिय ओर अन्तःकरण द्वारा निष्पन्न हुआ करते हैं। ये सब कर्म ही हैं। कर्म सकल माया या अविद्या के अधीन हैं। मायान्तर्गत कर्मद्वारा निष्क्रिय मायातीत ब्रह्मस्वरूप आत्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता है, तब भी चित्तशुद्धि के लिए इनकी आवश्यकता है। चित्तशुद्धि होने पर साधक जान सकता है कि देहेन्द्रियों के द्वारा किए हुए निष्काम कर्मों आ 'मैं कर्ता नहीं हूँ किन्तु मैं उनका नित्यसाक्षी या विज्ञाता हूँ'। यही तत्त्वज्ञान या सम्यग् दर्शन है। यही तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण होता है और यज्ञादि कर्मसकल उस ज्ञान का उत्पत्ति के केवल गौण साधन होते हैं।

['ब्रह्मार्पणम्' इत्यादि श्लोकों के द्वारा (गीता ४।२४) सम्यग् दर्शन को (आत्मतत्त्वज्ञान की) यज्ञरूपता सम्पादित हुई है, एवं साथ-साथ अनेक प्रकार के यज्ञों का भी वर्णन किया गया है। (कर्मयज्ञ और ज्ञानयज्ञ का जब एक साथ समानरूप से उल्लेख किया गया है तब दोनों ही समान हैं, ऐसी शंका हो सकती है)। इसी कारण से अब पुरुष का इच्छित प्रयोजन जिन यज्ञों से सिद्ध होता है, उन सब पूर्ववर्णित यज्ञों से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, यह कहकर श्रीभगवान् ज्ञानयज्ञ की स्तुति करते हैं]।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे परंतप, द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः श्रेयान्। हे पार्थ ! सर्वम् अखिलं कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते।

अनुवाद—हे शत्रुतापन ! द्रव्यमय यज्ञ अर्थात् हवि प्रभृति द्वारा निष्पादित यज्ञों से ज्ञानरूप यज्ञ ही श्रेष्ठ है क्योंकि हे पार्थ ! सकल प्रकार के कर्म ही (फलसहित) सम्पूर्ण रूप से ज्ञान में परिसमाप्त हो जाते हैं।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

भाष्यदीपिका—हे परन्तप—हे शत्रु को ताप देने में समर्थ अर्जुन ! अज्ञान ही कर्म का मूल है। तुम अज्ञानरूप शत्रु का विनाश कर अवश्य ही ज्ञानलाभ कर सकोगे, यही सूचित करने के लिए श्रीभगवान् ने यहाँ पर अर्जुन को 'परन्तप' नाम से संबोधित किया। **द्रव्यमयात् यज्ञात्**—द्रव्यरूप साधनों से साध्य (सिद्ध होनेवाले) अर्थात् जो सव यज्ञ ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखते हैं किन्तु केवल द्रव्यादि (घृतादि द्रव्य, तन्त्र-मन्त्र एवं हवनादि क्रिया प्रभृति) द्वारा सम्पादित होते हैं उस प्रकार के यज्ञों से **ज्ञानयज्ञः श्रेयान्**—ज्ञानरूप यज्ञ अधिक प्रशस्त अर्थात् श्रेष्ठतर है। द्रव्ययज्ञ अनित्य एवं अल्प स्वर्गादि फल का उत्पादक होकर संसार गति का कारण बन जाता है और ज्ञानयज्ञ अनित्य संसार रूप फल उत्पादन न कर नित्यसिद्ध परमात्मदर्शन रूप मोक्ष प्राप्त कराते हैं। इसी कारण से द्रव्यमययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है अर्थात् प्रशस्यतर है। ज्ञानयज्ञ की विशेषता अभी और स्पष्ट करके कहा जा रहा है।

हे पार्थ—हे पृथापुत्र अर्जुन ! तुम्हारी माता ज्ञानयज्ञ द्वारा ही मेरा निरन्तर चिन्तन कर मुझमें ही स्थित रहती थी। तुम भी अपनी माता की तरह ज्ञानस्वरूप मुझमें स्थिति लाभ कर मोक्षलाभ करोगे, यही आश्वासन देने के लिए यहाँ पार्थ के नाम से भगवान् ने सम्बोधन किया। पार्थ और परन्तप—इन दो प्रकार के संबोधनों का तात्पर्य यह है कि (क) अर्जुन की माता की तरह भक्ति है और (ख) अज्ञानरूप शत्रु को नाश करने में अर्जुन का सामर्थ्य भी है। ये दोनों मिलकर अर्जुन का मोक्ष में अवश्य ही पहुँचा देंगे। **सर्वम् अखिलं कर्म**—सकल कर्म (श्रौत, स्मार्त, लौकिक एवं दूसरा जो कुछ भो किया जाता है वे सभी कर्म) निरवशेष से (सर्वतोभाव से) 'अखिलम्' शब्द का अर्थ है अप्रतिबद्ध अर्थात् न (अविद्यमानम्) खिलं (शेषः) अस्येत्यनल्पं महत्तरमिति यावत् सर्वमखिलमिति पादद्वयोपादानमसंकोचार्थम्' (आनन्दगिरि) अर्थात् जिसका कोई खिल (शेष) नहीं रहता है उसे अखिल कहा जाता है। अल्प ही हो या महत्तर ही हो जिससे कर्म के संवंध में किसी प्रकार का संकोच न रहे उसके लिए [अर्थात् 'सर्व प्रकार से निःशेषतया सर्वकर्म' इस प्रकार अर्थ प्रकाश करने के लिए] 'सर्व' और 'अखिल' इन दोनों शब्द का यहाँ व्यवहार किया गया है। **ज्ञाने परिसमाप्यते**—"सर्वतः संप्लुतोदकस्थानीय" (अर्थात् महासरोवर की तरह) जो ज्ञान अनन्तफल का (मोक्ष का) साधन होता है उस ब्रह्म और आत्मा का एकत्व साक्षात्कार रूप ज्ञान में परिसमाप्त होता है अर्थात् अन्तर्भूत हो जाता है। अभिप्राय यह है कि

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

सकल कर्म ही इहकाल के सुख के लिए होते हैं और नहीं तो परकाल के सुख के लिए किये जाते हैं। इस कारण जब तक परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती है तब तक कर्मों से विश्रान्ति (विराम) नहीं होती है क्योंकि सभी सुख परमानन्द में अन्तर्भूत हैं। जिस प्रकार सभी नदियों की गति समुद्र में परिसमाप्त होती है उसी प्रकार ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य साक्षात्काररूप ज्ञान द्वारा जो परमानन्द प्राप्त होता है उसमें सभी कर्म निःशेष होकर परिसमाप्त होते हैं। [कर्म के द्वारा ज्ञानप्राप्ति का जो प्रतिबन्धक है (अर्थात् अज्ञान से उत्पन्न चित्त की अशुद्धि इत्यादि का प्रतिबन्धक है) उनका नाश होता है और उसके बाद तत्त्वज्ञान का उदय होने पर उस ज्ञान में वे सब कर्म परिसमाप्त (पर्यवसित) होते हैं अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् कर्मों का किसी प्रकार प्रयोजन नहीं रहता है (मधुसूदन)]।

कहने का अभिप्राय यह है कि कर्मद्वारा चित्तशुद्धि होने पर तत्त्वज्ञान का उदय होता है एवं कर्मसकल चरितार्थ होते हैं। उस तत्त्वज्ञानी को भी तब सभी (साधु) कर्मों के फल आयत्त (प्राप्त) होते हैं। अतः उनका और कोई कर्तव्य (करने के योग्य कर्म) नहीं रहता है। श्रुति में भी कहा गया है "यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किंचित् प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद् वेद यत् स वेद" अर्थात् जिस प्रकार द्यूतक्रीड़ा में चौआ नामक पासा का दाँव जिसको आयत्त हुआ है उसके तिया, दुआ प्रभृति दाँव भी आयत्त होते हैं, उसी प्रकार प्रजा (लोग) जो कुछ भी साधु कर्म का अनुष्ठान करती है ब्रह्मज्ञान के फलस्वरूप उन सब कर्मों के फल भी उसके पास उपस्थित होते हैं। अर्थात् ब्रह्मज्ञानी को उन सब शुभ कर्मों के फल को प्राप्त होता है। वह ब्रह्मज्ञानी जिस तत्त्व को जानता है यदि उसको दूसरा कोई जान ले तो उसका भी दूसरों से किये हुये साधुकर्मों का फल प्राप्त होता है। [वेदान्त सूत्र में भी कहा गया है "सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतिरश्ववत्" (वे० द० ३।४।२६) अर्थात् जिस प्रकार रथ खींचने के लिए अश्व की अपेक्षा है किन्तु हल चलाने के लिए अश्व की अपेक्षा नहीं है अर्थात् कृषिकार्य में हल खींचने के लिए अश्व का व्यवहार नही होता है, उसी प्रकार (ब्रह्म) विद्या की उत्पत्ति के लिए कर्मों की अपेक्षा है किन्तु विद्या के फलरूप से जो मोक्ष प्राप्त होता है उसमें कम की उपयोगिता नहीं है (मधुसूदन)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[कर्मयज्ञ से ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता अब प्रतिपादित की जा रही है—] श्रेयान् द्रव्यमयाद् इत्यादि—दैवादि यज्ञ अनात्म, जागतिक व्यापारों को आश्रयकर सम्पादित होते हैं [किन्तु ज्ञान साक्षात्

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

मोक्ष प्रदायक है] इस कारण दैवादि यज्ञ की (द्रव्यमय यज्ञ की) अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है यद्यपि ज्ञानयज्ञ भी मन के व्यापार के अधीन है तथापि ज्ञान आत्मा का ही स्वरूप होने पर भी मन के परिणाम द्वारा [यथाक्रम से एकाग्र परिणाम, समाधिपरिणाम और निरोध परिणाम द्वारा (पातञ्जल योग-दर्शन द्रष्टव्य)] ज्ञान की (आत्मज्ञान की) अभिव्यक्ति मात्र होती है किन्तु ज्ञान मन से उत्पन्न होने वाला नहीं है। [ज्ञानयज्ञ मोक्ष का साक्षात् साधन और द्रव्यमययज्ञ उसका वहिरंग साधन है]। द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ की यही विशेषता है। **सर्वं कर्माखिलम् इत्यादि**—ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता के कारण बताते हैं—समस्त कर्मफल के साथ कर्म ज्ञान में परिसमाप्त हो जाते हैं अर्थात् अन्तर्भूत होते हैं। श्रुति में भी कहा गया है 'सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्चित् प्रजाः साधु कुर्वन्ति' अर्थात् प्रजाएँ जो कुछ भी साधु (अच्छा) कर्म करती हैं वे सब ब्रह्मज्ञानी को मिल जाते हैं। अर्थात् वे सब ब्रह्मज्ञान में अन्तर्भूत होता है। [अभिप्राय यह है कि तपस्या, स्वाध्याय, योगाभ्यास एवं नाना प्रकार के साधुकर्म जो कुछ भी किये जाते हैं वे सभी नित्यसत्य आत्मानन्दलाभ के लिए (परिपूर्ण ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए) ही अनुष्ठित होते हैं। अतः जिस तत्त्वज्ञान का उदय होने पर नित्यस्वरूप ब्रह्म में स्थितिलाभ किया जा सकता है उसी ज्ञान में ही सकल कर्म के तात्पर्य की परिसमाप्ति होती है]।

(२) **शंकरानन्द**—अतः २४ वे श्लोक में ब्रह्मार्पणम् इस मन्त्र से वर्णित ज्ञानयज्ञ साक्षात् मोक्ष का साधन होने के कारण मोक्ष के वहिरङ्ग साधनभूत दैवादि यज्ञों की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, अब यही कह रहे हैं—

द्रव्यमयात् यज्ञात्—द्रव्यमययज्ञ से अर्थात् द्रव्य, मन्त्र, तन्त्र, क्रिया और श्रम द्वारा साध्य जो सब यज्ञ पूर्व में कहे गए हैं एवं जो स्वर्गादि अनित्य अल्प फल के हेतुभूत हैं उन यज्ञों के समूह से **ज्ञानयज्ञः श्रेयान्**—नित्य निरन्तर आनन्दरूप एकमात्र मोक्षरूप फल प्रदान करने वाला ज्ञानयज्ञ, श्रेयान् अर्थात् श्रेष्ठतर वस्तु का (अर्थात् मुक्ति का) प्रापक है। इस कारण **सर्वम् अखिलं कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते**—पुरुष के श्रौत, स्मार्त, लौकिक जो कुछ कर्तव्य कर्म है, वे सब कर्म उस ज्ञान में अखिल (जिसका खिल अर्थात् शेष नहीं रहता है ऐसा) निःशेष समाप्त हो जाता है। जिस प्रकार तट को प्राप्त हुए पुरुष के लिए और कोई गन्तव्य स्थान नहीं रहता उसी प्रकार ज्ञान जिनको प्राप्त हुआ है उनका और कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता है। अथवा **ज्ञाने**—जिस ज्ञान को प्राप्त होने पर **सर्वं कर्म**—शत-शत ब्रह्म कल्पों से उपार्जित, संचित, आगामी,

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

प्रवृत्त, अप्रवृत्त सकल कर्म अखिलम्—निःशेष परिसमाप्यते—समाप्त हो जाते हैं अर्थात् सूर्य की प्रभा से जिस प्रकार सब अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानशक्ति की शक्ति से (अज्ञान जनित) सकल कर्म निर्मूलित (मूल अविद्या सह नष्ट) हो जाते हैं अथवा—'यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्ति इत्यादि'' (जैसे कृत नामक पासे के जीत लेने पर अन्यान्य सभी पासे विजित हाकर प्राप्त हा जाते हैं) वैसे ही श्रुति कथित रीति के अनुसार संसार के सर्वत्र पुण्यवान् पुरुषों के द्वारा यज्ञ, दान तप, व्रत आदि रूप जो-जो पुण्य अनुष्ठित होते हैं वे सब पुण्य ज्ञाने-ज्ञान के प्राप्त होने पर परिसमाप्यते-(परि + सम + आप्यते) सम्यग् प्रकार से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की प्राप्ति द्वारा विद्वान् पुरुष सर्व कर्मों का अनुष्ठाता (अनुष्ठान करने वाला) हो जाता है (सर्व पुण्य कर्मों का फल प्राप्त हो जाता है), यह अर्थ है।

(३) नारायणी टीका—सर्व कर्म ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं, इसका तात्पर्य यह है—

(क) द्रव्ययज्ञ कामनासह और कर्तृत्वाभिमान के साथ अनुष्ठित होने पर उसको फलरूप से जन्म मरणशील संसार गति ही प्राप्त होती है। किन्तु निष्काम भाव से भगवदर्पण बुद्धि से करने पर उस द्रव्ययज्ञ से चित्त-शुद्धि होने के पश्चात् ज्ञानलाभ होता है अर्थात् द्रव्ययज्ञ ज्ञानप्राप्ति के प्रति-बन्धकों को नष्ट करके चित्तशुद्धि उत्पादन करता है और उस यज्ञकर्ता को ज्ञान-यज्ञ का अधिकारी करके स्वयं परिसमाप्त या चरितार्थ होता है।

(ख) सभी साधुकर्मों का फल तत्त्वज्ञानी को स्वतः ही प्राप्त होते हैं। इस कारण से सर्व कर्म ज्ञान में ही परिसमाप्त होते हैं। (ग) प्रत्येक कर्म का उद्देश्य है आनन्द की प्राप्ति। ज्ञान द्वारा निरतिशय ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है, उसी कारण से सर्व कर्म का तात्पर्य ज्ञान में ही परिसमाप्त होता है। (घ) ज्ञान (अर्थात् आत्मसाक्षात्कार जनित तत्त्वज्ञान) लाभ होने पर जीव कृत-कृत्य होता है। तब फिर कार्य नाम का (कर्तव्य नाम का) कुछ भी नहीं रह जाता है (गीता ३।१७)। अतएव ज्ञान के उदय होने से सर्व कर्म स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं। (ङ) ज्ञान साक्षात् रूप से मोक्ष फलदायक है। इस कारण ज्ञानयज्ञ सर्वतोभाव से द्रव्ययज्ञ या दूसरे यज्ञों से श्रेष्ठ है।

[जिसमें कर्मादि निःशेष परिसमाप्त हो जाते हैं वह विलक्षण ज्ञान किस प्रकार से प्राप्त हो सकता है वह अब कहा जा रहा है—]

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अन्वयः—प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया तत् ज्ञानम् विद्धि, ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः ते ज्ञानम् उपदेक्ष्यन्ति ।

अनुवाद—(आचार्यगणों के निकट गमन करके) प्रणिपात, तत्त्वविषय में वारंवार (विनीत भाव से) प्रश्न करके एवं सेवा (शुश्रूषा) द्वारा किस उपाय से ज्ञानलाभ हो सकता है वह जान लो। इस प्रकार तत्त्वदर्शी एवं ज्ञानी (शास्त्रज्ञ) पुरुषों के शरणापन्न होने से वे तुम्हें सम्यग् ज्ञान के सम्वन्ध में उपदेश प्रदान करेंगे (उनके द्वारा उपदिष्ट ज्ञान ही कार्यकारी होगा, अन्य अतत्त्वविद् पण्डितमानी पुरुषों से लब्धज्ञान कार्यकारी नहीं होता है अर्थात् उनके उपदेश द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है)।

भाष्यदीपिका—प्रणिपातेन—आचार्यों के निकट गमन करके प्रणिपात द्वारा [प्रकृष्ट भाव से (भलीभाँति) भूमि पर पतन (देह को रखकर)] अर्थात् भूमि में साष्टांग प्रणाम अथवा दीर्घ नमस्कार द्वारा परिप्रश्नेन—अध्यात्म विषयक वहुत प्रश्नों द्वारा 'मैं कौन हूँ ? संसार में किस प्रकार से वद्ध हुआ हूँ—किस प्रकार इससे मुक्त हो सकूँगा ? विद्या किसे कहते हैं ? अविद्या क्या है ?' इत्यादि प्रश्नों द्वारा तथा सेवया—सेवा के द्वारा अर्थात् गुरु की शुश्रूषा के द्वारा (सभी प्रकार से उनके अनुकूल अर्थात् वे जैसा पसन्द करते हैं उसी प्रकार कार्य कर) तत्—वह अर्थात् सव कर्मों के फलस्वरूप उस ज्ञानं विद्धि—(परमात्मविषयक एवं साक्षात् मोक्षफलदायक) ज्ञान को जानो अर्थात् किस प्रकार की विधि या उपाय द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है वह जान लो। इस प्रकार श्रद्धा, भक्ति, विनय के साथ सेवा करने से तुम्हारे प्रति प्रसन्न होकर ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः—[जो केवल ज्ञानी ही नहीं अर्थात् जो केवल पद, वाक्य एवं न्यायादि प्रमाणों में अभिज्ञ होकर वेदादि शास्त्रार्थ में ज्ञानसम्पन्न हुए हैं ऐसे नहीं किन्तु तत्त्वदर्शी भी हुए हैं अर्थात् जो आत्मा का साक्षात्कार लाभकर तत्त्वज्ञानप्राप्त हुए हैं (मधुसूदन)] ऐसे ज्ञानी (शास्त्रज्ञ) तत्त्वदर्शी (ब्रह्मनिष्ठ) पुरुषगण कोई कोई शास्त्रीय ज्ञानसम्पन्न होकर यथायथभाव से तत्त्वदर्शनशील होते हैं अर्थात् वे शास्त्रज्ञ व ब्रह्मनिष्ठ दोनों ही हैं। कोई कोई शास्त्रज्ञ होकर भी तत्त्वदर्शन में असमर्थ होते हैं। इसलिए यहाँ 'ज्ञानी' शब्द को 'तत्त्वदर्शी' शब्द से विशिष्ट किया गया है (असम्यग्दर्शी शास्त्रज्ञ का उपदेश देने का अनधिकार वतलाने के लिए)। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी व सम्यग्दर्शी पुरुष यदि ज्ञान का उपदेश देते हैं तो वह उपदेश कार्यक्षम (फलदायक) होता है और जो केवल शास्त्रज्ञ हैं किन्तु तत्त्वदर्शी नहीं हैं उनसे लब्धज्ञान कार्यक्षम (सार्थक) नहीं होता ।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

इस रूप एकाधार में शास्त्रज्ञ व ब्रह्मनिष्ठ आचार्यगण ते—शमदमादि साधन सम्पन्न तुम्हें ज्ञानम्—जो साक्षात्भाव से मोक्षरूप फल प्रदान करता है एवं संसार भ्रम का निवर्त्तक है उसी ब्रह्म व आत्मा का एकत्वबोधक परमार्थज्ञान उपदेक्ष्यन्ति—कृपा करके उपदेश द्वारा प्रदान करेंगे।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[इस प्रकार आत्मज्ञान लाभ का साधन क्या है वही कह रहे हैं—]

तत् ज्ञानं विद्धि—उस ज्ञान को जानो अर्थात् प्राप्त करो। [किस प्रकार से इस ज्ञान को जाना जाता है ?] प्रणिपातेन—ज्ञानियों को (ज्ञानी व तत्त्वदर्शी पुरुषों को) दण्डवत् नमस्कार द्वारा उसके बाद परिप्रश्नेन—(नाना प्रकार के) प्रश्न के द्वारा। कहाँ से इस संसार में मैं आया और कैसे यह संसार निवृत्त होगा ? इस प्रकार [नाना विषय पर संशय की निवृत्ति के लिए बहु प्रकार] प्रश्न द्वारा एवं सेवया—सेवा-शुश्रूषा द्वारा (उस ज्ञान को जानो)। ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः—शास्त्रों को जाननेवाले एवं अपरोक्ष अनुभव-सम्पन्न आचार्य गण ते—तुमको ज्ञानम् उपदेक्ष्यन्ति—उपदेश द्वारा ज्ञान प्रदान करेंगे अर्थात् तुमको तत्त्वज्ञान का उपदेश देंगे।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार के विशेषणों से युक्त ज्ञान कैसे मुझे प्राप्त होगा ? ऐसी आकांक्षा होने से क्या करना होगा वह अब कहा जा रहा है—

द्रव्ययज्ञादि से श्रेष्ठतर साक्षात् मोक्षरूप फल को देनेवाला जो ज्ञान है, उस ज्ञान को तुम जान लो अर्थात् गुरुओं को प्रसन्न कर उनसे इस ज्ञान को प्राप्त करो। किस साधन द्वारा प्रसन्न होकर गुरु अत्यन्त रहस्यपूर्ण उस ज्ञान को मुझे उपदेश देंगे ? ऐसी आकांक्षा के उत्तर में कहते हैं—तत् प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया विद्धि—गुरु को प्रणिपात द्वारा (साष्टांग नमस्कार द्वारा), सेवा द्वारा (अर्थात् समयानुसार श्रद्धा व भक्ति से की गई शुश्रूषा द्वारा), परिप्रश्न द्वारा (अर्थात् उपयुक्त समय में विनयपूर्वक गुरु के पास जाकर परिप्रश्न से) 'बन्धन किस प्रकार और मोक्ष किस प्रकार होता है ? विद्या और अविद्या दोनों क्या है ? अर्थात् इन दोनों के स्वरूप क्या हैं ? कौन आत्मा और कौन परमात्मा है ? इस आत्मा व परमात्मा की एकता कैसे होती है ? ये सब कृपा करके कहिए', इस प्रकार विवेक संबंधी प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त करो। प्रणिपात, शुश्रूषा एवं अनेक प्रकार के विवेक प्रश्नों के द्वारा तुममें श्रद्धा, भक्ति, पाण्डित्य एवं उपदेश की योग्यता देखकर प्रसन्न होकर ज्ञानिनः—ज्ञानी अर्थात् शास्त्रजन्यज्ञानसम्पत्तिसम्पन्न एवं तत्त्वदर्शिनः—

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

आत्मसाक्षात्कार से परमार्थ वस्तु (आत्मतत्त्व) के जो याथात्म्य (यथार्थ) ज्ञान उत्पन्न होता है उससे युक्त पुरुषों को तत्त्वदर्शी कहा जाता है। ज्ञानी (शास्त्रज्ञ) एवं तत्त्वदर्शी (स्वानुभवसम्पन्न)—ऐसे विशेषण द्वयविशिष्ट पुरुष द्वारा उपदिष्ट ज्ञान ही (अज्ञान का नाशक होकर) संसार का निवर्त्तक होता है। अतएव गुरु को इन दो विशेषणों से युक्त होना चाहिए। ऐसे लक्षणों से सम्पन्न गुरु ते—तुमको अर्थात् शमदमादि साधनसम्पन्न तुमको ज्ञानम्—ब्रह्म व आत्मा का एकत्वबोध जिससे होता है और जिससे निःशेष संसाररूप भ्रम की निवृत्ति होती है उस ज्ञान को उपदेक्ष्यन्ति—उपदेश देंगे अर्थात् दया करके (उपदेश द्वारा) अनुग्रह करेंगे। 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मु० उ०) इस प्रकार श्रुतिवाक्य द्वारा यह प्रमाणित होता है कि ब्रह्मनिष्ठ गुरु के निकट जाना चाहिए अर्थात् शिष्य को तत्त्वबोध कराने में गुरुओं को दो सम्पत्तियों की आवश्यकता है—(१) सर्वशास्त्र का परिज्ञान, (२) तत्त्व-दर्शन अर्थात् वस्तुविषयक (सत्य ब्रह्मरूप वस्तु के विषय में) अप्रतिबद्धानुभव (साक्षात्कार जनित एकत्वानुभव)। इन दोनों सम्पत्तियों की अपेक्षा करके 'ज्ञानिनः' एवं 'तत्त्वदर्शिनः' इन दो विशेषणों का उपन्यास (कथन) किया गया है। यहाँ 'ज्ञानिनः' इत्यादि में बहुवचन से "बहुभ्यः श्रोतव्यम्" बहुधा (अनेक पुरुषों से अनेकबार) श्रवण करना चाहिए इस न्यायानुसार गुरु अनेक होने से यदि कोई एक ब्रह्मवित्तमम् (ब्रह्मज्ञपुरुषों में श्रेष्ठ) गुरु मिल जाय तो संसार-भ्रम का नाशक सम्यग्ज्ञान एवं उस ज्ञान के जो सब लक्षण शास्त्र में कथित हैं वह प्राप्त होगा, इसी अभिप्राय से कहा गया है। बहुतों से ज्ञान प्राप्त करना होगा इस अभिप्राय से बहुवचन का प्रयोग नहीं हुआ है कारण श्रुति में 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादि में शब्दों का एकवचन कहा गया है। 'उपसीदेदेकमेव सद्गुरुं ब्रह्मवित्तमम्' (ब्रह्मवित्तमम् एक ही गुरु के समीप जाना चाहिए) ऐसा वचन भी शास्त्र में देखा जाता है। इसलिए ज्ञानलाभ के लिए शास्त्रज्ञ एवं तत्त्वज्ञ गुरु का शरणापन्न होना चाहिए, यही सिद्ध हुआ।

(३) नारायणी टीका—(१) जो शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में प्रकृष्ट ज्ञान लाभ किये हैं एवं साथ ही साथ यथार्थभाव से आत्मतत्त्व दर्शन भी किये हैं उनको ज्ञानी व तत्त्वदर्शी कहा जाता है। शास्त्रज्ञ (ज्ञानी) न होने से शिष्य के प्रश्न का यथायोग्य उत्तर देकर सर्व संशय की निवृत्ति करने में सक्षम नहीं हो सकते। फिर शास्त्रज्ञान के साथ ही साथ वे यदि स्वयं आत्मसाक्षात्कार करके तत्त्वदर्शी (सम्यग्दर्शी) हों तब ही उनसे उपदिष्ट ज्ञान कार्यक्षम होता है अर्थात् तब ही उनका उपदेश

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

शिष्य के हृदय में तत्त्वज्ञान का प्रदीप जलाकर अज्ञानान्धकार दूर करके मोक्ष-रूप फल प्रसव कर सकता है। केवल पद, वाक्य, प्रमाण कुशल शास्त्रज्ञ परोक्षज्ञानी द्वारा यह संभव नहीं होता। अर्थात् उनके उपदेश मोक्षरूप फल उत्पन्न करके संसार से त्राण नहीं कर सकते। श्रुति में इसलिए कहा गया है 'न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः। अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्'। (क० उ० ३।१।२।८) अर्थात् प्राकृत बुद्धि सम्पन्न कोई (शास्त्रज्ञ) पुरुष आत्मज्ञान का उपदेश प्रदान करने से भी आत्मा सम्यग् प्रकार से ज्ञात नहीं होती, चूँकि आत्मा उनके निकट नाना प्रकार के विकल्प का विषय होती है। अभेददर्शी (तत्त्वदर्शी) जीवन्मुक्त आचार्य के उपदेश प्रदान करने से आत्मा के संबंध में सभी प्रकार के संशय का अवसान होता है। (तर्क द्वारा) आत्मा सूक्ष्म है ऐसा किसी विद्वान् पुरुष द्वारा प्रमाणित करने पर भी उसकी अपेक्षा आत्मा और अधिक अणु है ऐसा (दूसरे विद्वान् द्वारा) प्रमाणित हो सकता है चूँकि वास्तविक दृष्टि से आत्मा तर्कातीत है (ब्रह्मसूत्र २।१।११ द्रष्टव्य)। (२) केवल शब्द द्वारा ज्ञानोपदेश कार्यकर नहीं होता। Transmitter Receiver का एक ही Wave length में रहना चाहिए। तभी संवाद ग्रहण योग्य होते हैं। अत एव प्रणिपात सेवा प्रभृति द्वारा जब शिष्य का चित्त अनुकूल होता है तभी गुरु का ज्ञान शिष्य के चित्त में संक्रमित होता है (बैठता है)। प्रकृत ज्ञान लाभ का यही उपाय है। (३) इस श्लोक के अनुरूप वाक्य श्रुति में भी कहा गया है—'तद्विज्ञानार्थं स गुरु-मेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (माण्डूक्य उ०) अर्थात् आत्मतत्त्व अवगत होने के लिए मुमुक्षु व्यक्ति हस्त में समिधा ग्रहण करके ब्रह्म को जो साक्षात्कार करके उनमें ही निष्ठालाभ किये हैं ऐसे ब्रह्मनिष्ठ एवं श्रोत्रिय (अर्थात् वेदज्ञ) गुरु के समीप जायेंगे। (४) श्लोक में 'ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः' पद में जो बहुवचन प्रयुक्त हुआ है वह अतिशय गौरवार्थ में व्यवहृत हुआ है। बहुब्रह्मनिष्ठ तत्त्वदर्शी आचार्य (गुरु) तुमको ज्ञान उपदेश देंगे ऐसा अर्थ यहाँ प्रकाश नहीं किया गया है। एक तत्त्वसाक्षात्कारी से उपदेश लाभ करके जब तत्त्वज्ञान लाभ हो सकता है तब उस ज्ञान लाभ के उद्देश्य से अन्य आचार्यों के निकट जाने का कोई प्रश्न नहीं उठ सकता। अत एव उन पदों में गौरवार्थ बहुवचन प्रयुक्त हुआ है—बहुत्व सूचित करने के लिये नहीं। उपरि उल्लिखित श्रुतिवाक्य में भी 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' पद एकवचन में ही कहा गया है। अत एव तुम्हारे अनुकूल शास्त्रज्ञ एवं तत्त्वज्ञ एक गुरु के शरणापन्न होकर श्रद्धा, भक्ति, सेवा एवं प्रश्न द्वारा तत्त्वज्ञान जान सकोगे, यही यहाँ भगवान् के कहने का अभिप्राय है।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

[ज्ञानी व तत्त्वदर्शी गुरु से ज्ञानलाभ करने से वह कार्यक्षम (फलदायक) होता है ऐसा पूर्व श्लोक में कहा गया है। ऐसे गुरु से लब्ध ज्ञान ही सार्थक फल प्रदान करता है, अब वही कहा जा रहा है।]

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे पाण्डव ! यत् ज्ञात्वा पुनः एवम् मोहम् न यास्यसि, येन अशेषेण भूतानि आत्मनि अथो मयि द्रक्ष्यसि ॥

अनुवाद—हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! उस ज्ञान का लाभ करने से तुम इस प्रकार (बन्धु बान्धवादि के लिये) मोह में अभिभूत नहीं होंगे एवं इस ज्ञान के प्रसाद से अशेष अर्थात् ब्रह्म से लेकर स्तम्ब (तृणादि का गुच्छ) पर्यन्त सर्व प्राणी को स्वीय आत्मा में एवं बाद में अपनी आत्मा को भी मुझमें (वासुदेव परमेश्वर में) अभिन्न रूप से दर्शन करोगे।

भाष्यदीपिका—**हे पाण्डव**—हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! [पाण्डु-शुद्ध] तुम्हारी बुद्धि शुद्ध है अत एव तुम ज्ञान प्राप्त कर मोह से मुक्त होंगे एवं सर्वभून को एवं अपने को मुझ में (परमात्मा में) देख सकोगे यह सूचित करने के लिए यहाँ 'पाण्डव' कहकर सम्बोधन किया गया है। **यत् ज्ञात्वा**—जिसको जानने से अर्थात् उस ज्ञानी एवं तत्त्वदर्शी आचार्य के द्वारा उपदिष्ट यथार्थज्ञान लाभ करने से **पुनः एवं मोहं न यास्यसि**—बन्धुबान्धवादि के वध की आशंका से जिस प्रकार के मोह को अब तुम प्राप्त हुए हो उस प्रकार का मोह [अर्थात् इस शरीर तथा इन्द्रियों का संघात ही (देहपिण्ड ही) मैं हूँ और युद्ध-क्षेत्र में सामने ही खड़े सभी मेरे बन्धु हैं' इस प्रकार के मोह अर्थात् अद्वितीय आत्मा में अज्ञाजनित अध्यासवश अनेकत्व भ्रमरूप मोह] को प्राप्त नहीं होगे। अभिप्राय यह है कि तत्त्वज्ञान लाभ करके 'मैं, तुम, ये बन्धु, ये शत्रु' ऐसा मिथ्याज्ञान त्याग करोगे। [प्रश्न होगा कि मेरे सामने ही असंख्य व्यक्ति युद्ध करने के लिए खड़े हैं, अतः द्वैतपदार्थ तो प्रत्यक्षसिद्ध है ऐसी अवस्था में द्वैतबुद्धिरूप मोह किस प्रकार निवृत्त होगा ? इसके उत्तर में कह रहे हैं।

येन—जिससे अर्थात् जिस ज्ञान के प्रभाव से **अशेषेण भूतानि**—अविद्या द्वारा कल्पित ब्रह्म से स्तम्ब (तृणगुच्छ) तक सभी भूत की अशेष भाव से अर्थात् किसी को भी बाकी न रखकर सभी प्राणी के **आत्मनि द्रक्ष्यसि**—प्रत्यगात्मा में अर्थात् अपने स्वरूप में साक्षात् देखोगे। यह

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

(अर्थात् पितृपुत्रबान्धवादि जो कुछ दृश्यरूप में दिखाई पड़ रहे हैं वे) सभी अपने में ही स्थित हैं ऐसा साक्षात् दर्शन करोगे। जिस प्रकार सूक्ष्मबुद्धि सम्पन्न व्यक्ति घट, कलश, कसोरा इत्यादि को मिट्टी से भिन्न अन्य कुछ नहीं देखते अथवा तरंग, फेन, बुद्बुदादि को जल से भिन्न अन्य कुछ नहीं देखते उसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार रूप ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् एकमात्र 'अहम्' शब्द द्वारा लक्षित आत्मा ही सर्वभूत के रूप से विराजमान है, ऐसा ज्ञानी को प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अब प्रश्न होगा यदि ऐसा ही हो तो ब्रह्म व आत्मा ये दोनों ही पृथक् रूप से रह जायँगे। अत एव अद्वैतसिद्धि किस प्रकार होगी ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—

अथ मयि द्रक्ष्यसि—[यहाँ 'अथ' शब्द का 'अपि' (और भी) अर्थ में प्रयोग हुआ है। श्रीधर स्वामी व शंकरानन्द 'अथ' शब्द का अर्थ 'अनन्तर' बताते हैं] सर्वभूत को अपनी आत्मा में अभिन्न भाव से दर्शन करने के साथ सर्वभूत एवं अपने को मुझमें अर्थात् सबके अधिष्ठानस्वरूप एवं निर्विशेष पर-ब्रह्मस्वरूप वासुदेव में अभिन्न भाव से देख सकोगे अर्थात् इस तत्त्वज्ञान द्वारा सभी उपनिषद् प्रसिद्ध क्षेत्रज्ञ (जीव) व ईश्वर के एकत्व का साक्षात् अनुभव कर सकोगे। अभिप्राय यह है कि सर्वभूत को अपनी आत्मा के रूप से एवं आत्मा को निर्विशेष परब्रह्म वासुदेव के रूप से साक्षात्कार होने पर सभी प्रकार के अज्ञान का नाश हो जाता है एवं इसलिए अज्ञान के कार्य का (जीव, जगत् व ईश्वर का) अस्तित्व भी लुप्त (विलीन) हो जाता है। ये तीनों (अर्थात् जीव, जगत् व ईश्वर) अज्ञान द्वारा कल्पित हैं। कल्पित वस्तु का स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है। अर्थात् अधिष्ठान से अतिरिक्त उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं रह सकती। अतः अधिष्ठान रूप परब्रह्म का साक्षात्कार होने से कल्पित जीव, जगत् व ईश्वर भी मिथ्या ही अनुभूत होते हैं। अत एव यथार्थ ज्ञान द्वारा अर्थात् परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार लाभ करने के पश्चात् द्वैतप्रतीति लुप्त हो जाती है (अर्थात् अद्वैतसिद्धि होती है। इसलिए मैं, तुम, मेरा, तुम्हारा इत्यादि रूप मोह भी नहीं रह सकता अर्थात् विद्वान् पुरुष प्रत्यगात्मा (त्वं पदार्थ) व परमात्मा (तत् पदार्थ) दोनों को ही शुद्ध चैतन्य स्वरूप जानकर 'त्वं' 'एवं' तत् पदार्थ का एकत्व साक्षात्कार करके सर्वमोह से निर्मुक्त होकर शुद्ध ब्रह्मस्वरूप में ही स्थिति लाभ करता है यही ज्ञानी व तत्त्वदर्शी गुरु से लब्धज्ञान का विशेष फल है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[अब 'यज्ज्ञात्वा' इत्यादि साढ़े तीन श्लोकों

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

द्वारा पूर्वश्लोकोक्त ज्ञान का फल बताते हैं—] हे पाण्डव यत् ज्ञात्वा—जिस ज्ञान को जानकर अर्थात् प्राप्त होकर पुनः एवं मोहं न यास्यसि—पुनरपि बन्धुओं के मर जाने के निमित्त से इस प्रकार मोह प्राप्त नहीं होगे उसका कारण यह है येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि—जिस ज्ञान से स्वकीय (अपनी) अविद्या द्वारा रचित [अपनी अविद्या द्वारा कल्पित] पिता-पुत्र प्रभृति प्राणियों को अपनी आत्मा में ही अभेद भाव से देख सकोगे (कारण कल्पित वस्तु की सत्ता अधिष्ठान की सत्ता से पृथक् नहीं हो सकती) अथ (अर्थात् उसके अनन्तर) निज आत्मा को मुझ परमात्मा में अभेद भाव से देखोगे (कारण दोनों ही शुद्ध चैतन्य स्वरूप हैं)।

(२) शंकरानन्द—सद्गुरु के उपदेश द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान का फल क्या है ? वह कह रहे हैं—

यज्ज्ञात्वा—प्रसन्न हुए ब्रह्मज्ञानियों द्वारा उपदिष्ट जिस ज्ञान को जानकर (अर्थात् ज्ञान को एकनिष्ठा से प्राप्त कर) तुम एवम्—इस समय जिस प्रकार मोह प्राप्त हो उस प्रकार मोहं न पुनः यास्यसि—मोह को पुनरपि अर्थात् 'मैं,' और 'ये मेरा है' इस प्रकार एक अद्वितीय आत्मा में अनेकत्व भ्रमरूप मोह को पुनः प्राप्त नहीं होओगे। अतएव 'तुम', 'मैं', 'यह', 'वह' इत्यादि मिथ्याज्ञान का परित्याग कर दोगे। द्वैतज्ञान के हेतुभूत ये भूतवर्ग रहने तक आत्मा के अद्वितीयत्व का अनुभव कैसे होगा ? इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं—येन—'आत्मैवेदं सर्वम्' (ये सब आत्मा ही है) इस प्रकार सभी भूतवर्ग में आत्ममात्रत्व ग्रहण करने में समर्थ जो सूक्ष्म बुद्धि है उसके द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान द्वारा भूतानि—ब्रह्म से स्तम्ब तक सभी भूतों के अशेषेण—किसी प्रकार शेष न रखकर अर्थात् निःशेष आत्मनि द्रक्ष्यसि—साक्षात् 'ये सब मैं ही हूँ' ऐसा अपने से अभिन्न देखोगे। जिस प्रकार सूक्ष्म बुद्धि द्वारा देखने से घट, कलश एवं कसोरा आदि में मृत्तिकामात्र (मिट्टीमात्र) ही देखी जाती है अथवा दीवार पर सब चित्र दीवारमात्र ही ज्ञात होता है, वैसे ही सभी भूतसमूह (दृश्यजगत् को) आत्ममात्र ही देखोगे। तथापि ब्रह्म व आत्मा—इन दोनों का भेद तो है ही, अतएव अद्वैतसिद्धि किस प्रकार होगी, इसके उत्तर में कह रहे हैं—अथ मयि—यह सभी भूतवर्गों को मुझमें अर्थात् निर्विशेष परब्रह्म में [अथ अर्थात् सर्वत्र आत्मदर्शन के अनन्तर (बाद) ही] देखोगे। इस प्रकार तुम्हारी अपनी आत्मा का एवं परब्रह्मरूप मेरा सर्वात्मकत्व देखकर दोनों का ही एकत्वदर्शन (साक्षात् अनुभव) करोगे। श्रुति में भी कहा गया है—'तत्त्वमसि' (वह अर्थात् परमब्रह्म तुम ही हो) अथवा—

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

सर्वभूतात्मक आत्मा को देखकर उस निर्विशेष (शुद्धचैतन्यस्वरूप) आत्मा को मुझमें (अर्थात् सबके अधिष्ठानभूत परब्रह्म में) देखोगे। अर्थात् ब्रह्म से अभिन्न आत्मा को देखोगे, यहां कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका--जीवात्मा व परमात्मा का अभेद ज्ञान ही ज्ञान है। इसलिए भगवान् कह रहे हैं गुरु का उपदेश श्रवण करके एवं मनन करके निदिध्यासन द्वारा (निर्विकल्प समाधि द्वारा) सर्व उपाधिरहित होकर अपनी शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभव करोगे। परब्रह्मरूप वासुदेव मैं भी शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ। अतएव हम दोनों स्वरूपतः एक ही हैं। जगत् प्रपञ्च शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा में कल्पना द्वारा (माया द्वारा) भासित हो रहा है। अतः उसके (पारमार्थिक के) अधिष्ठान विना कोई पृथक् सत्ता नहीं रह सकती। इस प्रकार से जीवात्मा व परमात्मा का अभेदज्ञान होने से ब्रह्मा से लेकर कीटाणु तक सभी प्राणियों का तुम्हारी आत्मा में तथा निर्विशेष परब्रह्मरूपी मुझमें (अर्थात् एकमात्र शुद्ध चैतन्यस्वरूप में) देखोगे अर्थात् मायारचित विभिन्न नाम, रूप एवं क्रिया को दर्शन न करके एकमात्र शुद्ध चैतन्यस्वरूप अद्वितीय आत्मा का ही सर्वत्र दर्शन करोगे। अतएव भेदज्ञान न रहने से स्वजन एवं बन्धुबान्धवादि मरेंगे ऐसी चिन्ता कर जो शोक व मोह से उद्विग्न हुए हो उसके द्वारा पुनः तुम अभिभूत नहीं होगे।

[किन्तु इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने से भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनों के बध के निमित्त जो पाप होगा उससे तो मैं मुक्त नहीं होऊँगा ऐसा प्रश्न अर्जुन के मन में उदित हो सकता है—ऐसी आशंका कर श्री भगवान् इस ज्ञान का और भी माहात्म्य वर्णन कर रहे हैं]।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

अन्वयः—चेत् सर्वेभ्यः अपि पापेभ्यः पापकृत्तमः असि (तथापि) सर्वं वृजिनं ज्ञानप्लवेन एव संतरिष्यसि।

अनुवाद—यदि तुम सभी पापीगणों से भी अधिकतर पापकारी हो तब ज्ञानरूप नौका द्वारा वह पाप समुद्र अनायास ही उत्तीर्ण हो सकोगे।

भाष्यदीपिका—चेत्—यद्यपि सर्वेभ्यः अपि पापेभ्यः पापकृत्तमः असि पाप करने वाले पुरुषों (पापियों) से अधिक पापकारी (पापी) हो। [यहाँ 'अपि' एवं 'चेत्' ये दो निपात (अव्यय) हैं। असम्भावित विषय के अभ्युपगम के लिये (स्वीकार कर लेने के लिए या मान लेने के लिये) ये

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

दोनों शब्द एकत्र प्रयुक्त हुए हैं यद्यपि अर्जुन का पाप करने वाले समस्त प्राणियों की अपेक्षा पापिष्ठतम होना असम्भव है तथापि ज्ञान के फल के माहात्म्य का निर्देश करने के लिए उसे अभ्युपगम कर (मानकर) कहा गया है (मधुसूदन)] (तथापि सर्वं वृजिनम्—ऐसा होने पर भी सभी प्रकार के वृजिन अर्थात् पाप को (पापरूप समुद्र को)। [पाप अतिशय दुस्तर (पार करना कठिन) होने के कारण समुद्र के समान है इसलिए यहाँ 'वृजिनम्' शब्द का अर्थ 'वृजिनार्णवम्' अर्थात् पाप रूप समुद्र (मधुसूदन) है]।

मुमुक्षु के लिये अकर्म के समान (पाप के समान) धर्म या पुण्य भी पाप हैं कारण धर्म व अधर्म दोनों के फल रूप से ही जन्म मरण रूप संसार-गति प्राप्त होती है। अत एव मुमुक्षु के लिये धर्म या पुण्य भी इष्ट नहीं है। अतः यहाँ 'सर्वं वृजिनम्' शब्द का अर्थ होगा धर्माधर्मरूप पाप समुद्र को।

ज्ञानप्लवेन एव—केवल ज्ञानरूप प्लव के (पोत या नौका) द्वारा, अन्य किसी के द्वारा नहीं अर्थात् केवल मात्र ज्ञान के द्वारा ही [अर्थात् मैं कूटस्थ असंग, अविक्रिय, अचल चित् स्वरूप हूँ—कोई कर्म या कर्मफल द्वारा मेरी विक्रिया (विकार) होना संभव नहीं है एवं निष्क्रिय सर्वव्यापी होने के कारण किसी भी कर्म का कर्ता मैं नहीं हूँ इस प्रकार ज्ञाननिष्ठारूप प्लव (पोत या नौका) द्वारा संतरिष्यसि—सम् शब्द का अर्थ है सम्यग् प्रकार [अर्थात् विना क्लेश से एवं पुनरपि लौटना न हो इस रूप से] तरिष्यसि अर्थात् अतिक्रम कर सकोगे। श्रुति में भी कहा गया है—'नैनं पाप्मा तरति सर्वम्, पाप्मानं तरति' अर्थात् ज्ञानी को कोई पाप अतिक्रम नहीं कर सकता, ज्ञानी सभी पापों का अतिक्रम करते हैं। जब सभी पापों को ज्ञान के आश्रय से अनायास ही उत्तीर्ण करना संभव है तब ऐसे ज्ञान में स्थित होकर युद्ध करने से द्रोण भीष्मादि के वध के निमित्त हुए पापों का अतिक्रम करोगे इसमें संशय करने का क्या है ? यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) सर्वेभ्यः पापेभ्यः—पाप शब्द का अर्थ है पापकारी, यह पहले ही कहा गया है। शंकरानन्द कहते हैं कि यहाँ महापातक, उपपातक एवं त्रिलोक में और जितने प्रकार के पाप भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान काल में किया गया है, किया जायगा और किया जा रहा है, उन सभी को 'सर्व' शब्द द्वारा ग्रहण किया गया है।

(१) श्रीधर—अपि चेत्—और यदि सर्वेभ्यः पापेभ्यः—सभी पापकारियों से (पापियों से) भी पापकृत्तमः असि—अधिकतर पाप करने

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

वाले हो तथापि **ज्ञानप्लवेन एव**—ज्ञान रूप नौका द्वारा ही **सर्वं वृजिनम्**—समुदय (समस्त) पाप समुद्र को **संतरिष्यसि**—सम्यग् प्रकार से (भली-भाँति) अनायास ही उत्तीर्ण होगे (तर जाओगे)।

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करके भी भीष्म द्रोणादि गुरुओं एवं स्वजनों के वध से जो पाप होगा उससे भी मेरी मुक्ति नहीं होगी, ऐसी अर्जुन को आशंका हो सकती है। इसलिए श्रीभगवान् अर्जुन को लक्ष्य कर कह रहे हैं—

अपि सर्वेभ्यः पापेभ्यः—तुम सभी पापियों की अपेक्षा महापातक, उपपातक एवं उनके समान पाप यथा-संकरीकरण, मलिनीकरण इत्यादि जितने पाप शास्त्रों में उक्त एवं अनुक्त हैं (समस्त और व्यस्त) उन पापों को जो करते हैं वे पापी हैं अर्थात् पाप करनेवाले (पापकारी) हैं। त्रिलोक में स्थित भूत, भविष्यत् वर्त्तमान काल में सब पापों से अर्थात् पाप करनेवालों से तुम **पापकृत्तमः चेत् असि**—यदि पापकृत्तम (पापकृत् + तम) हो अर्थात् उन सब पापी के द्वारा किये गए पाप यदि तुम अकेले करते हो तब तुम पापकृत्तम होओगे किन्तु इस प्रकार के प्रापकृत्तम होकर भी **सर्वं वृजिनम्**—सब पापों के समुद्र को **ज्ञानप्लवेन एव संतरिष्यसि**—ज्ञान रूपी नौका (नाव) द्वारा ही अर्थात् आत्मा कूटस्थ, असंग एवं चिद्रूप होने के कारण किसी प्रकार के विकार की संभावना नहीं है एवं इसलिए "मैं किसी कर्म का कर्ता नहीं हूँ", "मैं सदा निष्क्रिय ही हूँ" इस प्रकार अपने को जो अविक्रियत्व ज्ञान ही वही (पापरूप संसार सागर पार करने का) प्लव अर्थात् नौका है। ऐसी ज्ञानरूप नौका के द्वारा तुम सर्व पापों से (भीष्मद्रोणादि के वध के निमित्त हुए पापों से) उत्तीर्ण हो जाओगे, इसमें और कहना ही क्या है ?

(३) **नारायणी टीका**—जो कुछ पाप या पुण्य कर्म किये जाते हैं वे सभी प्रकृति से उत्पन्न देह, इन्द्रिय व अन्तःकरण द्वारा ही होते हैं। आत्मा इनसे विलक्षण (भिन्न) है। **दृश्यपदार्थ** मात्र ही जड़ है। आत्मा द्रष्टा एवं चेतन है। जबतक देहादि में अज्ञानवश आत्मबुद्धि रहती है अर्थात् देहादि में 'मैं' ऐसा अभिमान रहता है तबतक देहादि से कार्य करते हुए पाप व पुण्य का फल जीव को भोगना पड़ता है। तत्त्वज्ञानी जानते हैं कि आत्मा असंग, निष्क्रिय, अविकारी तथा अकर्ता है एवं आत्मा देहादि एवं देहादि के कार्य को द्रष्टा है। "मैं देह नहीं हूँ, मैं निष्क्रिय, अद्वितीय, सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान जिसको हुआ है उसका देहादिकृत पाप अथवा पुण्य (वह कितना भी प्रबल क्यों न हो) स्पर्श नहीं कर सकते। पाप व पुण्य दोनों

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

ही संसारगति के कारण हैं, इसलिए पुण्य (धर्म) भी पाप ही हैं। अतएव तत्त्वज्ञान रूप नौका (नाव) जिसके पास है वही आत्मदर्शी सर्वपाप को अनायास अतिक्रमण करता है अर्थात् देहादि द्वारा कृत धर्माधर्म कर्म उसको संसार में बद्ध नहीं कर सकते हैं। इसलिए श्रुति में कहा गया है—"अशरीरं सन्तं नैनं पुण्यपापे स्पृशतः" अर्थात् देहादि से अतिरिक्त (पृथक्) अशरीरी आत्मा को पुण्य व पाप स्पर्श नहीं कर सकते।

[ज्ञान किस प्रकार से पाप का नाश करता है उसे ही दृष्टान्त के साथ अब कहा जा रहा है—]

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हे अर्जुन ! यथा समिद्धः अग्निः एधांसि भस्मसात् कुरुते तथा ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते ।

अनुवाद—हे अर्जुन ! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठ-समूह को भस्मसात् करती है उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि कर्म-समुदाय को भस्मसात् करती है।

भाष्यदीपिका—हे अर्जुन—हे शुद्धबुद्धे ! निर्मल बुद्धि में ज्ञान उत्पन्न होता है अतएव तुम्हारे ज्ञान प्राप्त करने से उसी ज्ञानाग्नि में तुम्हारा सर्व कर्म भस्मसात् हो जायगा। यही कहने के लिए श्रीभगवान् ने यहाँ अर्जुन कह कर सम्बोधन किया। यथा—जिस प्रकार समिद्धः—सम्यक्रूप से प्रदीप्त अर्थात् प्रज्ज्वलित अग्निः—अग्नि एधांसि—काष्ठ आदि को भस्मसात् कुरुते—भस्मीभाव प्राप्त करती है तथा–उसी प्रकार ज्ञानाग्निः–ज्ञान रूप अग्नि सर्वकर्माणि—सभी कर्म से [प्रारब्ध कर्म से (अर्थात् जो वर्तमान शरीर में फल दे रहा है उस कर्म से) अतिरिक्त अन्य सभी पाप और पुण्य कर्मों को अविशेष रूप से (मधुसूदन)] भस्मसात् कुरुते—भस्मीभूत करता है। [अर्थात् कर्म-समूह के बीजभाव को (कर्म का भोग देनेवाली शक्ति को) नष्ट कर देती है]। ज्ञानाग्नि साक्षात् इंधन के समान कर्म को भस्मीभूत नहीं कर सकता किन्तु सम्यक् दर्शन रूप ज्ञान अर्थात् अविक्रिय ब्रह्म व आत्मा के ऐक्य ज्ञान (अनुभव) कर्म समूह के कारण जो अज्ञान है उस अज्ञान को विनष्ट करके अज्ञान के कार्य को अर्थात् कर्म के फलदान करने की शक्ति को नष्ट कर देता है एवं इस प्रकार से ज्ञान कर्म-समूह की निर्बीजता का कारण होता है। जिस कर्म के द्वारा यह शरीर प्रारब्ध हुआ है उसका फल पहले से प्रवृत्त हुआ है, अतएव उसे नष्ट नहीं किया जा सकता जिस प्रकार धनुष से

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

जो बाण पूर्व में ही निकल चुका है उसको पुनः लौटाया नहीं जा सकता। फलतः भोग द्वारा ही प्रारब्ध कर्म के फल का क्षय करना पड़ता है, कारण ऐसा न होने से ज्ञानोत्पत्ति के साथ ही शरीरपात की अर्थात् मृत्यु की संभावना होगी। जिस प्रारब्ध कर्म द्वारा वर्तमान शरीर तैयार हुआ है उसका नाश होने से भोग का भी शेष हो जाता है। अतएव "सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते" इस पद का तात्पर्य यह है–ज्ञान द्वारा अज्ञान नष्ट होता है। अज्ञान ही सर्व कर्म का मूल (कारण) है। कारण नष्ट होने से कार्य स्वतः ही नष्ट हो जाता है। फलतः ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व इस जन्म में जो कर्म किया गया है एवं (क) पूर्व जन्म में जो कर्म किया गया है परन्तु अभी भी फल देना आरम्भ नहीं होने के कारण जिसके सभी फल संचित है एवं (ख) ज्ञान का सहभाव अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति के बाद जो कर्म किया गया है (क्रियमाण कर्म) उन सबको तत्त्वज्ञान भस्मीभूत (निर्बीज) कर देते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि ज्ञान संचित व क्रियमाण सभी कर्म को नष्ट कर देता है। केवल प्रारब्ध कर्म का फल जितने दिन शरीर जीवित रहता है तब तक भोग करना पड़ता है। [किन्तु ज्ञानी का प्रारब्ध भोग भी अज्ञानी की दृष्टि से ही होता है कारण ज्ञानी देहेन्द्रिय से विलक्षण अखण्ड, अद्वय, शुद्ध, (असंग, अविक्रिय) चित्स्वरूप में आत्मबुद्धि करते हैं। अज्ञानी के समान देहादि में उनकी आत्मबुद्धि नहीं रहती। अतएव देहादि के भोग से उनका अपना कोई भोग नहीं होता। [शंकराचार्य प्रणीत 'अपरोक्षानुभूति' नामक ग्रन्थ में यह विषय स्पष्ट किया गया है।] इस कारण कहा जा सकता है कि ज्ञानी की दृष्टि में (आत्मनिष्ठ होने के बाद) संचित, क्रियमाण एवं प्रारब्ध सभी—कर्म ही भस्मीभूत हो जाते हैं। अर्थात् 'ज्ञानाग्नि सर्व कर्म भस्मीभूत करता है' ये बात भगवान् ने शास्त्रयुक्ति के अनुसार ठीक ही कहा है]। किन्तु ज्ञानी का शरीर रहने तक प्रारब्ध कर्म का नाश नहीं होता, यह शास्त्र में लौकिक दृष्टि से ही कहा गया है। [ज्ञानाग्नि अज्ञानजनित सभी कर्मों को भस्मसात् करती है उस विषय पर श्रुति में ऐसा कहा गया है—"भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" (मु. उ. २।२।८) अर्थात् पर और अपर ब्रह्म का (कारण रूप परमात्मा व कार्यरूप जीवात्मा के ऐक्य) साक्षात्कार होने से (तत्त्वज्ञान से) हृदय की ग्रन्थि का भेद होता है (अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है) और समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं एवं सभी कर्मों का क्षय हो जाता है। [हृदयग्रन्थि शब्द का अर्थ है पञ्चप्राण, पञ्चकर्मेन्द्रिय एवं पञ्चज्ञानेन्द्रिय एवं मन इन सोलह कलाओं में आत्माभिमान (मैं और

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

मेरी बुद्धि)। यही जीवभाव या लिंगशरीर है इस अभिमान का त्याग करने से जीव अपने परिपूर्ण स्वरूप में स्थिति लाभ कर सकता है। वेदान्त सूत्र में भी कहा गया है कि—'तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्। इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु' (वे० सू० ४।१।१३—१४) अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति होने से ज्ञान के उत्तरकालीन पाप और पुण्य द्वारा ज्ञानी श्लिष्ट नहीं होता (अर्थात् उसके संस्कार द्वारा आवद्ध नहीं होता) एवं उसका पूर्वकालीन पाप व पुण्य कर्म विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानी का शरीर पात होने से ही विदेह कैवल्य प्राप्त होता है, ऐसा निर्दिष्ट हुआ है। वेदान्त सूत्र में और भी कहा गया है "अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेरिति" (वे० सू० ४।१।१५) 'भोगेन इतरे क्षपयिता सम्पद्यन्ते' (वे० सू० ४।१।१९) अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति का पूर्वकालीन जन्मान्तर से सञ्चित एवं इह जन्म का संचित समस्त कर्म (जिनका फलभोग रूप कार्य आरम्भ नहीं हुआ है) नष्ट हो जाते हैं किन्तु प्रारब्धकर्म (जो फल देना आरम्भ किया है वह) शरीरपात तक नष्ट नहीं होता। प्रारब्ध कर्म (पुण्य व पाप को) केवलमात्र भोग के द्वारा ही समाप्त कर तदनन्तर ज्ञानी मुक्तिलाभ करते हैं। श्रुति में भी कहा गया है "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" (छा० उ० ६।१४।२) अर्थात् उस ज्ञानी व्यक्ति का तभी तक विलम्ब होता है जब तक उसका शरीर नाश होता है। अनन्तर उसके शरीर के उच्छेद के साथ ही वह मुक्त हो जाता है। (अब प्रश्न हो सकता है कि अधिकारी पुरुष तो तत्त्वज्ञानी ही होते हैं, अतएव उनके कर्मरूप बीज निःशेष होने से (नष्ट होने से) उनका पुनः शरीर-धारण किस प्रकार से संभव हो सकता है ? इसका उत्तर ऐसा है—वशिष्ठ, अपान्तरतमा प्रभृति अधिकारी पुरुषों ने जिस देह को धारण करते समय ज्ञान प्राप्त किया वही देह जो समस्त कर्म के प्रभाव से उत्पन्न हुआ वे कर्म उनके देहान्तर के (अन्यान्य देहों का) भी आरम्भक होते हैं। इसलिए वेदान्तसूत्र में कहा गया है—'यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिणाम्' (वे० सू० ३।३।३२) अर्थात् अधिकारी पुरुषों का जब तक (प्रारब्ध कर्म का फल रूप से) अधिकार रहता है तब तक अवस्थिति रहती है अर्थात् देह की स्थिति रहती है। प्रबल शुभ प्रारब्ध कर्म केवल उपासकों का ही होता है दूसरों का नहीं। उपासना के फल से जो अधिकारी पुरुष हुए हैं उनके, जो कर्म फल देना प्रारम्भ नहीं करते वे सब नष्ट हो जाते हैं। और जो कर्म फलदान आरम्भ करते हैं वे सब भोग की समाप्ति तक रह जाते हैं। इन कर्मों के भोग की समाप्ति एक ही देह में हो सकती है अथवा अनेक देहों में भी हो सकती है (मधुसूदन)।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

टीप्पणी (१) श्रीधर—[साधारण व्यक्तियों को भ्रान्ति हो सकती है कि समुद्र के समान पाप की तो सीमा नहीं है अतः ज्ञान द्वारा समुद्रवत् स्थित पाप का लंघनमात्र हो सकता है किन्तु पाप का नाश नहीं हो सकता। इस प्रकार की भ्रान्ति का दृष्टान्त द्वारा निवारण करते हैं—] यथा समिद्धः अग्निः—जिस प्रकार प्रदीप्त हुई अग्नि एधांसि—काष्ठसमुदाय को भस्मसात् कुरुते—भस्मीभूत कर देती है तथा ज्ञानाग्निः—उसी प्रकार आत्मज्ञानरूप अग्नि सर्वकर्माणि—प्रारब्ध कर्मों के अतिरिक्त अन्य सभी कर्मों को भस्मसात् कुरुते—भस्मीभूत कर देती है।

(२) शंकरानन्द—जिस प्रकार महामेरु को लंघन करने में जो समर्थ हैं उनको बालूकण को लांघने में विचार नहीं करना पड़ता है, उसी प्रकार पापरूप महासमुद्र को जब (ज्ञान द्वारा) उत्तीर्ण होने में तुम समर्थ हो तब भीष्मादि के वध से उत्पन्न पापरूप छोटी पुष्करिणी को किस प्रकार उत्तीर्ण होंगे—ऐसा विचार करना उचित नहीं है। अतएव कर्म, अकर्म एवं उसके कार्यभूत महासमुद्र को पार करने (तैरने) के लिए जो इच्छुक हैं उनके लिए एकमात्र ज्ञान ही सम्पादनीय है अर्थात् उनको एकमात्र ज्ञान का ही सम्पादन करना उचित है (ज्ञान प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करना उचित है), कारण ज्ञान द्वारा ही विद्वान् पुरुष (ब्रह्मविद्) कोटि-कोटि करोड़ कल्पों में उपार्जित सभी पापों से उत्तीर्ण होते हैं (तर जाते हैं।) इससे यह सिद्ध होता है कि सभी पाप एकमात्र ज्ञान द्वारा ही पूर्ण रूप से नष्ट हो सकता है। इसलिए श्रुति में भी कहा गया है 'नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति' [इसको अर्थात् ब्रह्मविद् पुरुष को, पाप अतिक्रमण नहीं करता, वे सर्व पाप का अतिक्रमण करते हैं (तर जाते हैं)।] समुद्र पार करने में नौका अधिक काल की अपेक्षा करती है किन्तु पाप-समुदाय को नाश करने में ज्ञान अधिक काल की अपेक्षा नहीं करता किन्तु क्षणभर में ही सभी पापों को विनष्ट कर देता है। यही अब दृष्टान्त सहित कह रहे हैं। समिद्धः—छोटे-छोटे काष्ठों के जलाने से वृद्धि प्राप्त हुई अग्निः—अग्नि यथा एधांसि—जिस प्रकार काष्ठों को भस्मसात् कुरुते—क्षणमात्र में भस्म कर देती है उसी प्रकार (समिद्धः) ज्ञानाग्निः—निरन्तर ध्यान समाधि से समिद्ध अर्थात् प्रवर्त्तित (प्रज्वलित) ज्ञानरूप अग्नि। जो ज्ञान के लक्षण बताए गए हैं उन लक्षणों से युक्त ज्ञान ही अग्नि है। इस प्रकार की ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते—पुण्य, पाप व मिश्रित सभी कर्मों को भस्मसात् अर्थात् नष्ट कर देती है। अथवा भोग से ही नष्ट होनेवाले प्रारब्ध कर्म के सिवा ज्ञान की उत्पत्ति से पहले एवं

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

बाद में किए हुए कर्मों तथा बहुत जन्मों से संचित सभी कर्मों को ज्ञानरूप अग्नि भस्मीभूत कर देती है, अर्थात् क्षणभर में राख कर देती है। जिस प्रकार स्थाणु का ज्ञान स्थाणु के स्वरूप के आवरणकारी अज्ञान को नष्ट करने के साथ ही स्थाणु में चोर, भूत आदि जो भ्रम हुआ था उसे नष्ट कर उस भ्रम के कार्य को भी (अर्थात् भय, कम्पन, प्रभृति को भी) एक ही साथ नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार 'निष्क्रिय ब्रह्म ही मेरी आत्मा का स्वरूप है' ऐसा ज्ञान भी आत्मस्वरूप को आवृत करनेवाले अज्ञान को नष्ट करने के साथ ही विद्वानों के अज्ञानजनित कर्तृत्वभ्रम को नष्ट करके कर्तृत्वभ्रम से उत्पन्न सभी कर्म को तत्क्षणात् निर्मूलित कर देता है अर्थात् निष्क्रिय ब्रह्मात्मत्व विज्ञान विद्वान् को 'मैं सदा निष्क्रिय हूँ' ऐसे विज्ञान द्वारा युक्त कर देता है, यही कहने का अभिप्राय है। यदि शंका हो कि ज्ञान का कार्य तो केवल अज्ञान की निवृत्ति करना है, तब कहना होगा कि इस प्रकार शंका युक्त नहीं है क्योंकि भ्रमादि की निवृत्ति से ही ज्ञान का कार्यत्व पर्यवसित (समाप्त) होता है अर्थात् केवल अज्ञान नहीं, अज्ञानजनित भ्रमादि भी नष्ट होने पर ज्ञान का कार्य समाप्त हो जाता है क्योंकि एक ही क्रिया से अनेक कार्यों की भी उत्पत्ति देखने में आती है। जिस प्रकार ब्रह्मास्त्र के द्वारा रावण का वक्षः-स्थल का छेदन, प्राणों का निर्गमन और देह का पात इत्यादि कार्य हुए थे, उसी प्रकार निष्क्रिय ब्रह्मात्म-विज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति के साथ कर्तव्यादिभ्रम की भी निवृत्ति होती है। यदि शंका हो कि कर्ममात्र ही जब अज्ञान का कार्य है तब अज्ञानरूप कारण का नाश होने पर सञ्चित कर्मों के समान प्रारब्ध कर्मों की भी निवृत्ति क्यों नहीं होगी? उत्तर—नहीं, ऐसी शंका करना ठीक नहीं है कारण प्रारब्ध कर्म का फल पहले ही प्रवृत्त हुआ है, अतएव उसकी निवृत्ति नहीं होती। जिस प्रकार भोग का पूर्वभावी एवं पश्चाद्भावी अन्न का त्याग किया जा सकता है किन्तु युक्त अन्न का त्याग नहीं किया जा सकता कारण उसका फल प्रवृत्त हुआ है। प्रश्न—यदि प्रारब्ध रूप कार्य की विद्यमानता स्वीकार किया जाय तो अज्ञानरूप कारण का भी अस्तित्व स्वीकार करना होगा, ऐसा यदि कहा जाय? उत्तर—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते चूँकि कारण का अभाव होने से कार्य का आभास दिखाई पड़ता है। अतएव कारण के अभाव से कार्य का भी अभाव होगा, ऐसे नियम की व्यवस्थिति का अभाव देखा जाता है अर्थात् ऐसा नियम सर्वत्र देखा नहीं जाता। जलबुद्धि नष्ट होने से भी मरुभूमि में पुनः जलाभास होता है, सत्यत्व-बुद्धि का अभाव रहने पर भी प्रतिच्छाया आदि में व्यवहार देखा जाता है,

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

इस प्रकार देहादि में आत्मत्व, सत्यत्व एवं ममत्व बुद्धि का अभाव होने से भी विद्वान् व्यक्ति का कर्म एवं कर्मफल का आभास देखा जाता है। अतएव निष्क्रिय ब्रह्मात्मविज्ञान समाधि के द्वारा अप्रतिबद्धता प्राप्त होने से (अर्थात् समाधि द्वारा साक्षात्कार करके उसमें निरन्तर स्थिति लाभ करने से) निःशेष रूप से अविद्या को निर्मूलित कर देता है, ऐसा कहना उपयुक्त है। यदि यह नहीं माना जाय तब 'यह ही घट है' ऐसा कहने मात्र से ही ब्रह्म के आवरक अज्ञान का सद्भाव (अस्तित्व) प्रसक्त (उपस्थित) होगा। अतएव 'यह' एवं 'मैं' सब ब्रह्म ही हैं यह विज्ञान कार्यसहित सम्पूर्ण अज्ञान को निर्मूलित कर देता है, यह सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार काष्ठ राशि को भस्मीभूत कर देती है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि कर्म समुदाय को भस्मसात् (नष्ट) कर देती है। 'कर्म समुदाय' शब्द का अर्थ है (क) संचित कर्म—जो कर्म पूर्वजन्म में किया गया है उसमें से जो कर्म का फल भोग का समय उपस्थित हुआ है एवं जो कर्म इस जन्म के प्रारब्ध रूप से परिणत हुआ है उसको छोड़कर अवशिष्ट जो कर्म का भोग बाकी रहता है वह ही संचित कर्म है। प्रारब्धकर्म—जिस कर्म के फल रूप से वर्तमान शरीर की उत्पत्ति हुई है एवं जिसका फल इस जीवन में भोग करना पड़ रहा है उसको प्रारब्धकर्म कहते हैं। क्रियमाण कर्म—जो कर्म इस जीवन में किया जा रहा है एवं जिसका फल भविष्यत् काल में भोग करना पड़ेगा उसको क्रियमाणकर्म कहा जाता है। ज्ञानी की देहादि अनात्मवस्तु में आत्मबुद्धि नहीं रहती। अत एव देहादि द्वारा प्रारब्ध कर्म के जो सुख दुःखादि का भोग हो रहा है वह ज्ञानी को स्पर्श नहीं कर पाता अर्थात् ज्ञानी उसे देहादि के भोग रूप से ही दर्शन करते हैं आत्मा के भोग रूप से नहीं। इस कारण ज्ञानोत्पत्ति के साथ ही ज्ञानी के केवल सभी संचित तथा क्रियमाण कर्म ही भस्मसात् (नष्ट) हो जाते हैं ऐसी बात नहीं परन्तु ज्ञानी की अपनी दृष्टि में प्रारब्ध कर्म भी नष्ट हो जाता है क्योंकि प्रारब्ध कर्मजनित भोग देहादि के होते हुए भी वह द्रष्टा रूप से ही स्थित रहता है, भोक्ता रूप से नहीं। आत्मातिरिक्त सर्व दृश्य वस्तु का मिथ्यात्व निश्चय करके भोक्ता, भोग्य व भोग ये तीनों वस्तुतः शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है अर्थात् 'मैं ही हूँ' इस प्रकार सर्वत्र एकत्व के साक्षात् अनुभव को ही तत्त्वज्ञान या सम्यग् दर्शन कहा जाता है। कर्म एवं कर्मफल जब मिथ्या है तब उसका भोग किस प्रकार सम्भव है ? अत एव ज्ञान रूप अग्नि सर्व कर्म को अर्थात् उक्त तीन प्रकार के कर्मों को नष्ट कर देती है, यद्यपि अज्ञानी

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

ज्ञानी के शरीर से प्रारब्ध का भोग देखकर ज्ञानी का ही भोग हो रहा है ऐसा सोचते हैं।

प्रश्न होगा कि ज्ञानाग्नि प्रज्ज्वलित करने का उपाय क्या है ? उत्तर— जो विषयी है एवं जागतिक वस्तु में सत्यत्व बुद्धि रखते हैं वे 'मैं ही कर्ता हूँ' ऐसा अभिमान कर कर्म करते हैं एवं कर्मफल की आकांक्षा भी करते हैं। अत एव उनको शुभ व अशुभ कर्म का फल भोग करना पड़ता है। इसलिए वे धर्माधर्मरूप पाप से मुक्त नहीं हो सकते। और जो कर्मयोगी हैं वे (१) पहले सभी कर्मों को भगवान् का कर्म मान लेने में असमर्थ होने पर भी भगवान् की प्रीति के लिए वे फलाकांक्षा रहित होकर कर्म करते हैं, (२) इसके पश्चात् उनके साधन की द्वितीयावस्था प्राप्त होती है जिससे 'मेरा कर्म नहीं है, भगवान् मेरे द्वारा कर्म करवा रहे हैं,' ऐसा मानकर अपने अहंकार को भगवान् के अहम में मिला देते हैं। इस अवस्था में कर्म में आसक्ति एवं फलाकांक्षा नहीं रहती है, (३) इस प्रकार कर्मयोग परिपक्व होने पर साधन की तृतीयावस्था में स्वयं द्रष्टा रूप से स्थित होकर कर्ता, कर्म करण इत्यादि सभी कारकों में सर्वत्र भगवान् का ही दर्शन करने का अभ्यास करते हैं। ऐसी अवस्था में 'मैं कर्ता हूँ' इस अभिमान का सम्पूर्ण रूप से नाश होता है। यही अहंकार का नाश करने के साधनों का क्रम है। उक्त प्रकार से कर्मयोग द्वारा चित्तशुद्धि होने से विविदिषा उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् गुरुमुख से वेदान्त महावाक्यादि (अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्य का) श्रवण व मनन करके निदिध्यासन के अभ्यास द्वारा आत्मसाक्षात्कार करने से जीव व ब्रह्म के ऐक्यानुभव रूप तत्त्वज्ञान का लाभ होता है। इस तत्त्वज्ञान में निरन्तर स्थिति को ब्राह्मीस्थिति अथवा ज्ञाननिष्ठा अथवा जीवन्मुक्ति अवस्था कहा जाता है। यह ही ज्ञानाग्नि है। यह अग्नि प्रज्ज्वलित होने से संसार के बीज रूप सर्वपाप भस्मीभूत हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति ही कर्म करती है एवं इस कार्य के फल को ही पाप या पुण्य कहा जाता है। आत्मा का कोई कर्म नहीं है। प्रकृति के कर्म में 'मैं कर्ता हूँ' इसप्रकार जो व्यक्ति अभिमान करता है वही विमूढ़ात्मा कर्म के फलरूप पाप या पुण्य में लिप्त होता है। और प्रकृति के कार्य देहादि 'मैं नहीं हूँ, मैं नित्यशुद्ध हूँ, चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ, कर्ता, कर्म, करण ये सब मेरा दृश्य है मैं तो उन सब का द्रष्टा या विज्ञाता हूँ' इस प्रकार आत्मज्ञान की अनुभूति जिनको सतत रहती है उनका कर्मफल किस प्रकार रह सकता है ? अतः इस प्रकार की

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

ज्ञानाग्नि सभी कर्म को (अर्थात् ज्ञानी की दृष्टि में प्रारब्ध, संचित व क्रियमाण सभी कर्म को) मूल अज्ञान के साथ नष्ट कर देती है।

[चूँकि ज्ञान धर्माधर्म रूप (संसार के वीज स्वरूप) पाप समुद्र से उत्तीर्ण कर देता है, अतएव ज्ञान के समान पवित्र और कुछ नहीं है, यह ही अब कहा जा रहा है—]।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

अन्वयः—इह ज्ञानेन सदृशं पवित्रं न हि विद्यते। कालेन योगसंसिद्धः सन् स्वयम् आत्मनि तत् विन्दति।

अनुवाद—इहलोक में ज्ञान के सदृश पवित्र और कुछ नहीं है। मुमुक्षु बहुकाल से (दीर्घकाल से अर्थात् बहुत समय तक) योगानुष्ठान द्वारा—सम्यग् प्रकार से सिद्ध होकर अर्थात् कर्मयोग अथवा समाधियोग द्वारा शुद्ध होकर योग्यता प्राप्त कर समय पर अपने अन्तःकरण में ही उसी ज्ञान का लाभ करते हैं।

भाष्यदीपिका—इह—इहलोक में (इस जगत् में) [वेदादि शास्त्रों में अथवा लोक व्यवहार में (मधुसूदन)] ज्ञानेन सदृशम्—ज्ञान के सदृश पवित्रम्—पवित्र अर्थात् अत्यन्त शुद्धिकर [तथा परम पुरुषार्थ का साधन] न हि विद्यते—और कुछ नहीं है। 'हि' शब्द का निश्चयार्थ में व्यवहार किया गया है। चूँकि पुण्य पाप एवं मिश्रित कर्म से नाना योनि में अनेक प्रकार के जन्ममरणादि महादुःख में पतित होना पड़ता है किन्तु अविकारी आत्मा का ज्ञान शतशत कल्पों से अर्जित समस्त कर्मों को समूल (अविद्या के सहित) नष्ट कर देता है। इसलिए ज्ञान ही परमपवित्र है अर्थात् परम पुरुषार्थ (मोक्ष) का श्रेष्ठ-उपाय है—उसे ही सूचित करने के लिए हि शब्द का प्रयोग किया गया है। ज्ञान के सदृश अन्य कुछ (अश्वमेधादि यज्ञ, तप, दान इत्यादि) शुद्धिकर नहीं है कारण ज्ञान बिना अज्ञान निवृत्त नहीं होता। अज्ञान ही धर्माधर्म रूप कर्म का मूल कारण है, अतः संसार के वीजस्वरूप सभी पापों का हेतु है। पाप का हेतु अज्ञान विद्यमान रहने से प्रायश्चित्त, दान तपस्यादि द्वारा अन्य किसी उपाय से इस पाप की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती कारण पाप का कारण (अज्ञान) विद्यमान रहने से पुनः पाप का उदय होना संभव है।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

(क) प्रायश्चित्तादि विशेष कोई कर्म द्वारा विशेष कोई पाप नष्ट होता है किन्तु उसके द्वारा बहुत जन्मों से अर्जित (संचित) एवं इस जन्म में कृत (क्रियमाण) सर्व पाप सर्वकाल के लिए एकसाथ निवृत्त नहीं हो सकते।

(ख) किसी पाप की सामयिक रूप से निवृत्ति होने पर भी उसका पुनः उदय होता है।

(ग) प्रायश्चित्तादि केवल पाप को ही नष्ट करते हैं।—पुण्य को नहीं। पुण्य रहने से भी जन्ममरण का बीज रहता है। किन्तु ज्ञान द्वारा पाप, पुण्य, मिश्र, संचित तथा क्रियमाण सर्वकर्म एक साथ नष्ट हो जाते हैं अर्थात् ज्ञान से अज्ञान का नाश होने पर अज्ञान के कार्य समस्त पाप की (धर्म व अधर्म की) भी आत्यन्तिक (चिरकाल के लिए) निवृत्ति हो जाती है। इसलिए ज्ञान के समान पवित्र अन्य कुछ नहीं है, ऐसा कहा गया। अब प्रश्न हो सकता है कि यदि ज्ञान का इस प्रकार माहात्म्य है तब सभी लोग उस ज्ञान को शास्त्राध्ययन द्वारा या अन्य कोई ज्ञानी उपदेष्टा से क्यों नहीं लाभ कर लेते ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—कालेन—बहुत समय के अभ्यास के बाद योगसंसिद्धः (सन्)—मुमुक्षु पूर्वोक्त कर्मयोग या समाधियोग के द्वारा तत्त्वज्ञान के प्रतिबन्धक (विघ्न) का निर्मूलित कर संसिद्ध होकर (संस्कृत होकर) अर्थात् चित्तशुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान की योग्यता लाभ कर स्वयम्—अपने आत्मनि—आत्मा में अर्थात् अन्तःकरण में तत्—जो अविद्या एवं उसके सभी कार्यों का ध्वंस (नाश) करता है उस आत्मविषयक ज्ञान को विन्दति—लाभ करता है। [किन्तु जिस व्यक्ति ने योग्यता लाभ नहीं किया वह दूसरे के द्वारा दिया गया ज्ञान अपने में (बुद्धि में) लाभ नहीं कर सकता अथवा परनिष्ठ ज्ञान को अपने ज्ञानरूप से प्राप्त नहीं करता है (मधुसूदन)। सब के हृदय में (बुद्धि में) जो शीघ्र ज्ञान का उदय नहीं होता उसका कारण है योग्यता का अभाव (आनन्दगिरि)]। यह ही 'योगसंसिद्धः 'कालेन आत्मनि विन्दति' वाक्य का तात्पर्य है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[ज्ञान समस्त कर्मों को भस्मीभूत करता है उसका कारण दिखाते हैं—]

इह—इहलोक में तपस्या एवं योगादि साधनों में ज्ञानेन सदृशं पवित्रं न हि विद्यते—ज्ञान के सदृश (तुल्य) पवित्र (शुद्धिकर) कुछ भी नहीं है। [प्रश्न होगा कि तब सभी लोग क्यों आत्मज्ञान का अभ्यास नहीं करते ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—] तत्—उसी आत्मा के बारे में

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

ज्ञानं कालेन—दीर्घकाल तक कर्मानुष्ठान द्वारा संसिद्धः—योग्यता प्राप्त कर स्वयम्—स्वयं ही अनायास आत्मनि—अपने में (अपनी बुद्धि में) विन्दति-लाभ करता है। किन्तु कर्मयोग विना यह संभव नहीं।

["कर्मयोग बिना संभव नहीं" ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि कर्मयोग बिना चित्तशुद्धि नहीं होती एवं चित्तशुद्धि विना ज्ञानलाभ नहीं होता। श्रीधर स्वामी ने यहाँ कर्मयोग द्वारा तपः, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान इत्यादि सभी कर्मों का ग्रहण किया है। पातञ्जल योगदर्शन में भी कहा गया है कि ["तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगाः" (पा० यो० २।१)] अर्थात् तप, स्वाध्याय, (वेदादि शास्त्र का अध्ययन अथवा भगवान् के नाम का जप) तथा ईश्वर प्रणिधान अर्थात् सर्वकर्म ईश्वर में समर्पण कर ईश्वर का ही शरणापन्न होना—वे सब कर्मयोग हैं]।

(२) शंकरानन्द—शंका—अच्छा, राजसूय अश्वमेधादि यज्ञों से कन्यादि दानों से और कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप द्वारा सभी पापों की निवृत्ति जब संभव है तब सर्वपरिग्रह त्यागमूलक शम दमादि साधनापूर्वक संन्यास श्रम का ग्रहण करके आत्मज्ञान का सम्पादन करने से क्या लाभ होगा? उत्तर—इस प्रकार की शंका युक्तियुक्त नहीं है कारण जिस रोग का औषध दिया जाता है उस रोग की ही उसके द्वारा निवृत्ति होती है, इस प्रकार जिस उद्देश्य से उक्त राजसूयादि किये जाते हैं उन उद्दिष्ट पापों की उनके द्वारा निवृत्ति होती है अन्य विविध नाना प्रकार के संचित, आगामी व वर्तमान पापों की निवृत्ति नहीं होती। पुनः उन राजसूयादि कर्मों द्वारा पाप की ही निवृत्ति होती है, बहुत जन्मों के सम्पादित पुण्य कर्मों का नाश उनके द्वारा नहीं होता किन्तु निष्क्रिय ब्रह्मज्ञान पाप, पुण्य, मिश्र, संचित, आगामी, वर्तमान सभी कर्मों के नाश का परम कारण होता है। इसलिए ज्ञान ही पवित्रतम है। इसके समान अन्य कुछ भी नहीं है। अतः मुमुक्षु के लिये प्रयत्नपूर्वक उस ज्ञान का सम्पादन करना ही कर्त्तव्य है, यह सूचित करने के लिए भगवान् कहते हैं हि—चूँकि अविक्रिय आत्मज्ञान नानाविध योनियों में अनेक प्रकार के जन्ममरणादि महादुःखों की परम्परा प्राप्ति के हेतुस्वरूप पुण्य, पाप, मिश्र रूप अनेक कल्पशतों में उपार्जित सम्पूर्ण कर्मों को समूल (अर्थात् उसके कारण अज्ञान के साथ) नष्ट कर देते हैं इसलिए ज्ञानेन सदृशम् इह पवित्रं न विद्यते—ज्ञान के सदृश (अर्थात् जिस प्रकार ज्ञान का धर्म कहा गया है उसी प्रकार धर्मों के तुल्य) इस लोक में एवं शास्त्र में पवित्र (अत्यन्त शुद्धिकर) परम पुरुषार्थ (मोक्ष) का साधन अन्य कोई नहीं है। इस प्रकार की शुद्धि का

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

कारण (मुक्ति का साधन) इह लोक में या लोकान्तर में संभव नहीं है। तत्—ऐसे ज्ञान को अर्थात् अनादि अविद्या और अविद्या के कार्य को नष्ट करने में समर्थ इस ज्ञान को कालेन योगसंसिद्धः—श्रवणादि साधन सम्पन्न अधिकारी यति दीर्घकाल में योगसंसिद्ध होकर [ज्ञानयोग द्वारा अर्थात् तात्पर्य से की गई नित्य निरन्तर समाधि निष्ठारूप ज्ञान-योग के अनुष्ठान द्वारा जिसने संसिद्धि प्राप्त की है अर्थात् निःशेष (सम्पूर्ण रूप से) वाह्यवासना की विनाशरूप सिद्धि को प्राप्त किया है उसको योगसंसिद्ध कहा जाता है। इस प्रकार योगसंसिद्ध होकर अर्थात् सम्यग् प्रकार से सभी प्रतिवन्धों का निर्मूलन कर] आत्मनि—स्वयं अपने अन्तःकरण में विन्दति—(उस ज्ञान को) प्राप्त करता है। "मैं और यह सब जगत् ब्रह्म ही है" इस प्रकार की अप्रतिवद्ध (निरन्तर) ब्रह्ममयी वृत्ति उसकी बुद्धि में उदित होती है।

(३) नारायणी टीका—पहले ही कहा गया है कि ज्ञान शब्द का अर्थ है सच्चिदानन्द ("सत्यम्-ज्ञानम्-अनन्तम्") ब्रह्म के साथ जीवात्मा का (अपनी आत्मा का) ऐक्य एकत्व अनुभव करना। अत एव यह आत्मज्ञान स्वसंवेद्य है (अर्थात् अपने से अपने को वेदन करना पड़ता है अर्थात् जानना पड़ता है)। कर्मयोग या ध्यान योग दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक अभ्यास करके चित्तशुद्धि लाभ करने से श्रवण, मनन व निदिध्यासन द्वारा यह ज्ञान स्वतः ही अपने अन्तःकरण में उदित होता है अर्थात् "सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव" (सब कुछ एवं मैं ब्रह्म ही हूँ) ऐसी ब्रह्ममयी वृत्ति अविच्छिन्न भाव से बुद्धि में चलती रहती है। अतः ज्ञान वाहर को कोई वस्तु न होने के कारण जब तक योग साधन द्वारा अपनी योग्यता लाभ नहीं करता अर्थात् चित्तशुद्धि नहीं होती तब तक ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर को गुरुरूप से प्राप्त होने पर भी आत्म-ज्ञान लाभ करने में कोई भी समर्थ नहीं होता। यही श्लोक में "स्वयम् आत्मनि विन्दति" (अर्थात् स्वयं ही अपने अन्तःकरण में लाभ करता है) इस वाक्य का तात्पर्य है।

[जिन उपायों के द्वारा ज्ञान लाभ अवश्य ही किया जा सकता है एवं जो पूर्वकथित (प्रणिपातादि) उपायों की अपेक्षा अन्तरंग साधन हैं उनके विषय में उपदेश अब श्रीभगवान् दे रहे हैं—]

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

अन्वयः—श्रद्धावान् तत्परः संयतेन्द्रियः (सन्) ज्ञानं लभते ज्ञानं लब्ध्वा अचिरेण परां शान्तिम् अधिगच्छति।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अनुवाद—जो योगी श्रद्धावान् होकर गुरु की उपासना प्रभृति ज्ञान लाभ के उपाय के अनुष्ठान में तत्पर (निष्ठावान्) रहता है तथा जितेन्द्रिय है, वह ही आत्मज्ञान लाभ करने में समर्थ होता है एवं ज्ञान लाभ करके शीघ्र ही परम शान्ति (मोक्ष) प्राप्त करता है।

भाष्यदीपिका-श्रद्धावान्-श्रद्धालु। [गुरुवाक्य तथा वेदान्तवाक्यश्रवण कर "यह इस प्रकार ही है" ऐसी जो सत्यत्व बुद्धि या आस्तिक्य बुद्धि का उदय होता है उसको श्रद्धा कहा जाता है (मधुसूदन)]। इस प्रकार की अव्यभिचारिणी श्रद्धा जिस मुमुक्षु व्यक्ति का है वह ज्ञानं लभते--ज्ञानलाभ कर सकता है। किन्तु श्रद्धाशील होकर भी कभी-कभी कोई मन्द प्रस्थान होता है [अर्थात् उपदेश सुनकर भी उसका तात्पर्य अवधारण करने में असमर्थ होने के कारण (आनन्दगिरि) अथवा अलस होने के कारण (मधुसूदन) मन्दाधिकारी होता है अथवा आलस्यवश उपदेश के अनुसार अभ्यास न करने से उस उपदेश का तात्पर्य ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता—] एवं उसी कारण तत्त्वज्ञान लाभ नहीं कर सकता। अतएव श्रद्धावान् होकर ज्ञानलाभ के लिए जो सब उपाय शास्त्र में विहित है [यथा—गुरुशुश्रूषा, प्रणिपात (गीता ४।३४) एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि (आनन्दगिरि)] उनका भलीभाँति अनुष्ठान करना कर्तव्य है। गुरु की शुश्रूषा आदि न करने से गुरु कृपा करके तत्त्वज्ञान आदि नहीं देंगे। फिर श्रवण, मनन व निदिध्यासन न रहने से इस उपदेश की जो लक्ष्यवस्तु है उसका (परमात्मा का) साक्षात्कार नहीं होगा। अतः श्रद्धावान् होने से भी मुमुक्षु को ज्ञानलाभ के लिए किस प्रकार के गुणों से विशिष्ट होना आवश्यक है उसे कहते हैं—तत्परः—"तत्" अर्थात् ज्ञानलाभ के उपायस्वरूप गुरु की उपासना एवं श्रवणादि व्यापारों में 'पर' अर्थात् अत्यन्त, अभियुक्ति (निष्ठावान्) जो रहता है उसको 'तत्पर' कहा जाता है। फिर भी ज्ञान प्राप्ति के उपाय के संबंध में श्रद्धावान् तथा तत्पर होकर भी यदि वह सभी इन्द्रियों को अपने वश में रखने का अभ्यास नहीं करता तो उसको ज्ञानलाभ नहीं हो सकता। इसलिए कहा जा रहा है—संयतेन्द्रियः—जो सभी इन्द्रियों को संयत अर्थात् विषयादि से निवर्तित (निवृत्त) कर चुका है अर्थात् अपने वश में ला सका है वह ही संयतेन्द्रिय है। अभिप्राय यह है कि जो एकाधार में श्रद्धावान्, तत्पर व संयतेन्द्रिय है वह अवश्य ही तत्त्वज्ञान लाभ करने में समर्थ है। गीता के पूर्वश्लोक (४।३४) जो प्रणिपातादि उपायों के विषय में कहा गया है वे बाह्य (बहिरंग साधन) है एवं अनैकान्तिक (अनिश्चित) हैं अर्थात् उन सब बाह्य उपायों द्वारा

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

निश्चित रूप से ज्ञान रूप फल नहीं प्राप्त होता कारण मायावीत्त्व (प्रतारणा, कपटता) प्रभृति की सम्भावना रहतो है अर्थात् कभी कोई व्यक्ति कपटता का आश्रय करके भी बाहर से प्रणाम शुश्रूषादि द्वारा गुरु के प्रति अनुकूल भाव दिखा सकता है किन्तु कपट व्यवहार करनेवाले के हृदय में कभी भी तत्त्व-ज्ञान का उदय होना सम्भव नहीं है। इस कारण से वे अनैकान्तिक हैं अर्थात् उस प्रकार प्रणिपातादि का फल निश्चित नहीं है। किन्तु श्रद्धा प्रभृति आन्तरिक (अन्तरंग) उपायों का जिन्होंने आश्रय किया है उनमें प्रतारणादि की संभावना न रहने से वे ऐकान्तिक (निश्चित रूप से फलप्रद) हैं। अतः इस श्लोक में जिन तीन आभ्यन्तरीय उपायों का निर्देश किया गया है उनके द्वारा तत्त्वज्ञान निश्चित रूप से प्राप्त होता है इसमें संशय का कोई कारण नहीं है। अब यह ज्ञान (परमार्थ ज्ञान) लाभ करने से क्या होता है इसके बारे में कहा जा रहा है—

ज्ञानं लब्ध्वा—ज्ञान लाभ करके परां शान्तिम्—मोक्ष नामक चरम शान्ति को या उपरति [अर्थात् अविद्या तथा उसके कार्य की निवृत्ति रूप (संसार की आत्यान्तिक निवृत्ति रूप) मोक्ष को (मधुसूदन)]। जागतिक विषयों के द्वारा जो शान्ति प्राप्त होती है वह क्षणिक, परिच्छिन्न व दुःखों से मिश्रित रहती है किन्तु परमानन्द रूप आत्मा का साक्षात्कार करके (तत्त्वज्ञान लाभ करके) जो शान्ति प्राप्त होती है वह नित्य, शाश्वत व अनन्त है एवं इस कारण ही उसी शान्ति को परा शान्ति कहा जाता है। उसे अचिरेण—शीघ्र ही अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति के साथ ही अधिगच्छति—लाभ करता है। सम्यग् दर्शन के साथ ही मोक्ष लाभ होता है यह हो सर्वशास्त्र तथा न्यायादि का प्रसिद्ध एवं सुनिश्चित सिद्धान्त है। [प्रदीप स्वयं ही उत्पन्न होकर जैसे अन्धकार को तत्क्षणात् निवृत्त (दूर) करता है, उसके लिए किसो सहकारी की आवश्यकता नहीं होती, ऐसे ही ज्ञान भी अपनी उत्पत्ति द्वारा ही अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा न कर तत्क्षणात् (तुरन्त) अज्ञान एवं उसके सभी कार्यों का विनाश करके मोक्ष रूप फल प्रसव करता है। ज्ञानोत्पत्ति, (तत्त्वज्ञान का उदय) एवं मोक्ष इन दोनों में कोई भी अन्तर (भेद) नहीं है, यही "अचिरेण" शब्द से सूचित किया गया है (मधुसूदन)]।

[ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् जितने दिनों तक ज्ञानी शरीर धारण करते हैं उतने दिन वे जीवन्मुक्ति के आनन्द का भोग करते हैं एवं देहपात के बाद विदेह मुक्ति या कैवल्य प्राप्त करते हैं। भाष्य में कहा गया है कि सम्यग् दर्शन होने से शीघ्र ही मोक्ष लाभ होता है। यह सब शास्त्रों में प्रसिद्ध

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

है एवं न्याय से (युक्ति से) भी यह सिद्ध होता है। सर्वशास्त्रों में (विशेषकर श्रुति में) ऐसे असंख्य वाक्य हैं, यथा–"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" (कैवल्य० उ०) "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" अर्थात् अखण्डाद्वय, चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर ही (सम्यग् दर्शन करके ही) मृत्यु के पर (पार) जाता है; ज्ञान से ही कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त हो सकता है; ब्रह्मविद् परम पुरुष को (परमात्मा को) प्राप्त होता है इत्यादि इत्यादि। न्याय अर्थात् युक्ति द्वारा भी यह सिद्ध है। जिस प्रकार रज्जु के ज्ञान द्वारा रज्जु में आश्रित अज्ञान व उसका कार्य सर्पादिभ्रान्ति की निवृत्ति होती है उसी प्रकार निरपेक्ष आत्मज्ञान से भी आत्मसम्बन्धी अज्ञान तथा इस अज्ञान के सभी कार्य निवृत्त होकर मोक्ष प्राप्त होता है, यही न्याय के लक्षण हैं (आनन्दगिरि)]। अत एव मुमुक्षु को श्रद्धावान्, तत्पर व संयतेन्द्रिय होकर अवश्य ही ज्ञान लाभ करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए, यही श्लोक का तात्पर्य है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[फिर से] श्रद्धावान्—श्रद्धालु अर्थात् गुरु द्वारा उपदिष्ट विषय में आस्तिक्य बुद्धि वाला और उसमें तत्परः—एकनिष्ठ [गुरु की शुश्रूषादि में एवं गुरु के उपदेश पालन करने में जिसको ऐकान्तिक (अत्यधिक) निष्ठा है वह] संयतेन्द्रियः-एवं जिसकी सभी इन्द्रियाँ संयत हैं (सम्पूर्ण रूप से अपने वश में हैं) ऐसा व्यक्ति ज्ञानं लभते—उसी ज्ञान का (जिस ज्ञान के सम्बन्ध में पहले कई श्लोकों में कहा गया है उसी ज्ञान का) लाभ करता है, दूसरा व्यक्ति उसे नहीं पाता है। अत एव ज्ञान प्राप्त होने के पहले चित्तशुद्धि के लिए श्रद्धादि सम्पत्ति के द्वारा कर्मयोग का ही अनुष्ठान करना कर्तव्य है। ज्ञान लाभ करने के बाद उनका कोई कर्तव्य नहीं रहता इसलिए कहते हैं ज्ञानं लब्ध्वा—ज्ञानलाभ करके किन्तु अचिरेण—अति शीघ्र ही (तत्काल ही) परां शान्तिम्–परम शान्ति को (मोक्ष को) अधिगच्छति–प्राप्त हो जाता है।

(२) शंकरानन्द –इस प्रकार ज्ञान का माहात्म्य एवं उसकी सिद्धि का प्रकार कहकर ज्ञानयोग की सिद्धि के अन्तरंग सभी साधनों का वर्णन करते हैं—

श्रद्धावान्—"तत्त्वमसि" (तुम ही वह ब्रह्म हो) इस श्रुति द्वारा ब्रह्म व आत्मा के एकत्व के विषय में कहा गया है। वही गुरु द्वारा भी उपदिष्ट होता है। इस प्रकार गुरुवाक्य एवं श्रुतिवाक्य में सत्यत्व बुद्धि को (अर्थात् गुरु जो कहते हैं एवं श्रुति में जो कहा गया है वही सत्य है, वह अभ्रान्त है, इस प्रकार की बुद्धि को) श्रद्धा कहा जाता है। इसलिए श्रुति में भी कहा

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

गया है—"अस्तीत्येवोपलब्धव्यः" अर्थात् अस्तित्वरूप से आत्मा को जानना चाहिए। जिसको इस प्रकार की अव्यभिचारिणी (अचला) श्रद्धा है उसको श्रद्धावान् कहा जाता है। मुमुक्षु को श्रद्धावान् होना आवश्यक है। श्रद्धा के न रहने से तो समझना होगा कि उसके पास कुछ है ही नहीं। अत एव प्रयत्न-पूर्वक श्रद्धा का सम्पादन करना चाहिए, यहाँ यही कहने का अभिप्राय है। श्रद्धावान् होने पर भी यदि साधक बहिर्मुख हो तो भी उसको ज्ञान प्राप्त नहीं होता। अतः मुमुक्षु जिससे बहिर्मुख न हो उसके लिए कह रहे हैं—

संयतेन्द्रियः—जिसने इन्द्रियों को संयत कर लिया है अर्थात् जिसकी कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवर्त्तित नहीं होती हैं अर्थात् विषयों से निवृत्त होती हैं वह संयतेन्द्रिय है। संयतेन्द्रियत्व यति का धर्म है इसलिए यति का सर्वदा संयतेन्द्रिय होना कर्तव्य है क्योंकि जो बाहर की प्रवृत्ति से रहित है वह ही ज्ञान प्राप्त करता है एवं प्राप्त हुआ ज्ञान संयतेन्द्रिय पुरुष से ही रक्षित होना संभव है। अन्यथा उस ज्ञान की स्थिति नहीं होती। इस प्रकार श्रद्धावत्व और संयतेन्द्रियत्व दोनों सिद्ध होने पर भी यदि अन्तर (भीतर) में विषयों का ही ध्यान चलता रहता है तो यति के ज्ञान की सिद्धि नहीं होती है। अतः (केवल बाह्यिक विषयों से इन्द्रियों के संयत होने से नहीं चलेगा) भीतर भी विषयों के ध्यान से रहित होना पड़ेगा। इसलिए कहते हैं तत्परः—सर्वदा 'तत्' में [उसी में अर्थात् वृत्ति के भीतर और बाहर ब्रह्माकारता के सम्पादन में ही पर अर्थात् आसक्त चित्त जो है वही तत्पर है ब्रह्माकारवृत्तिपरत्व ही ज्ञान का असाधारण कारण होता है क्योंकि उसके द्वारा सभी विपरीत प्रत्यय (आत्मा से भिन्न सभी जागतिक विषयक प्रत्यय) नष्ट हो जाते हैं एवं अनात्मवासनाएँ (आत्मा से भिन्न अन्य वस्तु की वासना) नष्ट हो जाती हैं एवं ज्ञान की अप्रतिबद्धता सिद्ध होती है अर्थात् ज्ञान का और कोई प्रतिबन्धक (रुकावट) नहीं रहता। इसलिए मोक्षार्थी को 'तत्पर' होने के लिए प्रयत्न करना कर्त्तव्य है। इस प्रकार के श्रद्धावत्त्व, संयतेन्द्रियत्व एवं तत्पर-त्वादि ये तीनों नियत (निरन्तर स्थायी) विशेषणसम्पन्न यति (संन्यासी) ही ज्ञानं लभते—"मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकार के अप्रतिबद्ध ज्ञान को प्राप्त करता है—इससे अन्य दूसरा विद्वान् सैकड़ों बार वेदान्त सुनकर भी एवं सुनाकर भी उस ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता। ज्ञानं लब्ध्वा—इस प्रकार श्रद्धावत्त्व, संयतेन्द्रियत्व एवं तत् परत्वादि साधन सम्पन्न होकर दीर्घकाल तक नित्य निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान द्वारा जगत् को एवं अपने को ब्रह्मात्मरूप से ही वह विद्वान् उपलब्धि करता है। इस प्रकार

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

ज्ञान को लाभकर ब्रह्मविद् यति अचिरेण परां शान्तिम् अधिगच्छति— शीघ्र ही अर्थात् ज्ञान प्राप्ति की दूसरे क्षण में ही परा शान्ति का लाभ करता है अर्थात् निरतिशय सुखात्मिका तथा ब्रह्मस्वरूप आत्मा में अवस्थितिरूप शान्ति को (अर्थात् विदेह-मुक्ति को) प्राप्त करता है। उस शान्ति का लक्षण क्या है ? वह शान्ति (१) संशय व विपरीत भावना आदि से रहित ज्ञान के द्वारा ही अवभासित (प्रकाशित) होती है, (२) वह वस्तुस्वभाव वाली है (अर्थात् स्वभावतः सुखस्वरूप है), (३) एवं अविद्या तथा उसके कार्य के आभास से रहित है।

(३) नारायणी टीका—श्रद्धा व विश्वास ही आध्यात्मिक विकास के पथ में महासम्पद् है। जागतिक जीवन में भी श्रद्धा का मूल्य अन्य साधनों की अपेक्षा बहुत अधिक है। इसी कारण से याज्ञवल्क्य कहते हैं— 'श्रद्धाविधिसमायुक्तं कर्म यत् क्रियते नृभिः। सुविशुद्धेन भावेन तदानन्त्याय कल्पते ॥' अर्थात् जो कोई भी कर्म क्यों न हो मनुष्य यदि श्रद्धापूर्वक विशुद्ध-भाव से उसका सम्पादन करे तो वह अनन्त फल प्रदान करता है। महाभारत के शान्तिपर्व (२६४ श्लोक) में कहा गया है—अश्रद्धा की अपेक्षा गुरुतर पाप एवं श्रद्धा की अपेक्षा पापनाश करने के लिए और कोई श्रेष्ठ उपाय नहीं है।

जगत् के सभी प्राणी श्रद्धामय हैं (गीता १७।३)। अन्तःकरण के संस्कार के अनुसार ही भिन्न-भिन्न व्यक्ति की विभिन्न वस्तु या व्यक्ति पर श्रद्धा रहती है। इस प्रकार के सात्त्विक संस्कार सम्पन्न व्यक्ति की सात्त्विकी श्रद्धा, रजः प्रकृतियुक्त व्यक्ति की राजसी श्रद्धा एवं तामसी प्रकृति सम्पन्न व्यक्ति की तामसी श्रद्धा रहती है। यहाँ श्रद्धावान् शब्द के द्वारा सात्त्विकी श्रद्धा को समझाया है। 'परमात्मा के विषय में गुरु द्वारा एवं शास्त्र में जो कुछ कहा गया है वही हमारे लिए यथेष्ट है—अन्य कुछ भी हमें जानने व सुनने की आवश्यकता नहीं है,' इस प्रकार जो अटल (अविचलित) विश्वास रहता है उसे सात्त्विकी श्रद्धा कहते हैं। इसी प्रकार श्रद्धा रहने से ही मुमुक्षु तत्पर होता है अर्थात् गुरूपदिष्ट विषय में एकनिष्ठ होता है [तत् पदार्थ ही (परब्रह्म-ही) उसका पर (चित्त की स्थिति का परम स्थान) होकर रहता है अर्थात् परब्रह्म में ही उसके चित्त की स्थिरता प्राप्त होती है]। फलतः ऐसे श्रद्धावान् व तत्पर पुरुष स्वतः ही संयतेन्द्रिय होते हैं अर्थात् उनकी इन्द्रियाँ केवल सभी बाह्य विषयों से ही संयत (उपरत) होती हैं ऐसा नहीं किन्तु अन्तःकरण भी सर्व वृत्तिरहित होकर परब्रह्म परमात्मा में ही संयत (लीन) रहता है। इस प्रकार के निर्विकल्प समाधि से आत्मसाक्षात्कारजनित तत्त्वज्ञान लाभ

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

होता है। तत्त्वज्ञान लाभ करने के साथ ही अर्थात् अति शीघ्र ही अज्ञान-जनित आवरण नष्ट होने से आत्मस्वरूप में स्थित परमानन्द का आविर्भाव होता है। परमानन्द को प्राप्ति ही सभी प्राणियों की एकमात्र लक्ष्य वस्तु है एवं उसके प्राप्त होने से ही सर्व कार्य एवं संसारगति समाप्त हो जाती है। इसलिए श्रुति में कहा गया है 'सा काष्ठा सा परा गतिः'। अतएव ज्ञाननिष्ठा से होनेवाली ब्राह्मीस्थिति में ही उस परा (निरतिशय) शान्ति की प्राप्ति होती है—दूसरा कोई उपाय नहीं है।

[श्री भगवान् ने पूर्वश्लोक में जो कुछ भी कहा है उस विषय में संशय करना उचित नहीं है कारण संशय अतिशय पापी है अर्थात् पाप का हेतु है। कैसे पाप का हेतु बनता है उस विषय में कहते हैं —]

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

अन्वयः—अज्ञः च अश्रद्दधानः च संशयात्मा च विनश्यति। संशयात्मनः अयं लोकः नास्ति, न च परः, न च सुखम् (अस्ति)।

अनुवाद—जो व्यक्ति स्वयं अज्ञ (ज्ञानहीन) है और गुरु तथा शास्त्र वाक्यों में श्रद्धाहीन है एवं जिसका चित्त संशय से आक्रान्त (भरपूर) है अर्थात् जो विश्वासहीन है वह व्यक्ति विशेषभाव से नाश को प्राप्त होता है। संशयात्मा का इहलोक नहीं है, परलोक नहीं है एवं सुख भी नहीं है।

भाष्यदीपिका—अज्ञः—आत्मज्ञानशून्य [शास्त्राध्ययन न करने से आत्मज्ञानशून्य (मधुसूदन)] अश्रद्दधानः च—[गुरुवाक्य में और वेदान्त वाक्य में "यह इस रूप में नहीं हो सकता" इस प्रकार की जो नास्तिक्य बुद्धि है उसे अश्रद्धा कहते हैं। वह (विपर्यय रूप) अश्रद्धा जिसकी है वह अश्रद्दधान है (मधुसूदन)] संशयात्मा च—"यह इस प्रकार नहीं होगा, अवश्य ही दूसरे प्रकार का होगा" इस प्रकार प्रत्येक विषय में जिस व्यक्ति का चित्त संशय द्वारा आक्रान्त (वशीभूत) है उसे संशयात्मा कहा जाता है। ऐसा व्यक्ति विनश्यति—विनष्ट होता है अर्थात् स्वार्थ से भ्रष्ट होता है। मनुष्य जीवन का आत्मसाक्षात्कार करके मोक्षलाभ करना ही परम पुरुषार्थ है। जो अज्ञ है, श्रद्धाहीन है एवं संशयात्मा है वह व्यक्ति कभी भी तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। अतः वह जीवन के परम पुरुषार्थ से सदा के लिए भ्रष्ट हो जाता है। अज्ञव्यक्ति व श्रद्धाहीन व्यक्ति का यद्यपि विनाश होता है तथापि संशयात्मा जैसा विनाश प्राप्त होता है ऐसा अज्ञ व श्रद्धाहीन

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

व्यक्ति विनष्ट नहीं होता है, क्योंकि संशयात्मक व्यक्ति ही सर्वापेक्षया पापिष्ठ है। क्यों पापिष्ठ होता है उसे अब कहा जा रहा है। **संशयात्मनः**—जो संशयात्मा है उसका **अयं लोकः नास्ति**—यह साधारण मनुष्य लोक भी नहीं है, क्योंकि किसी के प्रति विश्वास न रहने के कारण मनुष्य लोक में किसी भी कार्य में उसको शान्ति नहीं प्राप्त होती। **न च परः**—उसका परलोक भी नहीं है अर्थात् परलोक के सम्बन्ध में संशय रहने से परलोक में भी उसका स्वर्गलाभ या मोक्षलाभ संभव नहीं है। शास्त्रविहित धर्मादि कार्यों में एवं यज्ञादि कर्म एवं उसके फल के संबंध में संशय रहने से नियमपूर्वक उन सभी कर्मों का अनुष्ठान करना उसके लिए संभव नहीं है। अतएव उसको स्वर्गादि लोक की प्राप्ति नहीं हो सकती। अथवा विहित कर्मों का अनुष्ठान नहीं करने के कारण चित्तशुद्धि नहीं होती और चित्तशुद्धि के अभाव से तत्त्वज्ञान द्वारा वह मोक्षलाभ प्राप्त नहीं कर सकता। **न च सुखम् अस्ति**—संशयात्मा का भोजनादि जनित कार्यों में भी सुख नहीं है कारण सभी विषयों में उसका चित्त सन्देहाक्रान्त (संशय से व्याकुल) रहता है। [जब भोजनादि व्यापारों में ही सुख नहीं है तब इहलोक व परलोक में किसी प्रकार से उसको सुख प्राप्त नहीं हो सकता, इस विषय पर अधिक क्या कहना है ? अज्ञ एवं अश्रद्धावान् व्यक्ति को परलोक में कल्याण प्राप्ति या मोक्ष नहीं हो सकता किन्तु मनुष्य लोक में उसको आहारविहारादि कार्यों से अर्थात् जागतिक विषयभोगों से सुख प्राप्त हो सकता है। परन्तु जिस व्यक्ति का चित्त सवदा ही एवं सर्वत्र ही संशय द्वारा व्याकुल रहता है उसको इहलोक, परलोक एवं आहारविहार जनित सुख, ये तीनों ही असंभव होने के कारण वह पुरुष सर्वापेक्षया पापिष्ठ है (मधुसूदन)]। संशय ही सभी अनर्थ का मूल है अतः श्रेयस्कामी (मोक्ष कामी) व्यक्ति को संशय कभी भी नहीं करना चाहिए—यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[ज्ञान के अधिकारी का वर्णन करके अब उसके विपरीत अनधिकारी के विषय में आलोचना कर रहे हैं—] **अज्ञः**—गुरु के द्वारा उपदिष्ट अर्थ को न समझनेवाला (अर्थात् गुरु ने जो उपदेश दिया है उसके अर्थ ग्रहण में असमर्थ) और यदि किसी प्रकार गुरु द्वारा उपदिष्ट अर्थ को समझ ले तो भी उसमें **अश्रद्दधानश्च**—श्रद्धाहीन है। और गुरु के प्रति किसी प्रकार की श्रद्धा रहने पर भी **संशयात्मा**—"मुझे साधन की सिद्धि प्राप्त होगी या नहीं", इस विषय में जिसका चित्त संशयाक्रान्त (संशय से व्याकुल है) है वह व्यक्ति **विनश्यति**-विनाश प्राप्त होता है अर्थात्

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अपने स्वार्थ से (मोक्ष ही जीवन का परम पुरुषार्थ है, उस पुरुषार्थ से) भ्रष्ट हो जाता है। अज्ञ, अश्रद्धालु व संशयात्मा इन तीनों में से संशयात्मा सर्वथा (सर्व प्रकार से) विनष्ट हो जाता है चूँकि **संशयात्मनः अयं लोकः नास्ति**—संशयात्मा का इहलोक नहीं है अर्थात् उसको धनार्जन एवं विवाहादि की सिद्धि न होने के कारण इहलोक भी सुखप्रद नहीं होता है और शास्त्रविहित धर्मकर्म न करने के कारण **न परः**—उसका परलोक भी नहीं है अर्थात् परलोक में भी कल्याण प्राप्ति नहीं हो सकती है। **न च सुखम्**—और साथ ही उसको सुख भी नहीं मिलता क्योंकि संशय के हेतु (सब में संशय करने के कारण) विषय भोग का सुख भी उसके लिए संभव नहीं है।

(२) **शंकरानन्द**—"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" अर्थात् 'ब्रह्मविद् पुरुष परमात्मा को प्राप्त करते हैं', 'स्वयं-प्रकाश परमात्मा को जान कर सभी पाश अर्थात् बन्धन से मुक्त हो जाता है', "ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति" (शिव को अर्थात् कल्याणस्वरूप आत्मा को जानकर अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होते हैं), "तमेव विदित्वाऽति-मृत्युमेति" (उसको जानकर मृत्यु का अतिक्रम करते हैं), "य एतद्विदु-रमृतास्ते भवन्ति" (जो इन्हें जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं), "ये विदुर्यान्ति ते परम्" (जो इनको अर्थात् आत्मा को जानते हैं वे पर अर्थात् परब्रह्म को प्राप्त करते हैं), "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" (मुझको अर्थात् परमात्मा को तत्त्व से जानकर तदन्तर मुझमें ही प्रवेश करते हैं) "ब्रह्म-विन्मुक्तो भवति, ज्ञानवत्त्वाद् वामदेवादिवत्" (ब्रह्मविद् मुक्त हो जाता है, ज्ञानवान् होने से, वामदेवादि के सदृश) इत्यादि सैकड़ों श्रुति, स्मृति व युक्तियों द्वारा सम्यग् ज्ञान से ही मोक्षप्राप्ति होती है, यह प्रसिद्ध है। अतएव इस विषय में जो ब्राह्मण एकमात्र मोक्ष की ही कामना करता है उसके लिए अश्रद्धा, संशय अथवा आत्मज्ञान सम्पादन में प्रयत्न का अभाव कभी भी होना उचित नहीं है। यदि ऐसा हो तो उसको मोक्षलाभ नहीं होगा, यही स्पष्ट करने के लिए अत्र कहा जा रहा है—**अज्ञः च**—जो पुरुष मोक्ष के लिए सर्वकर्म त्याग कर मोक्ष के हेतु श्रवणादि एवं श्रवणादि जिससे सिद्ध होता है वही गुरु शुश्रूषा, शम, दम, तितिक्षा एवं तत्परत्वादि (गीता ४।३९) के लिये प्रयत्न कर आत्मज्ञान का सम्पादन नहीं करता वही मोक्षशास्त्र में अज्ञ कहलाता है। **अश्रद्दधानः च**—और जिसका संन्यास में, वेदान्त श्रवणादि में, गुरु में, मोक्ष में (अर्थात् ज्ञान से मोक्ष होता है इस विषय में) अविश्वास रहता है वह अश्रद्दधान अर्थात् श्रद्धाशून्य है। **संशयात्मा च**—और जो संशयात्मा

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

है। ["अपाम सोमममृता अभूम" (मैं सोमपान कर अमृत होऊँगा), "दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते" (दक्षिणाग्नि के उपासक अमृत को भजते हैं) इत्यादि वाक्यों द्वारा कर्म मुक्ति का हेतु है, ऐसा प्रतिपादित हुआ है। फिर "तरति शोकमात्मवित्" (आत्मवित् शोक से उत्तीर्ण होता है), "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" (ज्ञान से ही कैवल्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है), "कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु विमुच्यते" (कर्मद्वारा जन्तु अर्थात् प्राणी बाँधा जाता है, विद्या से प्राणी मुक्त होता है) इत्यादि श्रुति व स्मृति वाक्य द्वारा ज्ञान से ही मुक्ति होती है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। ऐसी अवस्था में कर्म से मुक्ति होती है या ज्ञान से, ऐसा संशय जिसकी आत्मा में (चित्त में) रहता है उसे संशयात्मा कहा जाता है। उक्त प्रकार अज्ञ, श्रद्धाशून्य तथा संशयात्मा व्यक्ति] **विनश्यति**--सम्यग् रूप से शास्त्र का अध्ययन कर (पढ़ कर) भी संशयरूप ग्रह से ग्रस्त होने के कारण नष्ट हो जाता है अर्थात् ज्ञान के फल से भ्रष्ट होकर कभी भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होता। उक्त तीनों की (अज्ञ, अश्रद्धान व संशयात्मा की) मुक्ति नहीं होती है ऐसा प्रतिपादन करके उनमें से संशयात्मक व्यक्ति का दोष अधिक होने के कारण उसको विशेष रूप से कहा जा रहा है। **संशयात्मनः अयं लोकः न अस्ति**—संशयात्मा पापिष्ठों की जो केवल मुक्ति ही नहीं होती इतना ही नहीं बल्कि भविष्य जन्म में उन्हें इह लोक (मनुष्यलोक अर्थात् मनुष्यजन्म) भी नहीं मिलता है। **न परः** (अस्ति)–पर अर्थात् स्वर्गलोक भी उसको प्राप्त नहीं होता। पुरुषों के संशय से ही महापाप की उत्पत्ति होती है एवं यह संशय सभी प्रकार के अनर्थ का बीज भी है। अतएव "यह मेरा अवश्य कर्तव्य है—इस मनुष्य शरीर से ही "मैं संसार-सागर उत्तीर्ण हो जाऊँगा" ऐसा दृढ़ निश्चय करना मुमुक्षु का अवश्य कर्तव्य है। **न सुखम्**— अश्रद्धालु संशयात्मा पुरुष का वैदिक कर्म में एवं सर्वत्र ही श्रद्धा का अभाव रहता है, और श्रद्धाशून्य होकर किये गए कर्म अपना फल प्रदान करने में समर्थ न होने के कारण कर्मों से जिन-जिन लोकप्राप्ति की कामना की जाती है वही-वही लोक (एवं तज्जनित सुख) प्राप्ति की सम्भावना नहीं रहती। संशयात्मा पुरुष को (साधारण) विषयसुख भी प्राप्त नहीं होता कारण उसको आहारादि में भी संशय हो सकता है। इसलिए संशयात्मा पुरुष मनुष्यलोक एवं परलोक दोनों में सुख से वंचित रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि मुमुक्षु यति को प्रयत्न द्वारा आत्मज्ञत्व, संन्यास, गुरु एवं वेदान्त-श्रवणादि में श्रद्धा एव सर्वत्र संशयाभाव का सम्पादन करना चाहिए।

(३) **नारायणी टीका**—जिस व्यक्ति का किसी विषय पर या व्यक्ति

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

पर संशय रहता है उसका उस विषय के एवं व्यक्ति के प्रति श्रद्धा नहीं रह सकती, एवं जिसको श्रद्धा नहीं है उसके लिए किसी विषय के सम्बन्ध में, या व्यक्ति के सम्बन्ध में ज्ञानलाभ करना सम्भव नहीं है, अर्थात् ऐसा संशयात्मा एवं अश्रद्धाशील व्यक्ति सदा अज्ञ रहता है। अतएव संशय ही सभी अनर्थ एवं स्वार्थहानि का मूल है। संशय केवल आध्यात्मिक मार्ग की उन्नति में बाधक होता है ऐसी बात नहीं किन्तु संशय रहने से इस जागतिक लोक में पुरुषार्थ-सिद्धि अथवा सुखभोग एवं परलोक में स्वर्गप्राप्ति—इन तीनों में कोई भी सम्भव नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि संशय रहने पर मनुष्य अश्रद्धावान् होगा अर्थात् किसी की बात में अटल विश्वास नहीं रख सकेगा एवं अश्रद्धावान् होने से सच्छास्त्रादि के पाठ में अथवा सत्संग करने में रुचि नहीं रहेगी। सत्संग यदि प्रारब्धवश हो भी जाय तो उसे समझने का प्रयत्न नहीं होगा। अतएव ऐसा भाग्यहीन व्यक्ति परमार्थ-विषय में (आत्मा के विषय में) अज्ञ रहता है एवं पुनः पुनः संसारगति को ही प्राप्त होता है। संशयात्मा होने से इहलोक में शास्त्रविहित धर्मादि में विश्वास न रहने के कारण उन कर्मों का अनुष्ठान नहीं करते हैं। इसलिए मृत्यु के बाद परलोक में शुभगति प्राप्त नहीं होती। और फिर सबके प्रति संशय रहने से अहोरात्र संशयाग्नि से जलता हुआ संसार के सभी सुख से वंचित होता है। अतएव संशयात्मा महापापिष्ठ है। तत्त्वज्ञान प्राप्त करने से जो परा शान्ति (जिसको जीवन की परमपुरुषार्थसिद्धि या मोक्ष कहा जाता है उस) का लाभ किया जाता है उस तत्त्वज्ञानलाभ करने के लिए जिन विषयों की आवश्यकता है वे ये हैं—(क) विश्वास (संशयरहित बुद्धि), (ख) गुरुवाक्य तथा शास्त्रवाक्य में अचल श्रद्धा, (ग) गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग में स्थिर रहकर संयतेन्द्रिय होकर (शमदमादि सम्पन्न होकर) श्रवण, मनन इत्यादि उपायों से निरन्तर प्रयत्न करना। संशयरहित होने से श्रद्धावान् होता है। श्रद्धावान् होने से ही शास्त्र व गुरुद्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करके ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है (तत्त्वज्ञ होना सम्भव है), यही ३९-४० श्लोक का भावार्थ है।

[ऐसे सभी अनर्थों का हेतु जो संशय है उसकी निःशेष निवृत्ति किस प्रकार से सिद्ध हो सकती है उसी के विषय में अब कहा जा रहा है]—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

अन्वयः—हे धनञ्जय ! योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् आत्मवन्तं कर्माणि न निबध्नन्ति ।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

अनुवाद—हे धनञ्जय ! जो परमार्थदर्शनरूप योग द्वारा सभी कर्म का संन्यास (त्याग) कर चुके हैं एवं तत्त्वज्ञान द्वारा जिनका संशय छिन्न हो चुका है एवं जो सर्वदा आत्मवान् अर्थात् अप्रमत्त (सावधान) रहते हैं, कर्मसमूह उन्हें संसार में आबद्ध नहीं कर सकते ।

भाष्यदीपिका—हे धनञ्जय—हे अर्जुन ! अज्ञान व प्रमादरूप शत्रु का नाश करके तुम भी मोक्षरूप धन का जय करने से कर्मसमूह तुम्हें फिर संसार में आबद्ध नहीं कर सकेंगे, ऐसा कहने के अभिप्राय से यहाँ श्री भगवान् ने धनञ्जय कहकर सम्बोधन किया । **योगसंन्यस्तकर्माणम्**—योग के द्वारा अर्थात् परमार्थ दर्शनरूप योग द्वारा जो तत्त्वज्ञानी धर्म व अधर्माख्य सभी कर्मों को संन्यस्त कर चुके हैं अर्थात् सर्वकर्म का त्याग कर चुके हैं उनको । "सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव" अर्थात् मैं एवं ये सभी दृश्यपदार्थ ब्रह्मस्वरूप ही हैं, इस प्रकार सभी जगत् में एवं अपने में एकमात्र ब्रह्म का दर्शन करने का नाम योग है । वही परमतत्त्वदर्शनरूप योग द्वारा संन्यस्त हुए हैं अर्थात् सम (सम्यग् प्रकार) नि (निःशेष) अस्त (ब्रह्म में ब्रह्मरूप से ही लय) प्राप्त हुए हैं जिनके सभी कर्म [अर्थात् संचित तथा आगामी (भविष्य) सभी कर्म] उनको 'योगसंन्यस्तकर्मा' कहा जाता है ।

[मधुसूदन सरस्वती कहते हैं "योगसंन्यस्तकर्माणम्" शब्द का इस प्रकार का भी अर्थ किया जा सकता है—"जो व्यक्ति योग के द्वारा अर्थात् ईश्वराराधनारूप समत्वबुद्धिरूप योग के द्वारा सभी कर्म को संन्यस्त कर चुके हैं अर्थात् भगवान् को उन सब कर्मों का समर्पण किये हैं उनको] । अब प्रश्न होगा कि 'योगसंन्यस्तकर्म' कब संभव है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि जब तक बुद्धि में कुछ भी संशय रहता है तबतक ऐसा नहीं हो सकता है अतएव **ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम्**—ज्ञान द्वारा [अर्थात् आत्मा (जीव) व ईश्वर के एकत्वदर्शन रूप ज्ञान लाभ करके] जिसका समस्त संशय सम्यग् प्रकार से छिन्न (नष्ट) हुआ है उसे अर्थात् "आत्मा अखण्डरस (आनन्द) स्वरूप है" इस प्रकार दर्शन करके जीव, जगत् व ईश्वर के संबंध में एवं मोक्ष के विषय में जिसका सब संशय निःशेष, निर्मूलित (संशय का मूल अविद्या सहित नष्ट) हुआ है इस प्रकार के विद्वान् को । अब प्रश्न होगा कि कब समझा जायगा कि 'ज्ञानसंछिन्नसंशय' हुआ है ? इसके उत्तर में कहते हैं—**आत्मवन्तम्**—जो अप्रमत्त (अप्रमादी, सतत सावधान) अर्थात् बाह्य विषय की तृष्णा द्वारा जिसका चित्त प्रमादग्रस्त (असावधान) नहीं होता है, जो विषय से विरक्त है तथा जितेन्द्रिय व आत्मा में ही एकाग्रचित्त है उसको

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

आत्मवान् कहा जाता है। ऐसा व्यक्ति ज्ञान द्वारा समस्त संशय छेदन करके परमार्थदर्शन रूप योग द्वारा सर्व कर्म संन्यास (त्याग) करने में समर्थ होता है। श्रुति में भी कहा गया है 'यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते' (कठ० १।३।८) अर्थात् जो विज्ञानवान् है एवं सावधान रह कर जिसका मन सदा ही शुद्धचैतन्यरूप आत्मा में युक्त रहता है, अतः जो स्वयं सर्वदा ही शुद्ध है—वह ही उस पद को प्राप्त होता है जिसको प्राप्त करने से पुनर्जन्म नहीं होता। 'अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्' (कठ० २।२।४) अर्थात् बाह्यविषयों के साथ संग करने पर जो तृष्णा जाग्रत् होती है उस तृष्णारूप प्रमाद से वर्जित होकर एवं सर्व भाव से विरक्त, जितेन्द्रिय व एकाग्रचित्त होकर ब्रह्मरूप लक्ष्य को भेद करना होगा एवं शर जिस प्रकार लक्ष्य वस्तु के साथ एक हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म के साथ एकात्मता प्राप्त करनी होगी। इस प्रकार एकात्मकता प्राप्त पुरुष को। [अथवा जिसके चित्त की वृत्तियों में बाहर एवं भीतर सर्वदा आत्मा ही रहती है (आत्मा से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं), उसको आत्मवान् कहा जाता है। ऐसे पुरुष को (शंकरानन्द)] कर्माणि—यथाक्रम से आत्मवान्, ज्ञानसंछिन्नसंशय एवं योगसंन्यस्तकर्मा होकर जो ब्रह्मनिष्ठ हुआ है वह किसी कर्म को [चाहे वह कर्म लोकसंग्रह के लिए अनुष्ठित हो अथवा शरीर यात्रा के निर्वाह के लिए हो, उसको (मधुसूदन)] आत्मा के (अपने के) कर्म नहीं मानता। वे सब प्रकृति अर्थात् सत्त्व, रज व तम रूप त्रिगुण की ही चेष्टा या कार्य हैं—ऐसा ही वह जानता है। गीता में भी कहा गया है कि 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते' (गीता ३।२८) अर्थात् तत्त्वज्ञ पुरुष की गुणों से उत्पन्न इन्द्रियाँ ही गुणों से उत्पन्न शब्दादि विषयों में प्रवृत्त हैं किन्तु निर्विकार, असंग, निष्क्रिय आत्मा के साथ उनका कोई संबंध नहीं है, ऐसा जानकर कर्म में कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमान का त्याग करके आसक्ति-रहित होकर अवस्थान करता है। अतएव ऐसे तीन विशेषणों से युक्त ज्ञानी को कोई कर्म (कर्मफल) न निबध्नन्ति—संसार में निबद्ध नहीं कर सकता अर्थात् उसके कर्म अनिष्ट (अनभिप्रेत), इष्ट (अभिप्रेत) किं वा इष्टानिष्ट रूप मिश्र फल उत्पन्न कर पुनः शरीर के आरम्भक नहीं होते हैं अर्थात् पुनर्जन्म के हेतु नहीं होते हैं। [जो परमार्थ दर्शन रूप (अर्थात् ब्रह्म व आत्मा का ऐक्यदर्शन रूप) योग द्वारा सर्व कर्म का त्याग कर चुके हैं एवं तत्त्वज्ञान द्वारा जिनके सर्व संशय छिन्न हुए हैं एवं जो सदा अप्रमत्त (सावधान) रहकर आत्मा में ही स्थिर भाव से स्थित रहते हैं ऐसे ब्रह्मविद्

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

पुरुष के सभी कर्म स्वप्नदृश्यवत् अथवा शुक्ति में रजत-भ्रान्ति के समान आभास रूप से (अर्थात् मिथ्या रूप से ही) प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार शुक्तिज्ञान से (शुक्ति का स्वरूप जानने से) रजत दर्शन निवृत्त होता है उसी प्रकार सर्वत्र (कर्ता, कर्म, करण प्रभृति में) एकमात्र ब्रह्मदृष्टि रहने से उसके सभी कर्म नष्ट अर्थात् निर्बीज हो जाते हैं (गीता ४।३७)। अतएव कोई भी कर्म उसके लिये संसार बंधन का हेतु नहीं हो सकता—यही इस श्लोक का तात्पर्य है]।

टिप्पणी (१) श्रीधर--[तृतीय व चतुर्थ अध्याय में उक्त पूर्वापर (पूर्व और उत्तर) भूमिका के भेद से कर्ममयी व ज्ञानमयी दो प्रकार की ब्रह्मनिष्ठा का उपसंहार अब (दो श्लोकों द्वारा) करते हैं—] योगसंन्यस्तकर्माणम्—परमेश्वर की आराधना रूप योग के द्वारा परमेश्वर में ही जिसने सर्व कर्म संन्यस्त (समर्पण) कर दिया है उस पुरुष को कर्म अपने फल के द्वारा नहीं बाँध सकता। ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम्—इसी प्रकार 'आत्मा अकर्ता है', इस ज्ञान से (बोध से) जिसका देहाभिमान रूप संशय छिन्न हो गया है ['मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा नहीं हूँ, देहेन्द्रियों के संघात (पिण्ड) ही मैं हूँ' इस प्रकार अज्ञानजनित संशय जिसका छिन्न हो गया है] उस आत्मवन्तम्—प्रमाद रहित (अप्रमादी) ज्ञानी को भी (आत्मस्वरूप में स्थित पुरुष को भी) कर्माणि—कर्म समूह अर्थात् लोकसंग्रह के लिए किये हुए कर्म अथवा स्वाभाविक कर्म [(इष्ट, अनिष्ट व मिश्रफल उत्पन्न करके] न निबध्नन्ति—(संसार में) आवद्ध नहीं कर सकते।

(२) शंकरानन्द—संशय ही अनर्थ का हेतु है। संशय की निःशेष निवृत्ति कैसे सिद्ध होती है ? ऐसी आकांक्षा होने से श्रुति व युक्ति से उत्पन्न हुए ब्रह्म व आत्मा के एकत्व विज्ञान से ही संशय का नाश होना संभव है, अन्य किसी प्रकार से नहीं, यह सूचित करने के लिए पर (परब्रह्म) एवं अवर के (जीवात्मा के) एकत्व विज्ञान से सम्पूर्ण संशयों का नाश हो जाने से ही ब्रह्मवित् कर्म द्वारा बन्धन को प्राप्त नहीं होता, ऐसा अब प्रतिपादन करते हैं— ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम्—पर और अवर ये दोनों के अखण्डैकरससंदर्शनरूप ज्ञान द्वारा अर्थात् निरन्तर समाधिनिष्ठा से निष्पन्न अप्रतिबद्ध आत्मा व परमात्मा के एकत्वानुभवरूप ज्ञान द्वारा संच्छिन्न अर्थात् निःशेष निर्मूलित हो चुका है सब प्रकार का संशय [मोक्ष कर्म द्वारा प्राप्त होता है या ज्ञान द्वारा, ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त हो तो वह ज्ञान परोक्ष या अपरोक्ष होगा। केवल ज्ञान द्वारा मोक्ष सिद्ध होता है या नहीं इत्यादि सभी प्रकार के संशय] जिसको है उसको, अतएव योगसंन्यस्तकर्माणम्—'समस्त दृश्यजगत् और मैं ब्रह्म ही हूँ'

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

इस प्रकार सब जगत् में एवं अपने में ब्रह्ममात्रत्व दर्शनरूप योग द्वारा संन्यस्त अर्थात् सम्पूर्ण रूप से व्यक्त हुआ है, अथवा सम्पूर्णरूप से ब्रह्म में निः अर्थात् निःशेष अस्त हो गये हैं अथवा ब्रह्मात्मरूप से लय हो गये हैं, संचित एवं आगामी (भावी) सभी कर्म जिसके वह 'योगसंन्यस्तकर्मा' है। ऐसे आत्मवन्तम्—अप्रमत्त (सावधान) अथवा जिसकी वृत्ति का विषय भीतर बाहर सर्वत्र आत्मा ही है, अन्य नहीं वह 'आत्मवान्' है। ऐसे आत्मवान् को अर्थात् सर्वत्र आत्मदर्शी ब्रह्मवित् पुरुष को कर्माणि न निबध्नन्ति—कोई भी कर्म उसे बन्धन करने में समर्थ नहीं होते हैं। ब्रह्मवित् पुरुष के कर्म स्वप्न के समान आभास रूप होते हैं, शरीरयात्रा ही उनका प्रयोजन है, ऐसे देह के चेष्टा रूप कर्म योगाग्नि द्वारा दग्ध होने से निर्वीर्य (शक्ति हीन) होते हैं। अतः वे कर्म ब्रह्मज्ञानी को बन्धन करने के लिये समर्थ नहीं होते हैं। जैसा शुक्ति में शुक्तिदर्शन होने से उसमें आरोपित रजत की भ्रान्ति नष्ट हो जाती है उसी प्रकार सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि होने पर कर्म नष्ट हो जाते हैं अर्थात् उसी अवस्था में कर्म, कर्मफल इत्यादि कुछ भी नहीं रहते हैं। इसके द्वारा यह सूचित होता है कि जिससे कर्मबन्धन न हो उसके लिये ब्रह्मवित् यतियों को योग द्वारा ही (ब्रह्म व आत्मा के एकत्व दर्शन रूप योग द्वारा ही) सर्व कर्म का संन्यास (त्याग) करना चाहिए।

(३) नारायणी टीका—अपना-अपना शास्त्रविहित आश्रम कर्म पालन करके चित्तशुद्धि होने से पहले शास्त्र वाक्य में श्रद्धा उत्पन्न होती है। उसके पश्चात् गुरु-सेवादि में व वेदान्त वाक्यादि के श्रवण में रुचि एवं तदनुसार साधनों में निष्ठा उत्पन्न होती है अर्थात् उनमें तत्पर होता है। जितना ही श्रवण, मनन व निदिध्यासन होता रहे उतना ही इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण विषयों से उपरत होकर आत्मा में संयत (स्थित) होते हैं अर्थात् योगी संयतेन्द्रिय होता है। संयतेन्द्रिय होने से आत्मवान् होता है अर्थात् आत्मा ही, जो सर्वरूप में सर्वत्र विद्यमान है उसका विस्मरण नहीं होता (असावधानतावश भूल नहीं जाता) क्योंकि आत्मा की स्मृति सदा ही उसके हृदय में जाग्रत रहती है। आत्मवान् होने से (आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होने से) तत्त्वज्ञान का उदय होता है। तत्त्वज्ञान से हृदय के सभी संशय (असम्भावना व विपरीत भावनारूप संशय) छिन्न हो जाते हैं अर्थात् भगवान या परमात्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है, एवं वही मेरी तथा सर्वभूत की आत्मा है एवं उस आत्मा से भिन्न और सब कुछ मायिक (मिथ्या) है—इस प्रकार के ज्ञान द्वारा जीव, जगत् व ईश्वर के सम्बन्ध में सभी संशय निवृत्त हो जाते हैं। ज्ञान से सभी

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

संशय नष्ट होने से एवं आत्मस्थिति या ब्राह्मीस्थितिरूप योग लाभ करने से ब्रह्मज्ञ पुरुष के सभी कर्म संन्यस्त (परित्यक्त) हो जाते हैं। अतः कोई कर्म या कर्मफल उसको बद्ध नहीं कर सकते। इस कारण यह सभी प्रकार के संसार बन्धन से मुक्त होता है यही ३९ से ४१ श्लोक का तात्पर्य है।

[पूर्वश्लोक में कहा गया है कि कर्म-योग के अनुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धि होने पर ज्ञान का उदय होता है एवं ज्ञान द्वारा जिसका संशय नष्ट हुआ है ऐसा व्यक्ति पुनः कर्म द्वारा बद्ध नहीं होता कारण उसके कर्म के बीज ज्ञान-रूप अग्नि द्वारा दग्ध हो जाते हैं। अब कहा जा रहा है कि ज्ञानयोग व कर्मयोग के अनुष्ठान में जो व्यक्ति संशयवान् (संशय रखने वाला) है उसका विनाश होता है (गीता ४।४०) अर्थात् संशय ही जीव का महाशत्रु है।]

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

अन्वयः—तस्मात् आत्मनः अज्ञानसम्भूतम् हृत्स्थम् एनं संशयम् ज्ञानासिना छित्वा योगम् आतिष्ठ, हे भारत उत्तिष्ठ।

अनुवाद—अपने हृदय में बुद्धि को आश्रय करके जो अज्ञान है उससे यह संशय उत्पन्न हुआ है। अत एव हे भारत ! इस संशय को सम्यग्दर्शनरूप ज्ञानरूप असि (खड्ग) द्वारा छेदन करके सम्यक् दर्शन का अर्थात् आत्मसाक्षात्कार का उपाय स्वरूप (निष्काम) कर्मयोग का अवलम्बन करो। एवं युद्ध के लिए उठो।

भाष्यदीपिका—तस्माद्—अत एव चूँकि संशयात्मा का संशय रूप प्रतिबद्ध (विघ्न) रहने से कर्मयोग अनुष्ठान करना यथार्थ रूप से सम्भव नहीं होता एवं कर्मयोग का फल जो ज्ञान-प्राप्ति है वह भी उसके लिये असम्भव होता है अतः आत्मनः—अपना अज्ञानसम्भूतम्—अज्ञान अर्थात् अविवेक से उत्पन्न हृत्स्थम्—एवं जो हृदय में (अन्तः करण में) स्थित रहता है अर्थात् बुद्धि को आश्रय करके अवस्थित रहता है (ऐसे संशय को)।

[संशय आत्मनिष्ठ नहीं है (आत्मा का धर्म नहीं है), वह आत्मा से पृथक् है क्योंकि वह आत्मा से विलक्षण (पृथक्) बुद्धि का अवलम्बन करके ही रहता है। अत एव उसका विनाश करना सम्भव है। आत्मा अविनाशी है। संशय यदि आत्मनिष्ठ होता तब उसको दूरीभूत करना असम्भव होता, यही कहने का अभिप्राय है ['अज्ञानसम्भूतम्' एवं 'हृत्स्थम्' ये दोनों विशेषण देने का तात्पर्य यह है कि संशय रूप शत्रु का कारण (उत्पत्ति स्थान) है अज्ञान

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

एवं आश्रय है हृदय या बुद्धि। शत्रु का उत्पत्तिस्थान व आश्रय ज्ञात रहने से उसका अनायास वध (नाश) किया जा सकता है। (मधुसूदन)]

एनं संशयम्—सभी प्रकार के अनर्थ का मूल कारण अर्थात् अपने विनाश का कारण है जो पापिष्ठ संशय, उसको [मोक्ष का साधन ज्ञान है कि ज्ञान से भिन्न अन्य कुछ है, ज्ञान द्वारा मोक्ष होने पर भी परोक्ष ज्ञान द्वारा मोक्ष होता है या अपरोक्ष ज्ञान द्वारा मोक्ष होता है इत्यादि प्रकार के सन्देह को संशय कहा जाता है।]

ज्ञानासिना—शोक-मोहादिरूप दोष आदि को नष्ट कर देते हैं जो, सम्यक् दर्शन उसी को, ज्ञान कहा जाता है। [सम्यक् दर्शन शब्द का अर्थ है अनात्मदेहेन्द्रियादि दृश्य वस्तु से द्रष्टा-आत्मा को पृथक् करके उसी आत्मा का यथार्थ स्वरूप निश्चित करना।] वही सम्यक् दर्शन रूप ज्ञान ही असि (खड्ग) है। उसके द्वारा छित्वा—छेदन करके **योगम् आतिष्ठ**—यदि ज्ञानी हो तब ज्ञान का अवलम्बन करके अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा निश्चय करके अपने निर्विकार अद्वितीय परब्रह्म स्वरूप में अविच्छिन्न भाव से निरन्तर आत्मबुद्धि करके ज्ञाननिष्ठ होओ एवं प्रारब्धवश जो भी कर्म सम्पादित हो उसमें अकर्म का दर्शन करो (गीता ४।१८)। अथवा यदि तत्त्वज्ञानी नहीं हो तो सम्यक् दर्शन का उपाय निष्काम कर्म योग का अनुष्ठान करो। पहले ही कहा है कि तुमने अभी तक तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं किया अत एव कर्मयोग में ही तुम्हारा अधिकार है। निष्काम भाव से ईश्वरार्पण बुद्धि से तुम कर्मयोग का अनुष्ठान करो जिससे चित्तशुद्धि द्वारा सम्यग् दर्शन लाभ करके अज्ञान व अज्ञान से सम्भूत (उत्पन्न) संशय का विनाश कर सको। अर्जुन के मन में प्रश्न हो सकता है अच्छा युद्धादि कर्म त्याग करके भगवान् की प्रीति के लिए यदि मैं अग्निहोत्रादि कर्म करूँ तब क्या मेरा स्वधर्म-पालन नहीं होगा? इसके उत्तर में कहते हैं **भारत**—हे भरतवंशावतंस अर्जुन! तुमने महाप्रसिद्ध भरत राजा के कुल में जन्म लिया है। अतः क्षत्रिय राजा होकर समुपस्थित युद्ध से विमुख होना तुम्हारे लिए शोभनीय नहीं है अर्थात् तुम्हें युद्ध से विमुख नहीं होना चाहिए। यही सूचित करने के लिए यहाँ भगवान् ने 'भारत' शब्द द्वारा सम्बोधन किया। **उत्तिष्ठ**—उठो। अब जो युद्ध के सम्मुखीन (सामने उपस्थित) हुए हो उससे विमुख होने से तुम स्वधर्म से च्युत होगे एवं चित्तशुद्धि के अभाव के कारण सम्यक् दर्शन के (तत्त्वज्ञान के) अधिकारी नहीं हो सकोगे अतः युद्ध के लिए उत्थित होओ (उठो)।

[श्लोक में 'आत्मनः' शब्द का अर्थ है आत्मविषयक संशय (आत्मा के

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

विषय में संशय)। प्रायः ही देखा जाता है कि संशयी पुरुष के संशय का विषय उसकी आत्मा से पृथक् होता है यथा "यह शुष्क वृक्ष है या पुरुष है ? किन्तु इस स्थल में जो व्यक्ति संशय कर रहा है उसका विषय उसकी आत्मा से पृथक् नहीं है अर्थात् जो व्यक्ति संशय करता हैं वह अपनी आत्मा को ही संशय का विषय बनाते हैं।] श्लोक में "आत्मनः" शब्द से यह नहीं सूचित किया गया है कि एक का संशय दूसरे के द्वारा छेदन किया जा सकता है क्योंकि जिस संशय के संबंध में कहा गया (वह "आत्मनः" अपना हैं अर्थात् आत्मविषय का) संशय है। (आत्मविषयक होने से ही अपना कहा जा सकता है)। इस आत्मविषयक संशय को छेदन करना होगा यही "आत्मनः संशय" पद का तात्पर्य है।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—स्वस्यानीशत्वबाधेन भक्तिश्रद्धे दृढीकृते। धीहेतुः कर्मनिष्ठा च हरिणेहोपसंहृता ॥

अर्थात् इस अध्याय में भगवान् ने अपना अनीश्वरत्व बाधित करके जीव की भक्ति व श्रद्धा को दृढ़ किया है अर्थात् परमात्मस्वरूप हरि (श्रीकृष्ण) ही ईश्वर है उनके प्रति जीव को भक्ति व श्रद्धा कर्त्तव्य है, उसे कहा है एवं भगवान् ने आत्मज्ञान के उपायस्वरूप कर्मनिष्ठा का उपसंहार किया है अर्थात् अविद्वान् व्यक्ति के लिये कर्मनिष्ठा भी ज्ञानप्राप्ति का उपाय है, यही कहा है।

(२) श्रीधर—तस्मात् आत्मनः अज्ञानसंभूतं हृत्स्थम् एनं संशयम्—चूँकि संशयात्मा विनष्ट होता है इसलिए आत्मा के (बुद्धि के) अज्ञान से उत्पन्न, हृदय में स्थित, शोकादि के कारणस्वरूप इस संशय को ज्ञानासिना छित्वा—देह व आत्मा के विवेक-ज्ञानरूप खड़्ग द्वारा (तलवार द्वारा) छिन्न करके योगम् आतिष्ठ—परमात्मज्ञान के उपायभूत कर्मयोग का आश्रय कर अर्थात् उसमें स्थित हो। उत्तिष्ठ—एवं तुम जो युद्ध के लिये पहले ही प्रस्तुत हुए थे उसके लिये खड़े होजाओ। 'हे भारत !' इस सम्बोधन के द्वारा श्रीभगवान् यह सूचित कर रहे हैं कि अर्जुन क्षत्रिय होने के कारण युद्ध करना ही उसके लिये धर्मयुक्त है (प्रधान कर्म है)।

पुमवस्थादिभेदेन कर्मज्ञानमयी द्विधा।
निष्ठोक्ता येन तं वन्दे शौरिं संशयसंछिदम् ॥

अर्थात् पुरुष की अवस्था (अधिकार) के भेद से कर्मयोग व ज्ञानयोग दो प्रकार की निष्ठा, जिनके द्वारा इस अध्याय में कहा गया है उन शूरवंशी सर्वसंशयछेदनकारी भगवान् श्रीकृष्ण की मैं वन्दना करता हूँ।

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

(३) शंकरानन्द—जिस प्रकार ब्रह्मवित्तम यति ज्ञान से संछिन्नसंशय होकर एवं योगसंन्यस्तकर्मा होकर (ज्ञानयोग द्वारा सब कर्मों का त्याग कर) कर्मबन्धन से निर्मुक्त होता है उसी प्रकार तुम भी (पूर्वश्लोकोक्त) ज्ञानसंछिन्न-संशय और योगसंन्यस्तकर्मा होकर कर्मनिष्ठ होओ, ऐसा श्रीभगवान् कह रहे हैं—

तस्मात्—चूँकि संशयग्रस्त पुरुष का संशय दोष के कारण कर्मयोग एवं ज्ञानयोग इन दोनों में से किसी एक में भी प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है एवं इसी कारण स्वयं दोनों से ही भ्रष्ट हो जाता है इसलिए हे भारत—हे अर्जुन ! तुम आत्मनः अज्ञानसंभूतम्—आत्मा के विषय में अज्ञान से उत्पन्न अर्थात् अपने अविक्रिय (अविकारी) ब्रह्मात्मत्व का अदर्शनरूप जो अज्ञान है उसी से उत्पन्न हृत्स्थं संशयम्—अपने हृदयस्थित (चित्तगत) संशय को [अर्थात् मोक्ष का साधन ज्ञान है या अन्य कुछ ? परोक्ष ज्ञान से मोक्ष होता है या अपरोक्ष ज्ञान से ? ज्ञानद्वारा अविद्या एवं उसके कार्य की निःशेष निवृत्ति हो सकती है या नहीं ? इत्यादि रूप जो सन्देह चित्त में दृढ़ रूप से जमा है उसको] ज्ञानासिना—ज्ञान ही ('मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अपना निर्विकार अद्वितीय परब्रह्म में अप्रतिबद्ध आत्मप्रत्यय ही) असि (तलवार) है, उसके द्वारा छित्वा—पूर्वोक्त लक्षणयुक्त आत्मा के नाशक संशय को छेदन करके (काट कर) उत्तिष्ठ—उठो (खड़े होओ) एवं उठकर योगम् आतिष्ठ—कर्मयोग का सम्यक् (भली-भाँति) अनुष्ठान करो अर्थात् क्षत्रिय के लिये विहित कर्म जो युद्ध है, उसे करो।

(४) नारायणी टीका—जगत् के सभी मनुष्य शोक या विषादग्रस्त हैं। कई जन्मों के सुकृति के फल से जब मनुष्य संसार को दुःखमय जानकर उन शोक या विषाद से मुक्तिलाभ करने की इच्छा कर परमात्मा के साथ युक्त होने की इच्छा करते हैं तब इस अवस्था को विषादयोग कहा जाता है। ब्राह्मीस्थिति ही सभी शोकों की एकमात्र नाश करने वाली है। किन्तु कामरूप शत्रु (विषय वासना) ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त करने नहीं देता। इसलिए काम को जय करने के लिए निष्कामभाव से भगवदर्पण बुद्धि से स्वधर्मपालन रूप कर्मयोग का आश्रय करना आवश्यक है। प्रथम, द्वितीय व तृतीय अध्याय में यथाक्रम से यही कहा गया है। "भगवान् हैं या नहीं, भगवान् के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है, उसको कर्म अर्पण करने से क्या फल होगा" इत्यादि संशय जब तक रहते हैं तबतक कर्मयोग में उत्साह नहीं रहता। देहेन्द्रिय का संघात आत्मा नहीं है किन्तु भगवान् ही हम सब की आत्मा है (अर्थात् जिसे

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative

हम "मैं" कहते हैं वही शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ही वे भगवान् हैं) एवं उनके लिए ही सभी के कर्म अनुष्ठित हो रहे हैं, यह न जानने से अर्थात् आत्म-विषयक अज्ञान से ही कर्मयोग के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न होता है। इसलिए भगवान् कहते हैं 'आत्मनः अज्ञानसंभूतम्' (यह संशय अज्ञान से उत्पन्न होकर हृद्स्थित है अर्थात् बुद्धि का आश्रय करके रहता है।) इस संशय का ज्ञानरूप असि द्वारा छेदन करना होगा। चित्तशुद्धि न होने से गुरुमुख से आत्मतत्त्व के विषय में उपदेश प्राप्त होने से भी अपरोक्ष ज्ञान ('मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का आत्मसाक्षात्कार जनित ज्ञान) नहीं होता। तथापि श्रद्धा, सेवा, परिश्रम द्वारा गुरुमुख से श्रवण करते हुए आत्मा के सम्बन्ध में परोक्षज्ञान (ब्रह्म या भगवान् हैं एवं यह भगवान् ही सभी की आत्मा हैं यह ज्ञान) दृढ़ होता है। उस परोक्षज्ञान द्वारा कर्मयोग में उत्साह होता है एवं उससे चित्तशुद्धि होने पर अपरोक्ष ज्ञान में अधिकार होता है। अतः भगवान् कहते हैं—'उत्तिष्ठ, योगमातिष्ठ' अर्थात् जबतक परोक्षज्ञान नहीं उत्पन्न होता तब तक तुम मेरे ही उस (जिनका तुमने शिष्यत्व स्वीकार किया है मैं परमेश्वररूपी वासुदेव नामक गुरु के) वाक्य में श्रद्धा रखो एवं श्रवणजनित ज्ञान में विश्वास व श्रद्धा रखकर सभी संशय दूर करो तथा कामरूप शत्रु को जय करने के उद्देश्य से कर्मयोग के लिए बद्धपरिकर (दृढ़ संकल्प) होकर आलस्य या क्लीवता का परित्याग करके निष्कामभाव से स्वधर्मपालनरूप कर्मयोग का अनुष्ठान करो। ज्ञान बिना संशय दूर नहीं होता है। संशय-निवृत्ति न होने तक कर्मयोग में शिथिलता एवं स्वधर्म-पालन में विमुखता रहेगी ही। इसलिए श्रीभगवान् ने प्रिय शिष्य अर्जुन को चतुर्थ अध्याय में ज्ञानयोग का उपदेश दिया।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

[शंकराचार्य—इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्य-पादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये ब्रह्मयज्ञप्रशंसानाम चतुर्थोऽध्यायः।]

CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative



CC-0. Ankur Joshi Collection Dehradun. An eGangotri Initiative



CC-0. Ankur Joshi Collection Gujarat. An eGangotri Initiative